अहंवेद

लेखक

रामाश्रय तिवारी

प्रकाशक

श्री भुवनेश्वरी विद्या-प्रतिष्ठान

भुवनेश्वरीपीठ, बिहसड़ा, मिर्जापुर (उत्तर प्रदेश)

******

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कर रुपिणम्।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते।।
वन्दे शिवं गुरुं साक्षात् दक्षिणामूर्तिरुपिणम्।
सृष्टिस्थितिलयाः तुर्यः यस्मिन् स्वाभाविकी गतिः।।

******

प्रथम संस्करण - 2019
© श्री भुवनेश्वरी विद्या-प्रतिष्ठान
प्रकाशकः
श्री भुवनेश्वरी विद्या-प्रतिष्ठान
भुवनेश्वरीपीठ, बिहसड़ा, मिर्जापुर (उत्तर प्रदेश)

मूल्य :

अनुक्रमणिका

1.	भूमिका	1
	भाग - 1	
2.	अहंवेद	4
	भाग - 2	
3.	वैदिक कर्मयोग	21
4.	धर्म पालन क्यों?	24
5.	अध्यात्म और धर्म में अधर्म	29
6.	धर्माचरण–समस्याएँ और समाधान	36
7.	स्वधर्म एवं संस्कृति	43
8.	सामाजिक परिवर्तन	46
9.	गीता मे कर्मयोग	50
10.	भक्तियोग	53
11.	भारतीय समाज की संरचना और धर्म	55
12.	ईश्वर की कल्पना	58
13.	वर्णाश्रम व्यवस्था और धर्म	65
14.	ज्ञान योग	68
15.	स्फुट - तथ्य	70
16.	सामयिक धर्म और पुरुषार्थ	72
17.	जीवन्मुक्ति	75
18.	अन्तःकरण और उसकी साधना	78
19.	विवाह संस्कार	80
20.	और्ध्वदैहिक संस्कार	82
21.	गीता की मुख्य शिक्षा	84

22.	विज्ञान और दर्शन	87
23.	पुराणों की प्रासंगिकता	89
24.	मनुस्मृति की व्यावहारिकता	92
25.	शिक्षा का उद्देश्य एवं स्वरूप	96
26.	स्वधर्म	100
27.	आध्यात्मिक शक्ति	104
28.	श्रद्धा और शक्ति	111
29.	विश्वास	115
30.	दान	119
31.	वैदिक धर्म उसके मूल स्तम्भ	123
32.	जाति व्यवस्था की प्रासंगिकता	130
33.	दैव और पुरूषार्थ	137
34.	न्याय की अवधारणा	142
35.	उपासना	148
36.	अस्पृश्यता का शास्त्रीय एवं व्यावहारिक पक्ष	153
37.	स्वदेशी की भावना	157
38.	लोकनीति एवं राजनीति	160
39.	भारतीय समाज का भविष्य : धर्म की भूमिका	163
40.	हिन्दुत्व के लक्षण	166
41.	मानवता की परिभाषा	172
42.	जीवन की परिभाषा	175
43.	अर्थ का महत्व और उसकी सीमा	181
44.	स्वधर्म निर्धारण की समस्या	186
45.	राजधर्म का परिसीमन	191
46.	लोक-जागृति के लिए शिक्षा का स्वरूप	199

47.	धर्म निरपेक्षता की व्याख्या	204
48.	मूल्यों का तारतम्य	207
49.	धर्मों की तात्त्विक एकता	212
50.	सामाजिक प्रतिष्ठा का मानदण्ड	216
51.	ब्रह्मवर्चस्व की प्रतिष्ठा	221
52.	वर्ण-व्यवस्था में जाति-व्यवस्था का स्थान	224
53.	मनुवादी व्यवस्था का विकल्प	228
54.	ब्राह्मण की परिभाषा एवं उसकी सामाजिक उपयोगिता'	232
55.	पूँजी और विनयोग	238
56.	कलम की ईमानदारी	241
57.	महापुरुषों की जीवनी	245
58.	गुरु तत्व	250
59.	कर्मोपासनाज्ञानकाण्डाः	254
60.	आश्रमव्यवस्थायाः योगदानम्	255
61.	यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि	257
62.	नास्ति तत्वं गुरोः परम	259
63.	भारतीया संस्कृतिः	260
64.	धर्मोरक्षतिरक्षितः	262
65.	जीवन पथ कविता	263

भूमिका

'यस्मिन् ज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति'–यह उपनिषद वाक्य बताता है कि ब्रह्म या आत्मतत्व के ज्ञान से सब कुछ ज्ञात हो जाता है। भूत, भविष्य, और वर्तमान का भी सब कुछ एक साथ ज्ञात हो सकता है तो उस तत्व के जानने की जिज्ञासा सब को स्वाभाविक है। वह तत्व ही अहंवेद है यानी सर्वस्व का ज्ञापक है। उसी तत्व को जानने के लिए शास्त्रों में उपलब्ध सामग्री को अति संक्षेप में यहाँ लिखा गया है। उस तत्व का ज्ञान बतानेका प्रयास इस कृति में है अतः इसका भी नाम अहंवेद रक्खा गया।

व्यक्ति और समाज दोनों को शिक्षित करने के उद्देश्य से शास्त्रों की रचना होती है। व्यक्तियों के समुदाय से समाज बनता है। संस्कृति से वह विकसित होता है। राजा या शासन से समाज सुरक्षित होता है। यह इस लोक की सामान्य संचालन प्रणाली है। व्यष्टि के विषय में शास्त्र ज्ञान के साथ ही समष्टि के विषय में भी अंश जोड़कर लोकज्ञान को सम्पूर्णता प्रदान की गयी है, जिससे व्यावहारिक दृष्टि से भी ग्रन्थ का नाम सार्थक हो सके।

जीवन की साधना जितनी आवश्यक है उतनी ही आवश्यकता मृत्यु को संवारने की है। जैसा वर्तमान होता है उसी तरह का भविष्य बनता है। यह प्राकृतिक नियम है। जीवन को ठीक ढंग से जीने की कला तथा उसका विज्ञान जिसे ज्ञात है उसकी मृत्यु भी तदनुसार होगी। सुकरात के जीवन और मृत्यु के उदाहरण से उसे समझाया गया है। निर्भय व्यक्ति एक बार मरता है, भयभीत एवं संशयशील रोज मरता है। निर्भय रहने के लिए सन्मार्ग पर चलना, आत्मज्ञान, त्याग और असंग जैसे गुणों को विकसित करना जीवन का लक्ष्य है। यह सब सदाचार एवं ज्ञान की साधना से मिलते हैं। ग्रन्थ में दोनों के विषय में सामग्री है।

इस ग्रन्थ को दो भागों में विभक्त किया गया है। प्रथम भाग में जीवन, जगत, ईश्वर का बोध तथा उनकी साधना को व्यक्ति और समाज की दोनों दृष्टियों से निरूपित किया गया है। दूसरे भाग में विभिन्न विषयों पर शिक्षाओं के उद्देश्य से तथा समस्या के निराकरण एवं जिज्ञासा की पूर्ति के लिए लिखे गये लेखों का संग्रह है। कुछ लेख स्वतंत्र रूप से लिखे गये हैं तथा अधिकांश लेख विद्वानों की गोष्ठियों में लिये गये निर्णय के आधार पर लिखे गये हैं।

श्री भुवनेश्वरी विद्या प्रतिष्ठान के काशीस्थ शाखा कार्यालय पर वर्ष

1985 से 2000 के बीच विद्वदद्गोष्ठियों का आयोजन प्रतिमाह किया जाता था। पन्द्रह वर्षों में लगभग 150 गोष्ठियाँ हुई थीं। इन गोष्ठियों में काशी के मूर्धन्य विद्वान, पंडित, वैद्य, समाज सेवी, साधक एवं चिंतक तथा लेखक और कवि सम्मिलित होते थे। गोष्ठी में उपस्थित होकर अपनी बात कहना एक गौरव की बात हो गयी थी। आचार्य बलदेव उपाध्याय (पद्मभूषण) आचार्य पट्टाभिराम शास्त्री (पद्मभूषण), प्रो0 राजाराम शास्त्री (पद्विभूषण) आचार्य राम प्रसाद त्रिपाठी, पं जगन्नाथ त्रिपाठी, वैद्यराज पं. चदुनन्दन उपाध्याय, सीताराम कवि साधक, पं0 मार्कण्डेय ब्रह्मचारी, कवि बेधड़क बनारसी, श्री चन्द्रशेखर मिश्र तथा दर्जनों प्रोफेसर एवं उच्च पदस्थ लोगों ने बहुधा गोष्ठियों में भाग लिया था। निर्धारित विषय पर चर्चा होती थी तथा उसके सारांश को लिखकर, लेख के रूप में समाज धर्म एवं दर्शन, पत्रिका में प्रकाशित किया जाता था। यह गोष्ठियाँ काशी के इतिहास में एक अध्याय जोड़ चुकी है। इनसे प्राप्त सामग्री उपादेय है। इन लेखों का संग्रह करके इस पुस्तक के द्वितीय भाग में स्थान दिया गया है। विभिन्न विषयों को प्रकाशित करने के कारण यह लेख भी 'अहंवेद' के आवश्यक अंग हैं।

यह पुस्तक श्री भुवनेश्वरी विद्या प्रतिष्ठान के उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक होगी। इस पुस्तक में लोकनीति और उसके अनुसार लोकतंत्र की स्थापना के लिए सामग्री भी एकत्रित की गई है। यहाँ के लिए भारतीय लोकतंत्र के नाम से शासन-प्रणाली अनुकूल होगी। प्रजातन्त्र कहने से राजा और प्रजा की ध्वनि आती है, अतः लोकतंत्र ही उचित नाम है। भारतीय लोकतंत्र यहां की संस्कृति, परम्परा तथा मूल्यों को सुरक्षित रखते हुए, वर्तमान वैश्विक समस्या एवं वृहत्समाज की सदस्यता के लिए योग्य हो, यह आवश्यक है। इस दृष्टि से समन्वय का प्रयास है। न्याय व सत्य से अर्जित शक्ति होने पर हम देशवासियों को लोकनीति से तथा बाहर कूटनीति से प्रभावित करते हुए विश्वगुरू बन सकते हैं। अपने यहाँ राजतंत्र में भी लोकतंत्र ही मान्य था। उदाहरण के रूप में, भारत की संस्कृति एवं राजधर्म का आदर्श जानने के लिए, रघुवंशी राम एवं पुरुवंशी भरत स्मरणीय हैं। लोक को सन्तुष्ट करने के लिए राम ने सीता का त्याग किया। पिता को सन्तुष्ट करने के लिए राज्य का त्याग किया। पहला लोकतंत्र का उदाहरण है, दूसरा धर्मतंत्र है। राम को बनवास देते समय लोगों ने दशरथ को अपशब्द मे धिक्कार 'धिक् त्वां दशरथम्' कह दिया, राजा को यह सुनना पड़ा। यह लोकतंत्र में ही संभव है। दूसरा उदाहरण दुष्यन्त के पुत्र भरत का है, उन्होनें एक योग्य व्यक्ति को अपना उत्तराधिकारी इसलिए बनाया क्योंकि उनके पुत्र राजधर्म-पालन के लिए योग्य नहीं थे। इसी अद्भुत निर्णय के कारण यह देश भारतवर्ष के नाम से विख्यात है।

इस पुस्तक में व्यक्तिगत साधना के साथ ही सांस्कृतिक पुनरुत्थान द्वारा लोकतंत्र की स्थापना तथा राष्ट्र निर्माण की सामग्री का भी बीजारोपण किया गया है। इससे व्यक्ति समाज और राष्ट्र सभी का उद्धार संभव है। अध्यात्म, धर्म, समाजशास्त्र व राजनीति सभी के लिए सामगी प्रदान करने के कारण यह पुस्तक अहंवेद के नाम से अभिहित है।

वाग्देवी भुवनेश्वरी की कृपा जन्मजनमान्तर बनी रहे जिससे शास्त्र-ज्ञान एवं तदनुसार साधना हो सके, यही कामना है। इस कृति के लिए प्रेरणा देने वाली वाग्देवी भुवनेश्वरी ही हैं। जिज्ञासु एवं विद्वान लोगों को इसे पढ़ने के लिए भी भगवती प्रेरित करें।

सत्संग प्रदान करके विषयों का विवेचन करने वाले विद्वानों का आभार विनम्रतापूर्वक स्वीकार करता हूँ।

(रामाश्रय तिवारी)

भाग - 1
अहंवेद

वन्दे शिवं गुरुं साक्षात् दक्षिणामूर्ति रूपिणम् ।
सृष्टिस्थितिलयास्तुर्यः यस्मिन् स्वाभाविकी स्थितिः॥
इष्टं गणपतिं बन्दे विघ्नानां विघ्नकारकम् ।
मंगलानां विधातारं शिवं विश्वगुणाकरम् ॥
भुवनेशीं हि वाग्देवीम् आद्यां शक्तिं नतोस्म्यहम् ।
शिवानन्याऽपि प्रत्यक्षं मातृरुपेण संस्थिताम्॥
कुलदेवं अच्युतं विष्णुं प्रणतोऽस्मि यथाबलम् ।
योगक्षेमस्य कर्त्तारं भर्तारं च त्रिलोकिनम् ॥
ऋषीन्देवांश्च पितृन् विभूतीन् ईश्वरस्य च।
सश्रद्धया नमस्कृत्य करोमि ग्रन्थ विस्तरम् ॥

आदि में ग्रन्थ के प्रणयन के लिए, अनुबन्ध चतुष्टय का विवेचन करना स्थापित परम्परा है। इसके द्वारा लेखक स्वयं अपनी सीमा निर्धारित करता है तथा पाठक को ग्रन्थ पढ़ने या न पढ़ने के निर्णय में सहायता मिलती है।

अनुबन्धचतुष्टय है–अधिकारी, विषय, सम्बन्ध, प्रयोजन। अधिकारी वह है जो ग्रन्थ को समझ सके और इसमें निहित विषय को जानकर जीवन की साधना के लिए उपयोगी समझता हो। ग्रन्थ में विवेचनीय सामग्री (प्रमेय) को विषय कहते हैं। ग्रन्थ और विवेचनीय प्रमेय में बोध्य-बोधक भाव होना आवश्यक है। इसको सम्बन्ध कहते हैं। अभीष्ट पुरुषार्थ या इसके सहायक अंग की सिद्धि ही प्रयोजन है।

प्रकृत ग्रन्थ का अधिकारी वह है जो नैतिकता और समाचार को सभी मूल्यों का आधार मानता है और कदाचार तथा मिथ्याचार का व्यक्ति और समाज के लिए परम शत्रु समझता है, जिसमें जीवन, जगत और ब्रह्म को जानने की उत्कण्ठा है, जो शास्त्रों का समुचित अर्थ समझने में रुचि रखता है तथा समाज को कुछ देने की इच्छा रखता है।

विषय भी अधिकारी के अनुरूप होता है। व्यक्ति तथा समाज का अभ्युदय तथा निःश्रेयस् धर्म के नियंत्रण में ही संभव है। देश-काल के अनुरूप धर्म, स्वधर्म और सार्वभौम धर्म, सहज धर्म, कल्पित धर्म जैसे भेदों को जानते हुए धार्मिक बने रहने की बातों का निरूपण ही विषय है।

ग्रन्थ और विषय में सम्बन्ध रखने का प्रयास हर लेखक करता है। ग्रन्थ जिस विषय और उद्देश्य के लिए है उसी का बोध कराने के लिए प्रयास किया जायेगा। सर्वथा असम्बद्ध या विपरीत प्रकरण नहीं उठाना प्रतिज्ञा पालन है।

प्रयोजन के बिना कोई कार्य अल्पबुद्धि व्यक्ति भी नहीं करता है। इस श्रम का प्रयोजन है कि वर्तमान में लोग कैसे धार्मिक बने रहें, पाखण्डों से मुक्ति कैसे मिले तथा धर्मपालन का प्रत्यक्ष फल दिखाई पड़े। ऐसे विषयों को समाज में प्रचारित करना। श्रद्धा और धार्मिक आस्था को पैदा कर देना तो कठिन है लेकिन जिसमें यह हैं उन्हें विचलित होने से बचाना भी प्रयोजन है। मूल्यों, मान्यताओं की पुनः स्थापना तथा स्थापित मूल्यों के आधार पर व्यक्ति और समाज की प्रतिष्ठा सर्वोपरि प्रयोजन है।

जीवन क्या है? इसका कोई उद्देश्य है या नहीं, इसकी घटनाओं में पूर्वापर सम्बन्ध है या नहीं, इसे अच्छा या बुरा बनाने में व्यक्ति समर्थ है या नहीं आदि प्रश्न हैं जिनके विषय में अनेक तरह के निर्णय लिये जाते हैं। सभी के लिए पर्याप्त तर्क हैं लेकिन तर्कों को सीमित रख कर शास्त्रीय आदेशों तथा व्यावहारिक उपयोगिता को दृष्टि में रखकर ही यहाँ जीवन का आकलन किया जायेगा। जीवन की साधना के विविध आयामों पर विचार तदुपरान्त सम्भव है। चैतन्यगर्भित एक अज्ञानरूप पदार्थ जीव है। उसकी यात्रा को जीवन कहते हैं। इस यात्रा में भी देश, काल, स्थिति और गति सभी की अवश्यम्भाविता है। इस यात्रा में सुख-दुःख की अनुभूति तथा गन्तव्य तक पहुँचने और भटकने की बातें भी होती हैं। जीव अनादि काल से यात्रा पर है और अनिश्चितकाल तक इसे रहना पड़ेगा। पड़ाव को यात्रा का अन्त नहीं कहा जा सकता है। इस यात्रा का अन्त तो अज्ञान के नष्ट होने, शुद्ध चैतन्य स्वरूप होने पर ही संभव है।

जीवन के एक अत्यन्त अल्पांश को ही जीवन मानना संकुचित दृष्टि है। देश काल की तरह जीवन भी अनन्त है। अतः सौ पचास वर्ष की आयु और पद प्रतिष्ठा धन आदि इस जीवन के नगण्य अंश हैं। फिर भी चूंकि जीवन का अन्त संभव है अतः एक क्षण तथा छोटी से छोटी घटना का विनियोग आगे के लिए उपयोगी हो सकता है।

एक जन्म और मृत्यु के बीच की वर्तमान अवधि को जीवन काल मानने पर व्यावहारिक चिन्तन अधिक सुगम है।जैसे जीव की अनादि यात्रा का अन्त मोक्ष से है उसी तरह व्यावहारिक जीवन काल का अन्त मृत्यु से है। यदि जन्म हो किन्तु मृत्यु न हो तो अमर और मृत्यु हो किन्तु जन्म न हो तो जीव मुक्त हो जाता है। लेकिन ऐसा शरीर भाव से संभव नहीं है। जन्म लेने पर मरना और मरने पर जन्म लेना शरीर भाव से अवश्यम्भावी है। अतः जीवभाव से भी जन्म और मृत्यु का विचार ऋषियों ने किया है। वर्तमान जन्म में ही ज्ञान निष्ठ हो

जानेपर प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता है, अमरत्व मिल जाता है (नहितस्य प्राणा उकायन्ते''), पुनर्जन्म का प्रश्न नहीं उठता है। अतः वर्तमान जीवन का बड़ा महत्व हे। 'इह चेदवेदीथ सत्यमस्ति नो चेद वेदीन्महती विनष्टिः' इसी जीवन काल में ज्ञान हो जानेपर जीवन सार्थक हो जाता है, नहीं तो महान विनाश होना ही है। पुनर्जन्म की सम्भावना ही महाविनाश है। पूरा जीवन मृत्यु की तैयारी है। मृत्यु परीक्षा का समय है। इस परीक्षा का फल केवल जीव ही जान पाता है।

व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर जीवन की उतनी परिभाषाएँ बनती हैं जितने व्यक्ति हैं। अपने लिए अभीष्ट मूल्यों और उनके प्रक्रम भेद से प्रत्येक वयक्ति दूसरे से भिन्न हैं। जीवन का उद्देश्य, उसका मूल्य ही व्यक्ति का जीवनसार है। 'यो यच्छ्रद्धः एव सः'। आयु की सीमा में उन्हीं मूल्यों की उपासना (सेवन) उसका जीवन है। किन्तु इस अन्तता में भी एकता है। सभी प्राणी अनन्त सुख चाहते हैं यह ध्रुव सत्य है। इसी अंश में एकता है। सुख की खोज में ही विविध उपक्रम करते हुए दुःख भी उठाते हैं। दुःखों से मुक्ति को भी सुख ही माना जाता है। धनी न होने पर भी ऋणी न रहना सुख है। बुद्धि और विवेक के अभाव में गलत निर्णय लेने के कारण सुख प्राप्ति नहीं होता है और उपरोक्त दुख बढ़ता है। लेकिन उद्देश्य तो सुख ही है। किन मूल्यों को छोड़कर, कितना मूल्य चुकाकर व्यक्ति थोड़ा सा सुख अर्जित करता हैयह भी उसके बुद्धि और विवेक पर आधारित है। तात्कालिक अल्प सुखों के लिए दीर्घकालिक सुखों को त्यागने वाले अकुशल लोग अधिक हैं। वास्तविकसुख तो भूमा (अनन्त) ही है। सुख की श्रेणी और आधारभूत मूल्यों को मानदण्ड बनाकर जीवन की अनेक परिभाषायें बन सकती हैं। विचारवान व्यक्तियों के लिए जीवन की एक ही परिभाषा बन जाती है। सुखायु-दुखायु, पुण्यायु, पापायु आदि के भेद से आकलन पहले भी हुआ है। इस दृष्टि से वर्तमान जीवन की परिभाषा बनती है। एक अवधि (जन्म-मृत्यु के बीच) में सुख प्राप्त की सामर्थ्य प्रापत करना, उस सामर्थ्य का उपयोग, मूल्यों की रक्षा-पूर्वक आजीवन सुखी रहना तथा मूल्यों की रक्षा में दुख को भी सुख मानकर अविचलित रहते हुए, मृत्यु को संवारना जीवन है। किन्तु इसके विपरीत आचरण से जिन्दा रहना भी जीवन है। प्रथम प्रशंसनीयजीवन हैदूसरा निन्दनीय। जीवन आचरण में निहित है। त्याग से यह उत्कृष्ट बनता है, लोभ-भोग से निकृष्ट बनता है। सर्वस्व त्यागने पर अनन्त ज्ञान और भूमा सुख भी इसी जीवन का फल हो सकता है। अतः वर्ष के आठ माह में ऐसा कार्य करे कि वर्षा में घर में सुखी रहसके। आयु के पूर्व काल में ऐसा जीवन बनाये कि अन्त में सुखी रहकर शान्तभाव से प्रयाण कर सके। मुक्ति या उच्चतर पुनर्जन्म ही सफल लौकिक जीवन है।

अपने पुत्र और शिष्य के माध्यम से व्यक्ति अपने ही जीवन का विस्तार करता है। इस विस्तार से उसे सुख मिलता है। वह अपने मूल्यों की वर्तमान में तथा भविष्य में रक्षा का प्रबन्ध करके सुखी होता है। विपरीत स्थिति में दुखी

होता है। इस तरह सुख-दुःख तथा मूल्य-स्तर ही जीवन के आकलन का आधार है। सुख की खोज ही जीवन का उद्देश्य है। उद्देश्यहित, मात्र जनम-मृत्यु के बीच की अवधि को जीवन मानना अनुपयोगी है।

जीवन की परिभाषा में आचरण, मूल्य तथा सुख को बहुत महत्व दिया गया है। आचरण ही गति है। सीधे मार्ग से चलने पर दूरी कम से कम होती है। सीधा मार्ग ही सन्मार्ग है। बुद्धिसम्मत, निश्छल तथा सत्य का आचरण ही सन्मार्ग है। सुख के विषय में पीछे कुछ कहा जा चुका है। अज्ञान और निद्रा में भी सुख है किन्तु ज्ञान और जाग्रत के सुख से यह बाधित हो जाते हैं। अबाध सुख की खोज जीवन में अभीष्ट है। यह जीवन मूल्यों पर आधारित होता है। अतः मूल्यों के विषय में कुछ विशद् विवेचन प्रासंगिक है।

पुरुषार्थ या अभीष्ट को मूल्य कहते हैं। पुरुषार्थों को सिद्ध करने में सहायक करणों को भी मूल्य कहते हैं। इस तरह मूल्य अनेक हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष पुरुषार्थों के साधन के करण अलग-अलग हैं। अर्थ बाह्य साधनों पर, काम मानसिक साधनों पर और धर्म बौद्धिक साधनों पर निर्भर करते हैं। मोक्ष के लिए सभी साधनों का त्याग ही साधन है। अपने स्वभाव और क्षमता के अनुसार तथा तदनुसार करणों का चयन करने पर व्यक्ति सफल होता है। खेलकूद, नाच गान, नाटक आदि में रुचि रखने वाले मनः प्रधान होते हैं। उनमें बुद्धितत्व, दुर्बल होता है। मनोरंजन उनका स्वभाव होता है। वही उनके जीवन का आधार होता है। ऐसे लोग हीन कोटि के तात्कालिक मूल्यों के उपासक होते हैं। किन्तु स्वभावगत होने के कारण उनके लिए काम और अर्थपरक मूल्य ही पसन्द होते हैं। अन्यत्र ये सफल भी नहीं हो सकते। धर्म को मूल्य मानने वाले स्वयं को तथा समाज को कुछ स्थायी तत्व प्रदान करते हैं। मोक्ष को मूल्य मानने वाले सनातन मूल्यों की खोज करते हैं। वे ज्ञान वैराग्य के द्वारा अपना तथा लोक का कल्याण करके परम सुख प्राप्त करते हैं। एक ही जीवन में अनेक मूल्यों का सम्मिश्रण भी बहुधा होता है। उनमें जो मूल्य प्रधान तथा आदि से अन्त तक उपासित होता है वही मुख्य होता है, अन्य गौण होते हैं। मूल्यों के आधार पर ही व्यक्तित्व का आकलन होना चाहिए। किसी भी मूल्य के उपासक का यह जीवन सुखकर या सार्थक हो सकता है। जो किसी मूल्य को नहीं प्राप्त कर सके उनका जीवन नाममात्र के लिए जीवन है। इसीलिए पाखण्डियों का जीवन स्वप्नवत् निरुद्देश्य हो जाता है।

मूल्यों की उपासना से दृष्ट तथा अदृष्ट सुख होता है। बाह्य दृष्टि से उदात्त मूल्यों के उपासक कष्ट में भी देखे जाते हैं। किन्तु वे दुखी नहीं, सुखी रहते हैं। सही मूल्यों को आधार बनाने पर सुख अवश्यंभावी है। गलत मूल्यों को बनाने

पर दुःख अवश्यंभावी है। गलत आधार पर आरम्भ और बाद में सही आधार का प्रदर्शन पाखण्ड है और दुखकर ही होता है।

जीवन स्वयं भी एक मूल्य है। इस मूल्य का मूल्य सुख और कीर्ति रूप में प्राप्त होता है। महा राणाप्रताप, शिवाजी, गुरु तेग बहादुर सिंह, गोविन्द सिंह, चन्द्रशेखर आजाद, भगत सिंह, ईसा, सुकरात आदि की जीवनी से जीवन का मूल्यत्व स्पष्ट है। सुकरात को जब फांसी मिलनी निश्चित हो गयी तो उनके शिष्यों ने जेलर से मिलकर गोपनीय योजना बनाया और सुकरात को भाग कर जान बचाने का आग्रह किया। उस समय सत्यवीर सुकरात ने जो कहा वह अमर वाक्य है। उसने भागने की बात अस्वीकार करते हुए कहा जीवन का मूल्य है। जब अधिकतम मूल्य मिले, इसे दे देना चाहिए।इस समय फांसी होने पर जीवन का अधिकतम मूल्य मिल रहा है। इस सुख की तुलना में अन्यसुख हीन है। अतः उसने मृत्यु का वरण करके मूल्य की रक्षा किया तथा जीवन का उच्चतम मूल्य पाकर अमर हो गया। सभी बलिदानियों का यही सुख तथा जीवन है।

जीवन क्रियाओं की श्रृंखला है। जन्म से मृत्यु तक व्यक्ति कुछ न कुछ करता रहता है। बाह्य क्रियाओं के बन्द रहने पर भी अन्तःकरण की क्रियायें चलती रहती हैं। इसीलिए जीवन को पंचकोश के रूप में भी जाना जाता है। आत्मा जिन पाँच आवरणों में रहता है उन्हें पंचकोश कहते हैं। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय पांच कोश हैं। अन्नमय कोश में पंचभौतिक शरीर, स्थूल कर्म इन्द्रियां एवं ज्ञान इन्द्रियाँ मानी जाती हैं। प्राणभय कोश पाँच कर्म इन्द्रियों और प्राणों को मिलाकर होता है। मनोमय कोश पाँच ज्ञान इन्द्रियों के साथ मन को मिलाकर होता है, विज्ञानमय कोश पाँच ज्ञानेन्द्रियों के साथ बुद्धि के मिलने से होता है। आनन्दमय कोष सत्व प्रधान अविद्या से उपहित चैतन्य है। सात्विक होने से इस अविद्या में भी आनन्द होता है। किन्तु यह भी आत्म तत्व का आच्छादक होने से कोश है। कोश का अर्थ है किसी वस्तु को आच्छादित करके रखने का स्थान। इन कोशों के जानने के साथ ही स्थूल सूक्ष्म एवं कारण शरीर को जानना भी आवश्यक है। अन्नमय कोश को स्थूल शरीर कहते हैं। प्राणमय, मनोमय एवं विज्ञानमय कोशों को मिलाकर सूक्ष्म शरीर बनता है। आनन्दमय कोश वासनाओं को सुरक्षित रखने के कारण ही कोश है यह कारण शरीर है। सात्विक अज्ञान, पंचकोषों को पार करने या तीनों शरीरों का नाश होने पर जीव की यात्रा समाप्त होती है। इस यात्रा का कर्त्ता जीव विज्ञानमय कोश से उपहित चैतन्य ही है जिसकी अधिष्ठात्री शक्ति बुद्धि है। अतः स्थूल रूप से बुद्धि ही जीव है तथा उसका कार्य ही जीवन है, बुद्धि से कर्तृत्व भोक्तृत्व बनता है ऐसा भी जाना जा सकता है।

सूक्ष्म शरीर को कुछ और विस्तार से जानना आवश्यक है। इसमें सत्रह तत्व माने जाते हैं। वे हैं–पाँच प्राण-प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, पाँच कर्म इन्द्रियाँ–हाथ, पैर, वाणी, मलत्याग व मूत्र त्याग के अंग (हस्त, पाद, वाक, पायु, उपस्थ) पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ–आँख, कान, नाक, रसना और त्वचा तथा अंतः करण मन और बुद्धि। मन और बुद्धि में ही अहंकार और चित्त भी सम्मिलित माने जाते हैं। इन्हें अलग से गिनने पर उन्नीस तत्व हो जायेंगे। प्राणमय कोश मनोमय कोश व विज्ञानमय कोश को मिलाकर कुल सत्रह तत्व होते हैं। यही तीन कोशों का सूक्ष्म शरीर है। प्राणमय कोश क्रिया शक्ति है, मनोमय कोश इच्छा शक्ति है तथा विज्ञानमय कोश ज्ञान शक्ति है। जीवन के लिए क्रिया, इच्छा, ज्ञान तीनों शक्तियों का संयोग आवश्यक है।इन शक्तियों का प्राकट्य जीवन है। ऊपर विज्ञानमय कोश से उपहित चैतन्य को जीव कहा गया है। किन्तु कुछ विचारक अहंकार को जीव मानते हैं। इसमें भेद नहीं है। वास्तव में अहं रुप से ही जीव सब जगह प्रकट होता है किन्तु अहंकार बुद्धि की ही एक वृत्ति है, बुद्धि-प्रसूत महत्वपूर्ण स्तंभ है, जिस पर जीवन की रचना होती है। किन्तु मूल तो बुद्धि ही है। अहंकार का लय बुद्धि में हो जाने से इसका सत्यापन होता है।

निर्देशः- प्रसंगतः पुर्यष्टक का विवरण दिया जा रहा है–

कर्मेन्द्रियाणि खलु पञ्च तथा पराणि
बुद्धीन्द्रियाणि मन आदि चतुष्टयं च।
प्राणादिपञ्चक यथा वियदादिकं च।
कायश्च कर्म च तमः पुनरष्टमी पूः॥

(सं. शारीरिक 3/16)

(1) पांच कर्मन्द्रियाँ, (2) पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, (3) अन्तःकरण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार), (4) पंच प्राण (प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान), (5) पंचभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश), (6) काम, (7) कर्म (8) अज्ञान। यह आठ पुरी हैं जिनमें जीव भटकता रहता है। इन आठों से बाहर जाने का मार्ग खोजना साधना है।

यहा तक में जीवन का व्यापक एवं संकुचित दोनों दृष्टियों परोक्ष एवं अपरोक्ष भेदों से समझने का प्रयास किया गया। यह विषय स्वयं में एक पुस्तक की सामग्री है किन्तु संक्षेप में परिभाषा, उद्भव एवं अन्त जानने के बाद जीवन की आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक दृष्टियों से साधना संभव है।

आध्यात्मिक साधना व्यक्तिनिष्ठ (प्रच्छन्न) होती है, किन्तु उसका प्रभाव समाज पर भी स्वतः होता है। व्यावहारिक साधना परस्पर आदान प्रदान, सम्मेलन आदि के कारण वस्तुनिष्ठ और प्रत्यक्ष होती है। प्रथम साधना का

मुख्य उपकरण अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) है तथा द्वितीय में शरीर-इन्द्रियाँ, अन्तःकरण समस्त बाह्य संसार है। शरीर के आधार पर ही जीवत्व है तथा अन्तःकरण का प्राकट्य है। सभी व्यवहार एवं साधनाए शरीर के होने पर ही होती हैं। ''शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम।'' शरीर ही सदाचार और स्वधर्म पाल आदि सभी तरह की साधनाओं के लिए आधारभूत हैं। आध्यात्मिक साधना भी इनके दुर्बल होने पर असंभव है। नायं आत्माबलहीनेन लभ्यः। आधार के निर्माण के बाद ही साधना का आरम्भ सार्थक होता है। प्रथमतः बाह्य '(व्यावहारिक) साधना पर विचार किया जा रहा है।

आद्य आधार शरीर है इसी से साधना का आरम्भ होता है। पैदा होते ही तथा गर्भ में भी माता-पिता द्वारा संस्कारों का आरम्भ होता है। संस्कारित बालक का पोषण शुद्ध आहार द्वारा होने पर उसे स्वस्थ्य एवं तेजस्वी शरीर प्रापत होती है। सभी इन्द्रियों की अपनी जगह अनिवार्यता है। अतः सबके विकास पर ध्यान देते हुए पोषण करने पर स्वस्थ बालक सुदृढ़ आधार प्राप्त करता है। ब्रह्मचर्य ही शरीर मन, बुद्धि सबका आधार है। अत; बालक के ब्रह्मचर्य की रक्षा का विशेष प्रबन्ध रखना चाहिए। बड़े होने पर ब्रह्मचर्य का महत्व जानकर स्वयं वीर्यवान बन सके, इस पर माता-पिता तथा पूरे समाज की दृष्टि होनी चाहिए। ब्रह्मचर्य का प्रमुख अंग है अमैथुन जिसका पालन मन वाणी शरीर से करने पर ही ठीक से निर्वाह हो सकता है। प्रथमावस्था में वीर्यलाभ हो गया तो पूरा जीवन सफलताओं की श्रृंखला की तरह होकर रहेगा। वीर्यलाभ के साथ सही दिशा देने के लिए उपक्रम भी बहुत महत्वपूर्ण है।

बालक की शिक्षा का आरम्भ आचार से होता है। शिष्ट ढंग से बोलना, बैठना, चलना, अभिवादन करना, अनुगमन करना आदि शिष्टाचार के अंग हैं। प्रातःकाल के कृत्य, स्नान-पूजन, शुद्ध खान-पान आदि भी उसी के अंग हैं। वर्तमान समय में इस शिष्टाचार का भार माता-पिता के ऊपर ही है। स्कूलों में कम संभव है। इसके उपरन्त शुद्ध (कुसंग से रहित) वातावरण मे स्वाध्याय करना संभव है। शील उत्पन्न करना ही माँ-बाप, गुरुओं का कर्तव्य है। शील एक व्यापक गुण है किन्तु मुख्य रूप से दूसरों की इज्जत तथा उन्हें सहायता प्रदान करना शील है। शीलवान होने पर सभी गुण एवं विद्याएँ बटु में स्वयं प्रवेश करती हैं। सत्य बोलना तथा उसकी रक्षा के लिए तत्परता शीलवान होना सिखाता है। इन सब बातों की तैयारी के साथ अध्ययन करके स्नातक बनने वाले व्यक्ति से सभी तरह की आशा की जा सकती है। चाहे जिस क्षेत्र में प्रवेश करे वह समाज को कुछ देता रहेगा।

आजकल की शिक्षा में अनेक विषय, नैतिक शिक्षा एवं वैज्ञानिक ज्ञान बालकों को देने का प्रयास तो होता है किन्तु चिकने घड़े पर जल की तरह

अस्थायी रहता है। यम-नियमों के नाम से जाने गये दस धर्मों को यदि विधिवत अभ्यास करायाजाय तो आधार सुदृढ़ होगा। यम-नियम हैं–अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह एवं शौच, संतोष, स्वाध्याय, तप, ईश्वर प्राणिधान। इनकी विशद् व्याख्या सुलभ है। पालन अवश्य कठिन है जो अभ्यास से ही संभव है। इन सार्वभौम धर्मों के आधार पर ही विशेष धर्मों का पालन, उत्तरकालीन जीवन में हो सकेगा। बाह्य साधना संक्षेप में यही है। इसी के दृढ़ होने पर आन्तरिक भी हो सकती है। बाह्य व आन्तरिक साधनाएँ एक दूसरे से निरपेक्ष्य नहीं है बल्कि परस्पर सहायक हैं।

जो कुछ ब्रह्माण्ड में दिखाई पड़ता है, सब इस पिण्ड (छोटे से शरीर) में उपलब्ध है। आकाश के सदृश हृदयाकाश है। शरीर प्राप्त होने पर इसमें विकसित अन्तःकरण भी एक सूक्ष्म पूर्ण ब्रह्माण्ड है। पूर्णमदः पूर्णमिदम्'। आन्तरिक साधना अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार) के द्वारा होती है। यह चारों अपनी-अपनी भूमिका के लिए महत्वपूर्णहैं। जड़ और चेतन की ग्रन्थि के रूप में जीव होता है। उसे जीवत्व से ब्रह्मत्व प्रापत कराने की उच्च साधना अन्तःकरण से होती है। अविद्या और विद्या का भेद बताना, मनोविकारों तथा बुद्धि विकारों को परखना, अहंकार की वास्तविकता क्या है इसे जानना, चित्त को ब्रह्मभाव प्रदान करने की स्थिति उत्पन्न करना यह सब कार्य अन्तःकरण की साधना से ही संभव है। कण्टक से ही कंण्टक का शोधन हो जाता है। अन्तःकरण ही बन्धन है, किन्तु यही मोक्ष या साधक भी है। चैतन्य को जड़ से अलग करना या ज्ञान के द्वारा अविद्या का मिथ्यात्व समझ कर ज्ञान में निदिध्यस्त होना ही मुक्ति है।

हृदयाकाश में चित्त व्याप्त रहता है। यह दोनों अनन्त हैं। इस छोटे से शरीर में अनन्त अवकाश (स्थान) है तथा अनन्त काल के समृतियों का कोश निहित है। (चित्त–(चित् + क्त) का अर्थ है प्रत्यक्ष, अनुभूत, अनन्त जन्मों की स्मृति। हृदयाकाश की चर्चा करके उपनिषद् ने इस बात को विश्वसनीयता दी है। इस हृदयाकाश में भी मन बुद्धि, चित्त, अहंकार के द्वारा उसी तरह अनन्त सृष्टि होती है जैसे आकाश में वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी के द्वारा अनन्त सृष्टि है। त्रिवृत्करण, पंचीकरण यहाँ भी होता है। अन्तःकरण के एक अंश में दूसरे का भी कुछ गुण होता है। इस अद्भुत प्रक्रिया में बुद्धि पृथ्वी है, अहंकार जल है, मन अग्नि है तथा चित्त वायु है। हृदयाकाश में चित् तत्व (शुद्ध अहम् प्रजापति) के प्रवेश से यह सृष्टि प्रक्रिया आरंभ होती है। सारी रचना करके वही चित् तत्व जीवरूप में शरीरी बना रहता है–''प्रजापतिश्चरति गर्भे,अन्तर्जायमानो बहुधा विजायते।''

अन्तःकरण को पुनः स्पष्ट किया जा रहा है। अनन्त हृदयाकाश रंचमात्र रिक्त नहीं है। यह चित्त से परिपूर्ण है। चित्त प्रकृति की तरह अलिंग पर्यन्त है।

यानी यह इतना सूक्ष्म भी हो जाता है कि इसके अस्तित्व का कोई चिन्ह नहीं मिलता है। यह तरंगित होने पर समुद्र की तरह भयानक किन्तु शान्त होने पर स्निग्ध चांदनी की तरह आह्लादक हो जाता है। इसी हृदयाकाश में चित्त के पदार्थों को लेकर बुद्धि, अहंकार एवं मन के व्यापार होते हैं। शुद्ध अहंकार तो चित्ततत्व ब्रह्म ही है। बुद्धि उसी अहं की झलक पाकर अहंकार को प्रकट करती है। अहं और अहंकार का अन्तर दृष्टि में रखना चाहिए। वहीं अहंकार जब एक अहं में परिणत हो सके तो बुद्धि कृतकृत्य हो जाती है। अहंकार का प्राकट्य उसके सूक्ष्माग्रभूत मन के रूप में होता है। अहंकार बहुआयामी है, किन्तु मन सूक्ष्म। अहंकार के जिस अंश पर मन कार्य करता है वही प्रकाशित होकर ज्ञान एवं कर्म इन्द्रियों के साथ संयुक्त हो जाता है। बुद्धि अहंकार को निरुद्देश्य नहीं उत्पन्न करती है। अहंकार का शोधन करना तथा उसे शुद्ध अहं बनाना बुद्धि का लक्ष्य है। वास्तव में अहंकार तो अज्ञान ही है। अतः अज्ञान को समाप्त करना तथा उसके उपरान्त स्वतः प्रकाशित चित् तत्व की अनुभूति ही बुद्धि का उद्देश्य है। सत्य को समझना और उसका प्रकाशन करना बुद्धि का मूल धर्म है।

बहुधा अन्तःकरण को मन और बुद्धि दो ही रूपों में वर्णित किया जाता है। अन्य दो के छोड़ने का कारण है किचित्त और अहंकार बुद्धि तथा मन को सामग्री प्रदान करते हैं तथा परिस्थितियाँ प्रस्तुत करते हैं किन्तु सामग्री का प्रयोग एवं परिस्थिति का समाधान मन और बुद्धि द्वारा ही होता है। सतत् जाग्रत चारों अंग हैं किन्तु क्रियाशीलता मन और बुद्धि से ही होता है। अतः मन बुद्धि को पूरा अन्तःकरण मानकर भी समझा जाता है। मन अपने संकल्प-विकल्प की शक्ति के द्वारा कार्य करता है। बुद्धि, स्मृति, धृति, क्षमा, विवेक आदि अंगों के साथ सद्सद् का निर्णय करती है। मन की एकाग्रता तथा बुद्धि की निर्मलता, सूक्ष्मता के लिए साधना की जाती है जिसके सिद्ध होने पर चित्त और अहंकार भी सिद्ध हो जाते हैं। उनके लिए अलग प्रयास नहीं करना पड़ता। बहुत लोग अहंकार पर अंकुश लगाने की शिक्षा देते हैं किन्तु वह शिक्षा मन-बुद्धि की सहायता के बिना व्यर्थ है। अतः अन्तःकरण को सशक्त रखने के लिए मन-बुद्धि को सिद्ध करना होगा यही मान्य है।यही चित्त शुद्धि है जिससे शान्त चित्त होकर व्यक्ति उच्च मूल्यों को प्राप्त करता है।

बाह्य साधना द्वारा बाह्य करणों (इन्द्रियों) को तथा आन्तरिक साधना द्वारा अन्तःकरण (मन-बुद्धि) को सशक्त बनाकर तथा शमदम से युक्त होकर अजेय संसार रिपु को जीव परास्त कर देता है। यह सामर्थ्य, बुद्धि की विशिष्टता के कारण मनुष्य में ही संभव है। अतः मनुष्य योनि की बड़ी महिमा गाई जाती है। क्षुद्र प्राणिों की बुद्धि मन के वश में हो जाती है। मन-प्रधान प्राणी के आचरण की एक निर्धारित सीमा होती है। वे बहुधा सद्यः सुख की खोज में रहते हैं। किन्तु

बुद्धि प्रधान मनुष्य के आचरण में विचलन कल्पनातीत है। वह शूकर-कूकर का भी आचरण कर सकता है। आत्म हत्या भी कर सकता है। वही मनुष्यत्व से देवत्व प्राप्त कर सकता है और विपरीत दिशा में कीट-पतंग पशु-पक्षी, पत्थल तक हो सकता है। सांप-सीढ़ी के खेल की तरह मानव योनि है। अतः मनुष्य को सावधानी जरूरी है क्योंकि 'इहचेदवेदीदथ सत्यमस्ति नो चेद वेदीन्महती विनष्टिः।''

अन्तःकरण को शम-दम युक्त बनाने मात्रसे साधना की पूर्णता नहीं होती है। यह तो आगे की साधनाओं के लिए सहायक करण है। अध्यात्मिक साधना के पथ पर चलने वाले व्यक्ति के लिए आचारवान होना इन्द्रिय निग्रह, मनोनिग्रह के साथ निर्मल बुद्धि अनिवार्य गुण है। यह गुण अपने मे भी सिद्धि हैं। यहाँ तक पहुँचने पर मनुष्य-जन्म सार्थक हो जाता है।यहाँ तक पहुँचने पर यदि कोईआगे की साधना से विरतहोकर समाज, देश, जाति, धर्म आदि के हित में जीवन लगाना चाह ले तो उसे सफलता तथा सुयश मिल के रहेगा। वह लोकसंग्रह सम्बन्धी कुछ कर्मो को करने के बाद पुनः आन्तरिक साधना में प्रवेश पा सकता है। लोक या परलोक किसी भी साधना के लिए पात्रता, जैसी ऊपर है, आवश्यक है।

पात्रता प्राप्त व्यक्ति भी अपने संस्कारों के अनुरूप ही साधना के क्षेत्र का निर्धारण करता है, वह उसी क्षेत्र को सर्वोपरि समझता है। कभी-कभी दूसरे क्षेत्रों को हेय समझने की नासमझी भी कर सकता है। हेय और उपादेय का निर्धारण तो बुद्धि और शास्त्र ही कर सकते हैं। अतः सहिष्णुता का गुण साधक में होना चाहिए। किसी भी अनिन्दित क्षेत्र में तन्मयता के साथ लगकर अभ्यास ही साधना है। ब्रह्म चिनतन, भक्ति, योग, तंत्र, कर्मकाण्ड आदि ही नहीं समाज सेवा, यहाँ तक कि नाच-गान, खेल-कूद भी साधना से ही उत्कृष्ट कोटि के होते हैं। सभी का महत्व है–कोई हेय नहीं है। पात्रता के अनुसार सबकी उपयोगिता है। हाँ सभी का मूल्य बराबर नहीं है। इन साधनाओं का भी मूल्यांकन हुआ है। जो अधिक मूल्यवान है वह उत्कृष्टतर मानी जाएगी।

साधनाओं का मूल्य निर्धारण करने में ही विवाद की स्थिति आती है किन्तु सहिष्णु साधक–''नहिं बुद्धि भेदं जनयेदज्ञानां कर्म संगिनाम्'' के अनुसार सभी को मान्यता देते हैं। तरतम का निर्णय तो शास्त्र करता है। शास्त्र का अर्थ बुद्धि निकालती है। बुद्धि के निर्णय में पुनः विवाद उत्पन्न होने की संभावना है किन्तु निर्धारित मान्यताओं–स्थायित्व, देश-काल में व्याप्ति, स्वतंत्रता, निर्मलता आदि मान दण्डों के आधार पर निर्णय हुआ है और आगे भी होगा। ऐसा निर्णय करने में समर्थ समन्वयात्मक बुद्धि ईश्वर की सर्वोपरि देन है। ऐसी बुद्धि ने ही निर्णय दिया है कि व्यावहारिक जीवन में परोपकार, लोकसंग्रह और आध्यात्मिक जीवन में अकामता, ब्रह्म निष्ठा, सर्वोत्कृष्ट मूल्य है। आचार्य शंकर का जीवन

इस निर्णय के लिए साक्षी है। भगवत्पाद ने पूर्व-जन्मार्जित साधना के कारण और गुरु से ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त, ज्ञाननिष्ठा होने पर भी, लोक संग्रह में ही जीवन बिताया किन्तु उन्हें ज्ञात था, कि यह साधना लौकिक है। अतः जीवन के अन्तिम समय में समाधिस्थ रहने लगे। अकामता व ज्ञान निष्ठा की साधना मे लगने पर, शिष्यों के आग्रह पर भी शरीर धारण करने का सहज प्रयास भी छोड़कर ब्रह्मलीन हो गये। यही मानव जीवन का उच्चतम मूल्य है।

उच्चतम मूल्य को प्राप्त करने के लिए कुछ अवर कोटि के मूल्यों की साधना द्वारा सत्वशुद्धि करते रहना सन्मार्ग है। किन्तु अवरकोटि को ही उच्चतम मानने का भय बहुधा साधकों को होता है। योग, तंत्र, मंत्र और भक्ति सम्बन्धी सैकड़ों प्रकार की साधनाओं का वर्णन है तथा गुरु लोग सिखाने के लिए, बिना किसी शर्त के तत्पर हैं। पात्रता का भी प्रतिबन्ध बहुधा नहीं रह गया है। इन साधनाओं में स्वार्थ, भोग और पाखण्ड के प्रवेश की बड़ी संभावना हाती है। विशेषतौर पर जब इन्हीं को सर्वोत्तम मानने का दंभ किया जाता है। इन साधनाओं के लोग भी यदि ज्ञाननिष्ठा को लक्ष्य-भूत बनाये रखें तो विचलन और पतन नहीं होगा। किन्तु प्रत्येक साधक अपने को सिद्ध ही मानने लगता है। यही विडम्बना है। इसी कारण से तरतम का भेद भी समझ में नहीं आता है। जहाँ तक कर्मकाण्ड और यज्ञयागादि की बात है, इस मार्गमें लोक या ब्रह्मनिष्ठता का लक्ष्य भी स्पष्टतया रखा जाता है। जिस उद्देश्य से यज्ञ होगा वैसा ही फल होगा। किन्तु पदार्थों में प्रदूषण, श्रद्धा का अभाव और पाखण्डों के कारण यह मार्ग भी संदेहास्पद हो गया है। कर्मकाण्ड के नाम पर भूत-प्रेत की पूजा होने लगी है। इसका कारण (पहले ही कहा गया) है कि पात्रता के अभाव में साधना फलवती नहीं होती बल्कि विपरीत फल भी देती है।

गीता में स्पष्टतया मनुष्य के लिए दो मार्गों को बताया गया है–कर्म एवं ज्ञान। कर्मयोग लोकसाधना, ज्ञानयोग मोक्ष साधना है। गीता मुख्य रूप से कर्मयोग का ग्रन्थ है। कर्मयोग की सिद्धि के लिए कुशलता पूर्वक स्वधर्म पालन, सात्विक श्रद्धा पूर्वक यज्ञ तप करना तथा सब कुछ ईश्वरार्पण करना उपाय बताये गये हैं। ज्ञान मार्ग की महिमा को संक्षेप में स्वीकार करते हुए उसे क्लिष्ट बताकर दूसरे अधिकारियों के लिए छोड़ दिया गया है। अर्जुन को कर्मयोग का अधिकारी समझते हुए, उसी का उपदेश दिया गया है। ''ज्ञानी त्वात्मैव मे मतः'' 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमात्यते'' आदि वाक्यों से ज्ञान मार्गको उच्चतम मानते हुए भी अर्जुन जैसे अधिकारी को अकर्म और संन्यास की हेयता ही बतायी गयी है। सन्ततुकाराम शिवाजी की पात्रता का ध्यान रखकर ही उन्हें शिष्य न बनाकर गुरु रामदास के पास भेज दिये। वहा उनका कर्मयोग सिद्ध हो सका। इसी तरह गीता में भी समझा जा सकता है।

श्रीकृष्ण तो कर्मयोग की स्थापना के लिए ही आये थे। वे युग-पुरुष थे, योगीराज थे। उनके अनन्तर ज्ञानमार्ग शिथिल रहेगा यह उन्हें मालूम था।कर्मयोग के अधिकारी अर्जुन के प्रति उपदेश में ज्ञान मार्गका संकेत और इसकी महिमा का वर्णन भी किया जिसका उद्देश्य यह बताना था कि कर्मयोग ही सब कुछ नहीं है, इससे सत्वशुद्धि होगी और ज्ञान मार्ग में प्रवेश और बाद में उसका भी फल मिल सकता है।ज्ञानमार्ग उच्चतम है, यह गीता के समन्वयात्मक अध्ययन से स्पष्ट है। भक्ति कर्मयोग में सहायक हैतथा ज्ञान तक पहुँचाने में भी सहायक है। यह भीगीता से स्पष्ट है। गीता के विषय में चर्चा यहाँ इस उद्देश्य से है कि पात्रता के अनुसार कर्म तथा साधना तथा उच्चतम मूल्यों की पहचान यह गीता की शिक्षा है। इस ग्रन्थ को भी विवादास्पद बनाकर लोग पात्रता की अवहेलना करते हैं। यह ठीक नहीं है। पात्रता का ऑकलन आवश्यक है।

वैदिक कर्म मार्ग एवं ज्ञान मार्ग में भेदोपभेद के कारण अनेक शाखाएँ हो गयी हैं। कुछ निजी अनुभवों को जोड़कर बहुत साधक शाखा को सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित कर दिये हैं। सम्प्रदायों में एक दूसरे का विरोध भी होते देखा जाता है। इन्हीं सम्प्रदायों के साथ योग, तन्त्र-मंत्र एवं भक्ति के रूप में उपासना की तीन विधायें आज कल बहुत प्रचलित हैं। इन तीनों में भी वही सम्प्रदाय की स्थिति बन गयी है।यहाँ तक किइन साधनाओं में लगे हुए लोग इन्हें स्वतंत्र साधना मानने का भ्रम पालने लगे हैं। स्वतंत्र साधना इस अर्थ में मानते हैं कि कर्म और ज्ञान मार्गों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है, उनका फल भी लोक या मोक्ष की तरह आत्मनिर्भर और सर्वोपरि है। यह स्थिति दंभ एवं पाखण्ड के कारण उत्पन्न हो रही है। पहले भी शाखाओं की अनेकता थी किन्तु उद्देश्यों की एकता होती थी। अब सम्प्रदायों की अनेकता के साथ उद्देश्य भी अनेक हो गये हैं। लेकिन जब तक ''एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति'' इस वेद वाक्य के आदर्श के अनुसार अनेकता को एकता में परिणत करने की सात्विक शक्ति नहीं आएगी, यह नवीन सम्प्रदाय शंकास्पद ही बने रहेंगे।

वास्तविक स्थिति यह हैकि ज्ञान मार्ग अपने में परिभाषित अकर्म मार्ग है। आचार्य शंकर के उदाहरण से इसे पीछे स्पष्ट किया गया है। अन्य सभी मार्ग कर्म के अन्तर्गत ही आते हैं। कर्म मार्ग में भी पहले से दो भेद हैं। एक के अनुसार कर्म करके उसके फलों का उपभोग इस लोक या परलोक में करें।धर्मार्थ काम तीन पुरुषार्थ इसमें आते हैं। दूसरे के अनुसार कर्म तदर्थ किया जाय। ब्रह्मार्पण की भावना से किया गया कर्म लोक के रूप में फल न देकर, मुक्ति का कारण होता है। यही वैदिक कर्मयोग है। इसी कर्मयोग को विस्तृत एवं व्यावहारिक रूप में गीता में प्रतिपादित किया गया है। योग, तंत्र, भक्ति जैसी साधनायें भी कर्ममार्ग हैं। यदि इन साधनाओं के साथ सात्विक श्रद्धा एवं

ब्रह्मार्पण की भावना के साथ अकामता का लक्ष्य बन जाय तो यह भी सत्वशुद्धि के द्वारा मुक्ति के हेतु हैं। भक्ति और मुक्ति का क्रम बनता है किन्तु दोनों एक साथ-साथ प्राप्त होना असंभव है, छाया और धूप की तरह ये भिन्न हैं। भ्रम में लोग ऐसी आशा करते हैं। ''छाया तपौब्रह्म विदो वदन्ति''–कठोपनिषद।

इस दृष्टि से सभी साधनाओं के मूल में श्रद्धा है। श्रद्धा मन का विषय है। विश्वास बुद्धि का विषय है तथा भावना मन और बुद्धि की सहमति से बनती है। श्रद्धा-विश्वास भवानी-शंकर है तो भावना परम शिव है। परम् शिव की प्राप्ति (आत्मस्थता) हेतु श्रद्धा को विश्वास से तथा दोनों को भावना से प्रबल बनाना पड़ता है। श्रद्धा मन का विषय कहा गया है। मन देहली दीपक की तरह बाह्य और अन्तःकरणों से सम्पर्क में रहता है। अतः मन मुक्ति तथा भुक्ति दोनों की अपेक्षा रखता है। किन्तु मनमानी हो नहीं सकती। मन को क्रम बनाना पड़ेगा। इसीलिए श्रद्धा के साथ सात्विक विशेषण जोड़कर उसे परमार्थ हेतु अभीष्ट बताया गया है। सात्विक श्रद्धा होने पर मन उर्ध्वरेता होता है। तब अकामता के लिए निश्चय होता है। अन्यथा भुक्ति, मुक्ति दोनों के चक्कर में पड़ा रहता है। मलिन बुद्धि मन को कोई सहायता नहीं दे सकती है। बुद्धि की निर्मलता और मन की सात्विकता के संयोग से बनी हुई साधना श्रेयष्कर होती है।

कार्य सम्पादन के लिए शक्ति की अपेक्षा होती है। शक्ति का स्रोत तप है। तप के उपकरण शरीर, वाणी और मन है। तप से शक्ति का उदय होना यह ध्रुव सत्य है। शक्ति से दूसरों को तथा प्राकृतिक नियमों को भी प्रभावित किया जा सकता है। तप के द्वारा उत्पन्न शक्ति का उपयोग साधक की श्रद्धा के अनुसार होता है। यदि राजसी या तामसी श्रद्धा का तपस्वी है तो वह रावण और कुम्भकर्ण की तरह शक्ति का उपयोग परद्रोह, निद्रा आदि में ही करेगा। अतः तप के पूर्व सात्विक श्रद्धा की स्थापना आवश्यक है। इसीलिए पुराने शास्त्रों में शूद्र को तपस्या करने का अधिकार नहीं था। आज भी आणविक शक्ति आतंकवादियों को न मिले ऐसी व्यवस्था की जा रही है। चाहे कितना भी चमत्कार और वैभव का प्रदर्शन कोई करे लेकिन उसकी विश्वसनीयता श्रद्धा के परीक्षण के पहले संदिग्ध रहती है। आजकल के चमत्कारी गुरु लोग भी सम्यक परीक्षणीय है। श्रद्धा और शक्ति का सन्तुलन ही व्यक्ति या समाज के लिए हितकर हो सकता है। यहाँ श्रद्धा शब्द से भावना का भी अर्थ किया जायेगा। सद्भावनायुक्त व्यक्ति ही तपस्वी, तेजस्वी व प्रबल बने यह प्राथमिक आवश्यकता है। दुर्भावना होने पर दुर्बल रहने में ही सुरक्षा है। पात्रता का साश्वत प्रश्न यहाँ भी उपस्थित है। सांप को दूध पिलाने पर उसमें विष पैदा होता है जब कि बालक दुग्ध पीकर बुद्धिमान होता है।

श्रद्धा सम्पन्न समर्थ व्यक्ति क्षमाशील हो ही जाता है। क्षमा करना एक तप है जिससे तेज व प्रताप बढ़ते हैं। श्रद्धा विश्वास के अभाव में आजकल क्षमा का गुण भी लुप्त हो गया है। जब अर्थऔर काम के लिए इच्छा अत्यन्त प्रबल रहती है, नीति-अनीति का ज्ञान नहीं रह जाता है, उस समय क्षमा करने का प्रश्न ही नहीं है। सामाजिक कटुता बढ़ने का प्रमुख कारण यही है। व्यक्ति के साथ समाज निर्माण भी महत्वपूर्ण है।

सामाजिक व्यवस्था बनाने में योग्य व संयमी नागरिकों की आवश्यकता तो है ही किन्तु सबसे अधिक जिम्मेदार संस्थाएँ शासन और शिक्षा हैं। शासन राजनीतिज्ञों के हाथ में है, अतः राजनीति और शिक्षा को पवित्र रखा जा सके तो व्यक्ति और समाज दोनों का कल्याण हो सकता है। न्याय भी शासन का अंग है। न्याय के संशयास्पद होने पर शासन में विश्वास नहीं रह जाता है। कार्यपालिका में सरकार की सबसे बड़ी जनशक्ति कार्य करती है। कार्यपालिका के अधिकारी व कर्मचारी पहले भी संदेहास्पद होते रहे हैं। गलत अर्थ के संचय में उनके ऊपर कालिदास और कौटिल्य ने भी उंगली उठाई है। किन्तु इस तंत्र पर विधायिका व न्यायपालिका के चन्द व्यक्तियों द्वारा नियंत्रण किया जाता था। जब तीनों अंग समान रूप से सदोष हो जाते हैं तो शिक्षा की व्यवस्था अपने अधोपन के चरमपर चली जाती है। ऐसी स्थिति से उद्धार के लिए शिक्षा और शासन पर ध्यान केन्द्रित करना युग-पुरुष का कार्य होता है। ऐसी स्थिति में अपराधियों को दण्डित करने की संभावना कैसे बन सकती है? संयमी पुरुष अपने ऊपर स्वयं शासन करता है, असंयमी के ऊपर राजा का शासन होता है। किन्तु प्रच्छन्न पापियों (पाखण्डियों) पर यमराज ही शासन कर सकते हैं। जब राजा ही पाखण्डी हो जाय तो मात्स्य-न्याय की स्थिति से सम्पूर्ण व्यवस्था यमराज (अदृष्ट शक्ति) के अधीन चली जाती है। लेकिन व्यवस्था को मनुष्य के हाथ में रखने का प्रयास प्रबुद्ध लोगों को करना पड़ता है।सत्य और न्याय की प्रतिष्ठा से युग पुरुष पुनः धर्म को स्थापित करता है।

समाज को केवल कानून या शक्ति से नहीं व्यवस्थित किया जा सकता है। इतिहास बदल कर नई मान्यता को स्थापित करने से मिथ्याचार ही प्रकट होता है। पुराने आदर्श चरित्रों के स्थान पर नये आदर्श खोजना और प्रतिष्ठित करना इतिहास का दुरुपयोग है। लोक मान्यता की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। लोक, पुरानी मान्यता को छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता है। इतिहास की दुहाई देने पर मिथ्याचार ही उजागर होता है। सत्य तो यह है कि लोक ही इतिहास का संरक्षक है। इतिहास तो पुरानी बातों को कहता है, जो बातें सत्य या असत्य दोनों हो सकती हैं। इतिहास ही नहीं इतिहास्ति (वर्तमान में ऐसा है), यह भी ठीक-ठीक नहीं बताया जा सकता है क्योंकि सत्य पर पर्दा डालकर असत्य ही

प्रबल हो सकता है। जब इतिहास्ति में विश्वास नहीं तो इतिहास में क्या विश्वसनीयता? मैक्समूलर आदि विद्वानों ने वेदादि कृतियों के विषय में, पाश्चात्य चिन्तकों ने भारतीय इतिहास के विषय में लोक-विरुद्ध सिद्धान्तों को प्रचारित किया किन्तु यह प्रचार स्थाई नहीं रह सका। पुनः प्राचीन मान्यताएँ ही स्वीकार होने लगी हैं। अतः युग पुरुष इतिहास नहीं बदलता है। वह इतिहास के द्वारा सत्य का दर्शन कराता है। यही प्रबुद्ध लोगों की जिम्मेदारी है। युग पुरुष बनने के लिए सदाचार और सुपात्रता, न्याय और सत्य आदि की ही आवश्यकता पड़ती है। आधुनिक युग में कुछ करके तिलक, मालवीया, गान्धी जैसे लोगों ने इसे प्रमाणित किया। पात्रता में पूर्णता होने पर आज भी सर्वातिशायी युग-पुरुष उत्पन्न हो सकता है।

एक पौराणिक कथा है जिसमें युधिष्ठिर के ही यज्ञ में एक ब्राह्मण ने सुवर्णपात्र की चोरी किया। ब्राह्मण सुवर्णचोर के लिए दण्ड विधान पर विचार करने में किंकर्तव्यविमूढ़ होकर युधिष्ठिर ने कृष्ण से राय माँगी। कृष्ण तथा अर्जुन ने राजा बलि के यहाँ जाकर समस्या को रखा। तब बलि ने बताया था कि ब्राह्मण का नहीं राजा का ही दोष है जिससे ब्राह्मण को चोरी करनी पड़ी। कथा का सारांश यह है कि राजा या शासन में अधर्म होने पर विश्वसनीय लोग भी अपराधी बन जाते हैं। महाभारत का निर्णय है–राजा कालस्य कारणम् ।'' इसको दृष्टि में रखकर ही प्रान्तीयता, जातिवाद, भ्रष्टाचार, साम्प्रदायिकता, नक्सलपंथ, आतंकवाद आदि समस्याओं पर विचार करना चाहिए। यह भस्मासुर राजकीय संरक्षण में ही पैदा होते हैं।

राजा सत्य और न्याय की प्रतिष्ठा के कारण ही विश्वसनीय बनता है। जब बड़े-बड़े लोग छोटी-छोटी बातों के लिए असत्य, पक्षपात और मिथ्याचार करेंगेतो चरक संहिता में वर्णित जनपदोध्वंस की स्थिति हो जायेगी। यह तथ्य वैज्ञानिक प्रयोगों से भी अधिक वैज्ञानिक है। आज की राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियाँ इसी विज्ञान को प्रमाणित कर रही हैं। कोई अपने ऊपर नियंत्रण नहीं करना चाहता। वह असंयमी दूसरों का कैसे नियंत्रित कर पायेगा? आतंकवाद और भ्रष्टाचार आदि का बीज शासन में ही है। वहीं से सर्वत्र व्याप्त हो रहा है।

सम्प्रदाय और देश-जाति की मान्यता बुरी नहीं है किन्तु जब यही मानवता से अधिक मूल्यवान समझे जाये तो समस्या उत्पन्न होगी। समाज के लिए मानवता, सहिष्णुता, परोपकार जैसे आधारभूत गुणों की नितान्त आवश्यकता है। यह देश-जाति आदि से ऊँचे मूल्य हैं। शासन की जिम्मेदारी है कि मूल्यों का तरतम निर्धारण करके ही नियम बनायें तभी पालन होगा, अन्यथा बड़े लोग भी उल्लंघन करेंगे।

यह कहना कटु सत्य है कि स्वतंत्रता के बाद भारत में अनेक एक्ट एवं नियमों के द्वारा जनांकांक्षाओं को दलित करके रखा गया है। हिन्दूमैरेज एक्ट

सक्सेसन एक्ट आदि का उल्लंघन लोग योजनाबद्ध तरीके से करते हैं। न्याय की प्रतिष्ठा न होने पर अच्छे लोग भी वैधानिक अन्याय करके सामाजिक न्याय पाने का प्रयास करते हैं। सज्जनों को भी बिना कानून का कुछ न कुछ उल्लंघन किये रहना संभव नहीं है। स्वाभाविक अपराधी वृत्ति के लोगों को इस हालत में रोकने वाला रह ही नहीं जाता है। मूल्यों के पहचान में गलती तथा शास्त्र में निर्धारित मानदण्डों को दकियानूसी समझने पर यही होगा। आतंकवाद और अराजकता के पीछे कारण स्पष्ट है। जहाँ अपूज्य की पूजा होती है और पूज्य का तिरस्कार होता है, वह समाज संकटग्रस्त हो जाता है, यह प्राचीन मान्यता अब भी सत्य है। अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यानामवमानना। त्रीणि तत्र प्रवर्तन्ते, दुर्भिक्षं मरणं भयम् ।। वर्तमान शासन और समाज की निन्दा के लिए यह कृति नहीं है। इससे कई गुना अधिक कटु-विवेचन नित्य समाचार पत्रों में आता है। फिर भी एक दो उदाहरणों से अपनी बात को स्पष्ट करना आवश्यक है। आरक्षण की नीति पर विचार किया जाय तो ऐसा लगता है कि योग्यता का तिरसकार करके अयोग्य को पद-प्रतिष्ठा देना इस नीति का मूल प्रभाव है। दलितों को आर्थिक और शिक्षा के क्षेत्र में सहायता देकर योग्य बनाना चाहिए न कि अयोग्य हालत में ही उन्हें पद दे देना। शीघ्र ही यह नीति हास्यास्पद मानी जायेगी, लेकिन तब तक जन मानस में अमिट विकार उत्पन्न हो जायेगा।

दूसरा उदाहरण नारी और युवा को प्रोत्साहन की नीति से सम्बद्ध है। नारी को गृहिणी बने रहते हुए उसके सम्मान को सुरक्षित रखना आवश्यक है न कि शासन और पदों पर कोटा निर्धारित करके पुरुषों का कार्य कराना। उसकी स्वाभाविक क्षमता को प्रोत्साहित करना श्रेयष्कर है। यह नीति परिवार और समाज को अभारतीय संस्कृति की ओर ले जा रही है। ऐसी ही अव्यवस्था युवा के हाथ में सत्ता देने पर होगी। युवा कों, बृद्ध सेवी तथा समर्थ बनाना उद्देश्य होना चाहिए जिससे परिपक्व अवस्था में वह सफल प्रशासक हो सके। नारी और युवा के सम्बन्ध में नीति को न सुधारा गया तो स्थायी समस्यायें देश को ग्रस्त कर लेंगी। यह सुपरिक्षित नीति है कि जहाँ धूर्त, बालक, और नारी का शासन चलता है वहाँ समाज को बड़ा भय उत्पन्न हो जाता है। 'यत्र स्त्री यत्र कितवो वालो यत्राअनुशासिता। मज्ञन्ति, तेऽवंश राजन् नद्यामश्म प्लवेनइव।' (विदुरनीति)। पात्रता का सिद्धान्त सर्वत्र स्मरण रखना पड़ेगा।

इन उदाहरणों से समाज के प्रत्येक क्षेत्रम`ें आकलन करने का सन्देश मिलता है। निरापद सामाजिक नीति कहीं रह नहीं गयी है। विवेक भ्रष्टानां भवति विनिपातो शतमुखः'' की कहावत सत्य हो रही है। पात्रता व मूल्यों की अवहेकलना करने से समाज सांस्कृतिक दरिद्रता और मानसिक क्लेशों के जाल में फंस रहा है। अच्छी कार कीमती कपड़े और मोटी चिकनी शरीर से मिलने

वाला अपात्र का सुख बहुत अल्पकालिक है। वास्तविक सुख तो पात्रता के कारण प्राप्त सम्मान और शान्ति में है। यही प्रशंसनीय है।

पात्रता की भी श्रेणियाँ होती हैं। विचारों और सिद्धान्तों द्वारा उद्बोधन जन सेवा, प्रजापालन, शासन, शिक्षा, अर्थव्यवस्था, मनोरंजन, खेलकूद आदि अनेक क्षेत्रों में महान होने के अवसर मनुष्य को होते हैं। समाज को विचारों के रूप में स्थायी सम्पत्ति देने वाला व्यक्ति दुर्लभ होता है। उसकी पात्रता सर्वोपरि है। अन्य क्षेत्रों का भी स्तरीकरण इसी तरह है। किसी भी क्षेत्र में सर्वोत्कृष्ट का सम्मान उसके क्षेत्र के अनुसार होना चाहिए। भारत रत्न यदि सर्वोत्कृष्ट सम्मान माना जाय तो इसे केवल विचारकों के लिए ही दिया जाना चाहिए। अन्य क्षेत्रों के अलग-अलग कोटि के सर्वोत्कृष्ट सम्मान बनाये जायं। मूल्यों और पात्रता का सही आकलन तभी संभव है।

इस छोटी सी कृति में जीवन, जगत, ईश्वर को समझने के लिए सामग्री दी गयी है। व्यक्तिगत साधना के उपायों तथा समाज एवं देश के लिए उपयोगी सामायिक बातों को भी अल्पांश में प्रस्तुत किया गया है। व्यक्तिगत सुख तो सभी कार्य व्यापार के त्याग पूर्वक वैराग्य या ईश-भजन मात्र से सिद्ध होता है। व्यक्ति, समाज और शासन तीनों के संतुलित प्रयास से ही सामूहिक हित संभव है। मूल उद्देश्य तो 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' ही है। अभ्युदय और निःरेयस का दुर्गम मार्ग इसी से सुगम होगा। सुगम होगा।।

भाग - 2

वैदिक कर्मयोग

'कर्मयोग' शब्द का महत्व प्राचीन काल में वैसा ही था, जैसा इस समय 'समाजवाद' का है। आजकल प्रत्येक व्यक्ति, समुदाय, शासन-प्रणाली या समाज अपने को किसी तरह से समाजवादी सिद्ध करके ही संतुष्ट रहता है। उसी प्रकार प्राचीन युग में कर्मयोग के साथ भी था। वेद में कर्मयोग के साधन यज्ञ थे। इसके बाद आगम ग्रन्थों ने अपना-अपना कर्मयोग प्रतिपादित किया। साधना पक्ष के सभी दर्शनों ने भी अपने अनुकूल कर्मयोग का स्वरूप निश्चित किया। आस्तिक मतों में सभी कर्मयोग वेद पर आधारित है। वैदिक कर्मयोग में व्यक्ति की पवित्रता तथा उदात्तता साध्य है।

मनु का मत है ''काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः।'' कर्मयोग को वैदिक मानने के साथ ही यज्ञों के अतिरिक्त बहुत से अन्य विधि-निषेधों को भी मनु ने उसी कर्मयोग का अंग बनाया। व्यक्ति तथा समाज को स्वस्थ, समृद्ध एवं अग्रगामी बनाने के लिए, दूसरे शब्दों में वैदिक कर्मयोग का आचरण करने के लिए उचित अवसर प्रदान करने हेतु कार्यों एवं अकार्यों का विस्तृत विवेचन मनुस्मृति में किया गया है। अनेक स्मृतियाँ इसी अभीष्ट की सिद्धि के लिए लिखी गयी। सभी ऋषियों ने एक मत से दो बातों की पुष्टि की, एक है–वर्ण-व्यवस्था, दूसरी है आश्रम-व्यवस्था। कर्मयोग के निर्वाह के लिए समाज में जिन गुणों की आवश्यकता होती है तथा जैसे वातावरण में अनुकूलता रहती है, उसे प्रतिष्ठित करने के लिए ये दोनों आधार स्तम्भ माने गये। बाद में कर्मयोग की परिभाषा भी बदल दी गयी, किन्तु आधार स्तम्भों की उपयोगिता कायम ही रही। भारतीय संस्कृति के स्थायित्व के लिए अब भी उसी आधार की आवश्यकता महसूस होती है। नवीनतम कोटि का भी, भारतीय विचारक, दूसरा आधार नहीं पा सका, यह आश्चर्यजनक लगता है। प्राचीनता की क्या उपयोगिता है, यह इसी से आँका जा सकता है। किसी प्रथा को समाप्त करना, उसे निन्दित करना आसान है, किन्तु उससे अधिक की तो बात ही दूर रही, उसके समान प्रथा को भी खोजना बड़ा कठिन कार्य है। पुरानी प्रथा को समाप्त करके, विशेषतः नवीन प्रथा के जन्म होने की असम्भावना होने पर, शून्यत्व में रह कर अपनी संस्कृति का विनाश करना वही चाहेगा जो अपनी धरती से प्रेम नहीं रखता है। संस्कृति की जननी धरती है। जलवायु उसके पोषक हैं। विशेष धरती के लिए विशेष संस्कृति की उपयोगिता है। स्थान भ्रष्ट होने पर संस्कृति अनुपयोगी और हानिप्रद भी होती है। जिस धरती की संस्कृति नहीं रह गई वह बन्ध्या नारी की

तरह है भले ही उसके दरवाजे पर बहुत से बच्चे दौड़ते रहें। यदि भारतीय संस्कृति की रक्षा आवश्यक ही है, तो उन आचार संहिताओं की भी रक्षा आवश्यक है जो वैदिक कर्मयोग को प्राप्त करने में सहायक हैं।

नित्य कर्मों में दैनिक-संध्या एवं पंच-महायज्ञों का बहुत महत्व बताया गया है। नैमित्तिक तथा पार्वण-कर्म तो बहुत से हैं। पंच-महायज्ञों (ऋषि, देव, पितर, बलि- वैश्वदेव अतिथि नामक) को नित्य करने वाला आदमी व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों प्रकार की उन्नति प्राप्त करता है। इस कर्मयोग में ऋषियों की अन्तर्दृष्टि एवं समाज कल्याण की भावना कितनी गूढ़ रूप से छिपी है, इसे कोई नहीं बता सकता है। इसे जानने वाला ऋषि ही है। अपनी संस्कृति की देन के नाते हम इसके आचरण द्वारा लाभान्वित हो सकते हैं। न करने पर इस भूमि पर सुख प्राप्ति का विकल्प भी नहीं है। वैदिक कर्मयोग की अनेक शाखाएँ हो गयी हैं। किसी कारण से कुछ शाखाओं में अनुपयोगी और अस्वाभाविक आचरण का भी आदेश हो सकता है। स्वाभाविक है, कि लोहा अग्नि के सामीप्य में ही लाल रह सकता है, उससे दूर हटाने पर काला रंग आ जाता है। वेद से दूर हटने पर (यज्ञों के अभाव में) कर्मयोग सदोष हो सकता है। जो बातें वेद एवं सभी शाखाओं में एक मत से मान्य हैं, उन्हें बिना किसी परीक्षण के मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। वैदिक कर्मयोग व उपयोगी अंश सब जगह एक रूप में मिलता है। यहाँ उसे लिखने का स्थान नहीं है। वे लिखे गये है। शुद्ध रूप से उन पुस्तकों को उपलबध कराया जा सके, और उसके आचार्यों को प्रतिष्ठा दी जाये, तो समाज के लिए अभीष्ट कर्मयोग प्राप्त हो सकता है।

पतंजलि मुनि का कथन है–''तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रिया-योगः'। कर्मयोग की इस परिभाषा में स्वाध्याय, तप और ईश्वर-प्रणिधान तीन शब्दोंके अन्तर्गत वैदिक-कर्मयोग के सभी विषय मिलते हैं। ''यज्ञो वै विष्णुः'' से स्पष्ट है कि ईश्वर प्राणिधान यज्ञ से ही संभव है। किन्तु वास्तव में पातंजल योग में मानसिक क्रियाओं पर अधिक बल दिया गया है। वेद में ही कर्म और अकर्म दोनों मार्ग दिये गये हैं। पतंजलि ने कर्मयोग ओर ज्ञानयोग दोनों को बहुत सन्निकट कर दिया है। व्यक्तिगत साधना के लिए यह मार्ग बहुत उपयोगी है। सामाजिक साधना के लिए वैदिक कर्मयोग इससे भी अभीष्टतर है। निर्गुण-सगुण, विद्या-अविद्या, संभूति-असंभूति करके जो भेद बताये गये हैं, दोनों ही उपास्य हैं। एक से कोई सिद्ध नहीं हो सकता। एक ज्ञान योग के अधीन है, दूसरा कर्मयोग के। ज्ञान योग भी वेद का ही विषय है। वेद के उत्तर-भाग में उसी का प्रतिपादन मिलता है। लेकिन उत्तर-भाग को पूर्व भाग से अधिक महत्वपूर्ण मानना अंधतम में गिरना है–

अन्धः तमसि प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायांरताः॥

दोनों मार्गों का महत्व अपने-अपने स्थान में है। क्रम-भेद अवश्य है। कर्म से मृत्यु को जीतकर अकर्म से अमर होना वेद का काम्य है। ईशावास्योपनिशद् का मंत्र है–

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयंसह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥

गीता ने कर्मयोग की एकदम भिन्न परिभाषा दी है, जो सबसे अधिक प्रचलित है। जैसे समाजवाद के नाम पर मार्क्स याद किया जाता है, वैसे ही कर्मयोग के नाम पर गीता। यह एक प्रचलित मान्यता है कि गीता प्रवृत्ति और निवृत्ति दो परस्पर विरुद्ध मार्गों के बीच सामंजस्य स्थापित करती है। उपर्युक्त उपनिषद् वाक्यों के साथ रखने पर यह स्पष्ट हो जाता है, कि प्रवृत्ति अंधतम का मार्ग है, और निवृत्ति उससे भी अधिक गहनतम का। अतएव गीता इन दोनों मार्गों से बचने की सलाह देती है। किन्तु यह सलाह दोनों मार्गों के क्रमशः पालन का नहीं है। वास्तव में दोनों के सम्मिश्रण से बने एक तृतीय मार्ग का पोषण गीता में किया गया है। यह मार्ग निष्काम कर्म का मार्ग है। इसे कर्मयोग भी कहा जाता है, जिसमें (फलेच्छा के) त्यागपूर्वक कर्ममार्ग को विहित माना गया है। यह कर्म तथा अकर्म दोनों का मिश्रित मार्ग है। यह कितना आचरणयीय है, यह विवाद का विषय है। शंकराचार्य ने इसीलिए गीता के भाष्य में उसका तात्पर्य ही बदल दिया। तिलक ने गीता का सही रहस्य स्पष्ट किया, जिससे पुनः विरोध उत्पन्न हो गया। यह बृहद्रूप में विवेचन का विषय है। किन्तु गीता के इस त्यागपूर्ण कर्मयोग की संगति मनुस्मृति से नहीं बैठती, जहाँ यह कहा गया है–

अकामस्य क्रिया काचित् दृश्यते न हि कुत्रचित् ।
यद् यद् हि कुरुते कर्म तत्तत् कामस्य चेष्टितम् ॥

वास्तव में कर्म तथा अकर्म की क्रमिक उच्चता का ध्यान रखकर ही दोनों की उपासना उचित है। दोनों सहचारी नहीं हो सकते। निष्काम कर्म से चित्तशुद्धिध होने पर अकर्म की स्थिति स्वतः आजाती है।

धर्म पालन क्यों?

धर्म-विवेचन बड़ा ही गहन विषय है। कहाँ से विषय-प्रवेश हो और कहाँ उपसंहार किया जाय? इसका ही निर्णय कठिन है। इस विषय में प्रत्येक अंग मुख्य लगता है, गौण बात कुछ भी नहीं दिखाई पड़ती। नाना प्रकार के विवादों के बीच एक बात स्पष्ट झलकती है, कि संसार में सन्तुलन की स्थिति अभीष्ट है। दो परस्पर विरुद्ध अंगों आकर्षण और अपाकरण के रहस्य को समझने के लिए सापेक्षता को स्वीकार करना पड़ता है। निरपेक्ष का अनुभव अव्यक्त ही रह जाता है।

सृष्टि, स्थिति और लय ही संसृति है। कारण से कार्य उत्पन्न होता है, और स्वयं भी कारण बनकर दूसरा कार्य उत्पन्न करता है। स्थिति का कारण सृष्टि है, लय का कारण स्थिति है और लय सृष्टि का कारण है। इस प्रकार कारण और कार्य की शृंखला स्पष्ट प्रतीत होती है। क्रिया और प्रतिक्रिया का सिद्धान्त शाश्वत है। धर्म से भोग, भोग से अधर्म, जिससे दुःख ओर उससे फिर धर्म होता है। इस चक्र का संचालक परमेश्वर है। पूर्वोक्त धर्मादि एक दूसरे के कारण अथवा कार्य अवश्य हैं, किन्तु इन्हें फल नहीं कहा जा सकता। क्रिया एवं प्रतिक्रिया के फल भिन्न होते हैं, यद्यपि दोनों कर्ता को ही प्राप्त होते हैं। क्रिया और प्रतिक्रिया के इसी क्रम को व्यावहारिक दृष्टि से धर्म और अधर्म कहा जाता है। यह दोनों सापेक्ष और स्वाभाविक होते हैं। ऐसी स्थिति में धर्म ही क्यों ग्राह्य है? उसका क्या स्वरूप है? क्या दोनों छोड़े नहीं जा सकते? यह विचारणीय है।

यावन्मात्र कर्म है, उनके कर्म, विकर्म, और अकर्म के रूप में तीन भेद बताये गये हैं। किन्तु अकर्म को कर्म का भेद मानना संगत नहीं है। दोनों का फल भी अलग-अलग होता है। कर्म प्रेय है, तो अकर्म श्रेय है। वास्तव में कर्म और विकर्म दो ही भेद हैं, जिन्हें धर्म और अधर्म के नाम से जाना जा सकता है। गुण, स्वभाव, देश-काल के परस्पर सम्मिश्रण से अनेक कोटि के प्रभाव उत्पन्न होते हैं। कर्म (धर्म, अधर्म) को यह सभी प्रभावित करते हैं। कर्म का आधार प्रकृति है। जीव प्रकृति का एक विशिष्ट अंग है। आत्मतत्व जीव की विशिष्टता है, जो प्रकृति से परे है। प्रकृतिवश असंख्य प्रकार के कर्म होते रहते हैं। काम, अर्थ और धर्म के सेवन के लिए इन कर्मों की उपासना करनी पड़ती है। इनसे अनेक प्रकार के द्वन्द्वों– राग-द्वेष, सुख-दुःख, लाभ-हानि इत्यादि की उत्पत्ति होती है। यही त्रिगुणात्मिका प्रकृति की लीला कही जाती है। जीव इसी

में बँधा हुआ संसृति-क्रम में कभी सुखी, कभी दुःखी होता है। किन्तु यह जीव का अभीष्ट नहीं है।

धर्म ही क्यों उपास्य है? अब इस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता है। अर्थ और काम को नियंत्रित रखने तथा समाज में शान्ति एवं व्यवस्था के लिए धर्म की आवश्यकता होती है। यह इस प्रश्न का एक उत्तर है, जो सामाजिक आधार पर धर्म-पालन को उचित ठहराता है। इसका दूसरा उत्तर भी है। प्रकृति के तीन गुण सत, रज एवं तम जीव को बन्धन में डालते हैं। धर्माचरण के द्वारा तमोगुण का त्याग एवं सत्व की प्राप्ति संभव है। सत्व में ज्ञान, आनन्द इत्यादि अनेक सद्‌गुण निहित हैं। इन्हें प्राप्त करके इनमें सुख न लेकर सत्व-गुण के साथ ही रजोगुण का त्याग करना अभीष्ट है। रजोगुण के शान्त होने पर अकर्म की स्थिति आती है। चूंकि कर्म धर्म के लिए अनिवार्य है अतः अकर्म की स्थिति में धर्म-अधर्म दोनों छूट जाते हैं। यह निस्त्रैगुण्य (विधि-निषेध रहित) की अवस्था कही जाती है। इस स्थिति में प्रकृति से पार जाकर आत्मा अपने सहज स्वरूप को प्राप्त करता है, जिसे मोक्ष कहते हैं। यही सबका अभीष्ट है। यह निरपेक्ष स्थिति है और क्रिया रहित होने के कारण समस्त द्वन्द्वों से मुक्त है। इसकी प्राप्ति धर्म के सहारे होती है इसलिए धर्म ही ग्राह्य है।

यह शंका हो सकती है, कि पहले तमोगुण का त्याग, तत्पश्चात् सत्व और में रजोगुण का त्याग करने तथा इसके लिए कठोर धर्माचरण करने के बजाय आरम्भ में ही सभी गुण क्यों न त्याग दिये जायँ और सद्यः मोक्ष प्राप्त हो जाय। यह शंका निराधार है कयोंकि ऐसा संभव नहीं है। तमोगुण के रहते बुद्धि निर्मल नहीं हो सकती बिना निर्मल-बुद्धि रजोगुण और सांसारिक भोग नहीं छूट सकते। इसलिए पहले सत्व में स्थिति और तब निस्त्रैगुण्य, यही मार्ग है। इसके लिए धर्माचरण आवश्यक है।

अधर्म की निन्दा करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। अनुपयोगी होने के कारण वह त्याज्य है। अधर्म से तमोगुण की वृद्धि और बुद्धि का क्षय होता है। अनेक प्रकार के दुखों को भुगतने के बाद पुनः अधर्म से धर्म पर (क्रिया-प्रतिक्रिया सिद्धान्त से) आना ही पड़ता है। तमाम दुःखों को भोगने के बाद वही बात माननी ही है, तो पहले ही धर्म-परायण बनना और निःश्रेयस प्राप्त करना ही बुद्धिसंगत है।

परम-पुरुषार्थ और जीव का अभीष्ट मोक्ष है। इसका स्वरूप शास्त्रों में वर्णित है। मोक्ष, पत्थर, लकड़ी या बुझे दीपक की तरह अचेतन और शान्त अवस्था नहीं है, अन्यथा किसी को वह अभीष्ट न होता। उसको तो सम्यक वही जानता है, जो उसे प्राप्त करता है। मुक्त पुरुष को 'स्वरूप में स्थित बताया गया है। 'स्वरूप' 'सच्चिदानन्द' है। शक्ति, ज्ञान और आनन्द की अनन्तता से युक्त वह

दिक्-काल की अवधि से परे, निरपेक्ष और अनन्त हो जाता है। स्वरूप में अभेद होने से वह परमात्मा हो जाता है। असीम शक्ति, ऐश्वर्य, प्रभुता, सर्वज्ञता एवं आनन्द कौन नहीं चाहता? इसीलिए मोक्ष परमसाध्य है। इसी के लिए लोग राज्य छोड़कर तपस्वी हो जाते हैं और संस्कार के अनुसार अनेक जन्मों तक तपस्या में संलग्न रहते हैं। यह सब धर्म के माध्यम से ही संभव होता है।

अनन्तता, पिण्ड ब्रह्माण्उ की एकता, पूर्णत्व और उससे अनेक पूर्ण पिण्डों का उद्‌भव तथा फिर भी पूर्ण का अवशिष्ट रहना, इत्यादि बातें सामान्य बुद्धि से परे हैं। इनको समझने के लिए मोक्ष और धर्म में भी विश्वास उत्पन्न होगा। इसके लिए निर्मल बुद्धि, सात्विक श्रद्धा और तपस्या की आवश्यकता है। अनन्तता को तथाकथित धर्म गुरुओं की अपेक्षा गणित का विद्यार्थी अधिक समझता है। एक को एक से सहस्त्र बार जोड़ने पर एक सहस्त्र होता है अनन्त बार जोड़ने पर वह एक न होकर अनन्त ही होता है। अनन्त में एक घटाने पर भी अनन्त ही बचता है। एक का महत्व है, किन्तु वह अनन्त को लेशमात्र भी घटा बढ़ा नहीं सकता। अनन्त में मिलकर एक भी अनन्त ही हो जाता है। अनन्त में से अनन्त निकालने पर शून्य नहीं होता है, बल्कि अनिर्वचनीय हो जाता है, जो कि अनन्त की ही तरह दुर्बोध है। जोड़ को सरल करने के लिए गुणा ओर घटाने को सरल करने के लिए भाग की क्रियाएँ होती हैं। अनन्त में अनन्त से गुणा या भाग करने पर गुणक, गुणित, गुणनफल या भाजक, भाज्य, भजनफल सब बराबर ही रहते हैं। पिण्ड ब्रह्माण्ड की एकता इसी प्रकार जानी जा सकतीहै। इसे सूक्ष्म-विधि से युक्त दार्शनिक समझता है। मोक्ष का स्वरूप और उपयोगिता तथा एतदर्थ धर्म की अपरिहार्यता उसी मनीषी से ज्ञात हो सकती है। जिसके लिए मोक्ष-मार्ग अभीष्ट न हो, उसके लिए अधर्म और धर्म बराबर हैं।

धर्म और अधर्म प्राकृतिक हैं। देश-काल के अनुसार यह प्रकट और लुप्त होते रहते हैं। जब जीव अपने स्वरूप को पाने का इच्छुक होता है तब वह प्रकृतिजय करके अधर्म को रोकता है और धर्म के सहारे तीनों गुणों का अतिक्रमण करके निर्द्वन्द हो जाता है। इस साधना के लिए धर्म की परम-उपयोगिता है।

मध्यममार्गी धर्म और अधर्म दोनों के सन्तुलन से निर्वाण की कल्पना करते हैं। सन्तुलन में दोनों का त्याग और ग्रहण आवश्यक है। किन्तु सन्तुलन एक तो बड़ा कठिन है, दूसरे यह अस्थायी होता है और तीसरे यह केवल सत्व प्राप्ति तक ही उपयोगी होता है। प्रकृति की गोद में रहकर उसी को समाप्त करना सम्भव नहीं है। अनेक व्यवधानों में से एक के भी उपस्थित होने पर सन्तुलन बिगड़ सकता है, और पुनः भव-चक्र आरंभ हो जाता है। मुक्ति, ज्ञान

से होती है, जिसके लिए तमोगुण का नाश करना आवश्यक है। मध्यममार्ग में तमोगुण विद्यमान रहता है, जिससे पूर्णज्ञान संभव नहीं हो पाता। अतः इस मार्ग से अनन्त मार्ग की आशा नहीं की जा सकती। यह तो निवृत्ति मार्ग से ही प्राप्य है जिसके लिए धर्म ही प्रथम सीढ़ी है।

जिसका रजोगुण शान्त हो गया है,उसे बुद्धियोग प्राप्त होता है। ऐसा व्यक्ति द्वन्दों से रहित, सर्वत्र, सर्वदा समभाव होकर ज्ञानी कहलाता है। ज्ञानी के लिए कुछ भी करणीय या प्राप्य नहीं रह जाता। ऐसे गुणातीत पुरुष के लिए आचार-संहिता तैयर करना आस्यास्पद है। ''निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां का विधिः को निषेधः'' ऐसे पुरुष को निष्कामकर्म के लिए कोई प्रेरित करे तो कहाँ तक समीचीन है। लोक-संग्रह के कर्म सत्व और रजस् गुणों के रहने तक ही संभव है। लोक-संग्रह को पूर्णज्ञानी का कर्तव्य मानना असंगत है; क्योंकि इसका उद्देश्य सत्व की प्राप्ति होता है, और पूर्णज्ञानी तो इससे ऊपर की अवस्था 'मोक्ष' को प्राप्त कर चुका होता है। धर्माचरण की ऊँचाई पर पहुँचने तक तो लोक-संग्रह कर्तव्य है, किन्तु जहाँ त्रिगुणातीत की स्थिति है, वहाँ सभी विधि-निषेध असंगत हैं। परमात्मा से कोई मात्र लोक रंजन की अपेक्षा करे तो मूर्ख ही समझा जायेगा, क्योंकिवह तो उद्भव पालन और लय तीनों का कर्ता, और फिर भी सर्वथा अकर्ता और सबसे परे है। ज्ञानी परमात्मा होता है, और धर्म-अधर्म के ऊपर होता है। चूंकि ज्ञानी धर्म के रास्ते से ही उस स्थिति तक पहुँचता है, अतः उसकी उपस्थिति मात्र से धर्मव्यवस्था बनी रहती है। किन्तु यह सहज ही हो जाता है, और इसके लिए उसे प्रयास नहीं करना पड़ता। छूटे हुए बाण की तरह नियत दूरी तय करने के लिए उसे शरीर यात्रा करनी पड़ती है, और प्रारब्ध के समाप्त होने पर वह अनन्त में लीन हो जाता है। धर्म और अधर्म में अन्तर यहाँ स्पष्ट हो जाता है। धर्म नाव की तरह पार उतार कर अपना कार्य समाप्त समझता है, जबकि अधर्म कांटे की तरह अपनी तरफ खींचता है, या टूटकर साथ में लगा हुआ कष्ट देता है। धर्म से प्राप्त मुक्ति के बाद भी लोक-संग्रह का कार्य लगा ही रह जाय, तो नाव यात्री के लिए भारी बोझ बन जायेगी। यह तो अधर्म का गुण है। धर्म तो निर्विशेष अवस्था 'मुक्ति' तक जीव को पहुँचाकर स्वयं को कृतकृत्य समझता है।

मोक्ष के लिए दो मार्ग धर्म-संगत बताये गये हैं। ये हैं–कर्मयोग एवं ज्ञानयोग। वास्तव में ये दोनों एक बड़े मार्ग के दो भाग हैं। कर्मयोग (अविद्या की उपासना) मृत्यु को पार करने ओर ज्ञान योग (विद्या की उपासना) अमृतत्व की खोज के लिए है। कर्मयोगी ज्ञानयोग से होता हुआ मुक्तिप्राप्त करता है। पूर्वजन्मों में जिसने कर्मयोग को साध लिया है, उसे ज्ञानयोग ही अपेक्षित रह जाता है, क्योंकि आधा रास्ता तो वह पहले ही तय कर चुका होता है। लोक-

संग्रह के कार्यों से कर्मयोग सिद्ध होता है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन और योग (पातंजल) से ज्ञान योग का रास्ता प्रशस्त होता है। यह कार्य संवेग के अनुसार अल्प या दीर्घ काल में हो सकता है। तीव्र संवेग होने पर मुक्ति आसन्न बतायी गयी है। अभ्यास और वैराग्य संवेग के दो चरण हैं। इस प्रकार कर्मयोग से ज्ञानयोग और उससे योगक्षेम रहित सच्चिदानन्द स्वरूप प्राप्त होता है। यह स्थिति धर्माचरण से ही उत्तरोत्तर उन्नति करते हुए अधिगत होती है। अत; धर्माचरण स्वयं परम साध्य तो नहीं है, किन्तु वह परमसाध्य 'मोक्ष का एकमात्र साधन होने के कारण अनिवार्यत; उपास्य है।

अध्यात्म और धर्म में अधर्म

धर्म का स्वरूप बड़ा गूढ़ है। इसी कारण से रामायण, महाभारत काल में भी अधर्म को धर्म के रूप में प्रतिष्ठित करके महापुरुषों ने भी अपना काम चलाया है। यह परम्परा यदा-कदा विपत्ति में पड़े महापुरुषों की रही है, किन्तु इस समय मिथ्याचारी लोगों का यही व्यवसाय हो गया है। वे आदि, मध्य और अन्त में तो हैं ही, पूर्णरूपेण अधर्म का आश्रय लेकर अर्थ और काम के लिए कार्य कर रहे हैं किन्तु सभी कार्यों को धर्म का आवरण देकर जनता को गुमराह कर रहे है।। इतना ही नहीं दूसरा आवरण और है जो धर्म और अधर्म दोनों को ढके है, वह है–अध्यात्म। अध्यात्म के नाम पर धर्म के मूलभूत कर्मों की आवश्यकता ही समाप्त करते हुए नवीन आचार्य ''विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि, शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः' जैसी उक्तियाँ कहते हुए आचार को गर्त में ढकेल रहे हैं।

अध्यात्म सब का विषय नहीं है। इसके लिए पात्रता आवश्यक है। धर्माचरण से पात्रता प्राप्त होती है। उद्देश्य होने के कारण प्रारम्भ में ही आचरण में अध्यात्म का हस्तक्षेप समीचीन नहीं है। जीवन की परिणति मृत्यु है, किन्तु असमय में मरना अच्छा नहीं समझा जाता है। सबका समय और स्थान अलग-अलग है। धर्म और अधर्म कर्म के विषय हैं तथा व्यक्ति और समाज दोनों से सम्बन्ध रखते हैं किन्तु अध्यात्म अकर्म का विषय है तथा व्यक्ति से सम्बन्धित होता है। तीनों का अन्तर इनका स्थान, समय तथा फल जानना बड़ा आवश्यक है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए यह लेख एक समाजशास्त्रीय प्रयास है।

बुद्धिमानी और मनमानी में बड़ा अन्तर है यह प्रायः सभी स्वीकार करते हैं। लेकिन बुद्धि और मन में क्या अन्तर है यह वही बता पायेगा जिसने अन्तःकरण के विषय में चिन्तन किया हो। अन्तःकरण के चार भाग हैं–मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। पाश्चात्य मनोविज्ञान तीन भाग जानता है–भावना, इच्छा और ज्ञान। यह तीनों अहंकार, मन और बुद्धि के विषय हैं। चित्त जो सम्पूर्ण विषयों का आगार है, वह पश्चिम में तीन चेतन की तरह मान्य है-चेतन, अब चेतन अचेतन। हमारे यहाँ विचारकों का मनोविज्ञान सहस्रों वर्ष पहले पूर्णता प्राप्त कर चुका है। इसका कारण है आध्यात्मिक चिन्तन। मन, बुद्धि तथा अहंकार सामान्य चिन्तन में अलग-अलग दिखाई पड़ते हैं तथा चित्त के विषय भी इन्हीं के माध्यम से प्रकट होते हैं। स्वयं चित्त गूढ चिन्तन का विषय है। यह जानकर ही योगशास्त्र (पातंजल) चित्त वृत्तियों के नियमन के लिए बनाया गया है।

बाह्यकरण को शुद्ध करने एवं उपयोगी बनाने के लिए तथा अन्त;करण को अद्वैत ज्ञान तक पहुँचाने के लिए साधनभूत अनेक शास्त्र बनाये गये। अध्यात्म चिन्तन से ही अद्वैत–''अहं ब्रह्मास्मि' तथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' आदि की सिद्धि मिली।

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पिण्ड के अन्तर्गत समाहित है–

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

उपर्युक्त श्रुति से यह अपूर्व ज्ञान होता है कि पूर्ण ब्रह्म से पूर्ण सृष्टि होती है तथा सृष्टि के होने पर भी ब्रह्मपूर्ण रहता है। आध्यात्मिक साधना से भी पूर्ण की साधना सम्भव है यह श्रुति से ही प्रमाणित है। उद्‌भव, स्थिति, प्रलय, उच्चतम सत्ता तथा उच्चतम गति (परम पुरुषार्थ) के विषय में श्रुतिवाक्य सामान्य अर्थ में समझ में नहीं आते है।। ब्रह्म सत् और असत् दोनो है, यह आत्मा ब्रह्म है; यह सब कुछ ब्रह्म है, विश्व में नानात्व नहीं है इत्यादि वाक्यों का अर्थ आध्यात्मिक चिन्तन से ही समझ में आ सकता है। इन्द्रिय मन और बुद्धि के विषयों का अर्थ आध्यात्मिक चिन्तन से ही समझ में आ सकता है। इन्द्रिय, मन और बुद्धि के विषयों से समता करके इन वाक्यों को नहीं समझा जा सकता है। श्रुति वाक्य होने के कारण ये पूर्णरूपेण विश्वसनीय है अतः मनन तथा निदिध्यासन से पूर्णज्ञान ही परम पुरुषार्थ साबित होता है। अध्यात्म विद्या की यह उपयोगिता सिद्ध है। किन्तु यह विद्या जितनी उपयोगी है, अल्प ज्ञान होने पर उतनी ही हानिकारक भी हो सकती है। कठोपनिषद् में इस विषय को बहुत स्पष्ट किया गया है। अपात्र को यह विद्या नहीं दी जाती है। आजकल अपात्रों का विषय होकर अध्यात्म विद्या उपहासास्पद एवं समाज के लिए मोहावरण बनी हुई है। पात्र कौन है? यह बड़ा विषय है किन्तु थोड़े में कहा जा सकता है कि जिसने धर्म का आचरण करके अपने को पवित्र कर लिया है, जिसकी बुद्धि सत्व में स्थित है तथा मन समाहित होकर बुद्धि में प्रविष्ट हो गया है; जिसकी चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध हैं वही अधिकारी है। वैराग्य इसका लक्षण है। मुमुक्षु के लक्षण–षट्‌सम्पति आदि बताये गये हैं। ऐसे व्यक्ति के लिए बुद्धिमानी ही मनमानी है अर्थात् स्वभावतः वह धर्म का पालन करता है। ऐसे अधिकारी के लिए अध्यात्म चिन्तन ही एक कार्य रह जाता है, अतः गुरु उसे सोत्साह विद्या देता है। अन्यथा होने पर गुरु तथा शिष्य दोनों अधोगामी होते हैं। इस विद्या की सारी महिमा स्वीकार करते हुए, इसे, सर्वश्रेष्ठ विद्या मानते हुए भी सामाजिक कार्यों में अध्यात्म की बात का आवरण देना मिथ्याचार ही माना जायेगा, क्योंकि यह परम्परा और व्यक्ति का विषय है, न कि सर्व सामान्य का। 'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये' से मानना चाहिए कि इस विषय का

अधिकारी बहुत दुर्लभ, लाखों में एक है। अकर्म का विषय होने के कारण इसे कर्म से अलग रखा जाय तो धर्म और अधर्म के निर्णय में आसानी होगी। अध्यात्म तो स्वभाव है, अतः अभ्यास ओर वैराग्य से दृढ़ भूमित्व प्राप्त करने पर स्वतः कर्ममार्ग छूट जायेगा, इसके लिए उपदेश देने वाले व्यर्थ श्रम करते हैं। वे धर्मविरोधी और मिथ्याचारी हैं। उपदेश और अनुशासन धर्म के लिए ही किया जाना चाहिए। अमेरिका में स्वामी रामतीर्थ से किसी ने प्रश्न किया कि क्या यही अध्यात्म जिसका आप वर्णर कर रहे हैं, भारत की गुलामी और विपन्नता का कारण है? उन्होंने इसका ठीक जवाब न देकर भविष्य पर टाल दिया। शायद इसी कारण अमेरिका से लौटकर वे हिमालय में रहने लगे।

ऊपर अध्यात्म विद्या का महत्व एवं उसका समाज पर पड़ने वाले सम्भावित कुप्रभाव को स्पष्ट किया गया। आज के समाज में कुप्रभाव की सम्भावना बढ़ गई है अतः अध्यात्मवादियों से सतर्क रहते हुए अध्यात्म चिन्तन के लिए समयोचित विधि खोजनी चाहिए। हमारे विचार से तीन साधन आज भी मौजूद हैं। प्रथम सदाचारियों की संगति करना। सदाचारी स्वभावतः अध्यात्मवादी होता है। द्वितीय ऋषियों के ग्रन्थों को पढ़ना। इन ग्रन्थों में भ्रम नहीं है। न समझ में आने पर भी मान लेने में हानि की संभावना नहीं रहती है। तृतीय अच्छे विषय (सामाजिक या व्यक्तिगत) तथा अन्तःकरण के तत्वों का चिन्तन और परिमार्जन। तीनों उपाय अपने वश में हैं। इनके करते रहने पर कोई मिथ्याचारी गुमराह नहीं कर सकता और गुरु, पात्रता होने पर मिल जायेगा या शिव, जो अहंकार रूप में अन्दर है, मार्ग प्रशस्त कर देंगे।

इस तरह अध्यात्मवादियों से खतरा समाप्त होता है तो अब धर्मवादियों को समझना चाहिए। धर्म जान लेने पर अधर्म जानना शेष नहीं रह जाता है, किन्तु रस्सी के स्थानपर साँप न पकड़ में आये अतः रस्सी और साँप दोनों को जानना आवश्यक है। दोनों न जानने पर मुनीनामपि मतिभ्रमः हो जाता है। यही स्थिति आजकल है। हमाारा देश धर्मप्राण है। सामान्यतः सभी आदमी धर्म का ही आचरण करना चाहते हैं। धर्म, परिभाषा के अनुसार 'निःश्रेयस् ओर अभ्युदय' देता है, आचरण से प्राप्त होता है और समाज को धारण करता है। शायद ही कोई व्यक्ति कहे कि वह धर्म तथा उसके फलों को नहीं चाहता है। ऐसा कहने वाला मन्दमति होगा और जीवन के किसी क्षेत्र में कुछ नहीं कर रहा होगा। चाहते हुए भी लोग धर्म क्यों नहीं जान सकते और क्यों नहीं अपना सकते हैं, यह एक कठिन प्रश्न है।

इस प्रश्न का उत्तर एक वाक्य में यह है कि भ्रम वश धर्म के स्थान पर अधर्म का ग्रहण करने के कारण धर्म का फल नहीं मिल रहा है। भ्रम का कारण अज्ञान और मिथ्याचार है। वेद को न जानने वालों ने उतनी हानि समाज की

नहीं किया है, जितनी जानकर उसका गलत अर्थ (अपने क्षुद्र स्वार्थों के लिए) लगाने वाले लोगों ने किय, है। यही कारण है कि शास्त्र, आचार्य, गुरु, नायक (नेता), ब्राह्मण, क्षत्रिय, भगवान आदि शब्द समाज में अर्थहीन हो गये है।। शास्त्रों का अर्थ लगाने में और व्यवहार में इन शब्दों के अर्थ में जमीन आसमान का अन्तर आ गया है। ऐसी स्थिति में शास्त्रों का मनमाना अर्थ समाज को दिशाहीन करता है। कार्याकार्य की व्यवस्था में शास्त्र प्रमाण कहे गये हैं। शास्त्रों का अर्थ ही भिन्न हो गया तो समाजके व्यवहारविद् लोगों को भी शास्त्रार्थ में मात खानी पड़ रही है। लेकिन इस स्थिति की औषधि है। धर्म के स्वरूप और फल को जाननेपर मिथ्याचार का पर्दा उसी तरह हट सकता है जैसे सूर्य के उदित होने पर अंधकार समाप्त हो जाता है।

सम्पूर्ण धर्म का मूल वेद है। इसके बाद ऋषियों के द्वारा निर्मित शास्त्रोंऔर स्मृतियों से धर्म का ज्ञान होता है। सभी लोग शास्त्रों से धर्म को नहीं जान सकते हैं, अतः तर्क का सहारा लिया जाता है। तर्क से गलत अर्थ लगाने पर व्यवहार का सहारा लेना पड़ता है। लोक और वेद दोनों प्रमाण हैं, तर्क से सामंजस्य होता है। व्यवहार एक तरह से आज कल का उपयोगितावादी दर्शन है। शास्त्रों को सविधि पालन किया जाय तो व्यक्ति तथा समाज के लिए निःश्रेयस् और अभ्युदय का मार्ग प्रशस्त होगा। मार्ग प्रशस्त होता है, तभी समझना चाहिए कि शास्त्र और तर्क दोनां ठीक हैं। लेकिन शास्त्र तो ठीक है, ऐसा मान लिया गया है अतः तर्क और विधि ही परीक्षणीय होते हैं, जिनकी कसौटी व्यवहार है। व्यवहार के आधार पर संस्कृति और सभ्यता बनी है। अतः संस्कृति को सुरक्षित रखना कर्तव्य है जो धर्म से ही संभव है। पुनः वही प्रश्न खड़ा होता है–धर्म क्या है और उसका क्या फल है?

इसका उत्तर है–शास्त्रों का आदेश धर्म है, जिसका सद्यःफल शक्ति और सात्विक श्रद्धा है। शक्ति और श्रद्धा से विश्वास उत्पन्न होता है, विश्वास से ईश्वर का ज्ञान होता है। और इस ज्ञान को परम पुरुषार्थ कहा गया है। शक्ति और श्रद्धा धर्म के फल हैं, यह मानने पर भी शंका होती है कि अधर्म से भी शक्ति मिलती है तथा श्रद्धा तो सभी प्राणियों में होती ही है। ''श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः''गीता के इस वाक्य से स्पष्ट है कि सभी प्राणी श्रद्धावान होते हैं, जिसकी जैसी श्रद्धा है, वह वैसा होता है। चोरी, अनाचार तथा अधोगमन भी आदमी अपनी श्रद्धा के अनुसार ही करता है। बिना शक्ति के कोई कार्य सम्भव नहीं है अतः अधर्मी भी शक्ति तथा श्रद्धा से परिपूर्ण होता है। तब धर्म की क्या आवश्यकता रह गई?

यह प्रश्न धर्म की पूरी परिभाषा न जानने से उत्पन्न होता है। श्रद्धा सात्विक, राजस और तामस तीन तरह की बताई गई है। धर्म से सात्विक श्रद्धा उत्पन्न होती

है जो ऊर्ध्वगामी बनाती है, ज्ञान देती है तथा अधर्म से तमास श्रद्धा होती है जो अधोगामी बनाती है, अज्ञान देती है। शक्ति, जो राजस तत्व का रूप है, दोनों दशाओं में मौजूद रहती है। यदि शक्तिनहीं है तो सात्विक या तामस दोनों श्रद्धा निष्क्रिय हैं। अतः धर्म से सात्विक श्रद्धा प्राप्त होती है, यह मत है। यदि धर्म से इनका प्रादुर्भाव व्यक्ति और समाज में नहीं हो रहा है, तो समझ लेना चाहिए कि वह धर्म मिथ्याचारियों का है और वास्तव में अधर्म है। उपयोगिता के आधार पर व्यवहारविद् लोगों का बनाया गया यह अन्तर बड़ा स्पष्ट है और मार्गदर्शक रूप में स्वीकार किया जा सकता है। धर्म-प्रवर्तकों तथा आचार्यों को समझने के लिए उनका जीवन तथा विशेष रूप से उनका अन्तिम समय जान लेना आवश्यक होता है। बहुत नाम या कीर्ति प्राप्त करने के कारण वे सर्वथा मान्य नहीं माने जा सकते। सन्त लोग परीक्षा करके नये और पुराने में से सत्य गहण कर लेते हैं। विस्तार के द्वारा विवाद उत्पन्न करना न चाहते हुए इतना ही कहा जा सकता है कि सत्य मूलक धर्म को जानने के लिए याज्ञवल्क्य वशिष्ठ, व्यास, बुद्ध, शंकर, कबीर, नानक, रामानुज, तुलसीदास, दयानन्द, विवेकानन्द, रामतीर्थ, अरविन्द तथा मूसा, ईसा, मुहम्मद आदि महापुरषों का जीवन तथा उनका ही अन्तिम आचरण समझा जाय तो पर्याप्त सामग्री मिल जायेगी।

वर्तमान समय में व्याप्त धर्म के विषय में गुणों का विवेचन कर लेना असंगत नहीं होगा। धर्म के नाम पर मठ, मन्दिर, कीर्तन, प्रवचन आदि दिनोंदिन बढ़ते जा रहे हैं। लाउडस्पीकरों से प्रचार होता है। राजनीति में भी तन्त्र और धर्म का पूर्ण हस्तक्षेप है। सम्प्रदाय जाति तथा वर्ग सम्बन्धी संगठन धर्म के नाम पर बनाये जा रहे है।। धर्म-परिवर्तन तथा उसे रोकने के लिए अनेक उद्यम चल रहे हैं। सभी मानेंगे कि यह सही धर्म नहीं हैं। धर्म तो संगठन का कार्य करता है, किन्तु विघटन होते हुए देखकर भी वर्तमान धर्मों को सही मानना अभाग्यपूर्ण है। स्पष्ट है कि वांछित शक्ति और सात्विक श्रद्धा का अभाव होता जा रहा है अतः धर्म के नाम पर अधर्म का ताण्डव हो रहा है। बौद्ध, जैन सूफी सम्प्रदाय तथा अन्य बहुतेरे धर्मों के प्रभाव से भारत का सनातन वैदिक धर्म रूपान्तरित हो गया तथाकथित भक्तों और ज्ञानियों ने कर्म मार्ग को छोड़ने का प्रचार आरम्भ कर दिया।

शक्ति कर्म के रूप में एवं कर्म शक्ति के रूप में परिवर्तित होते हैं यह वैज्ञानिक रूप से भी सिद्ध हैं। जब कर्म नहीं रह गया तो शक्ति कहाँ से मिलेगी। व्यवहारे भाट्ट नयः कहते हुए शुद्ध ज्ञानी शंकराचार्य ने भी कर्म मार्ग की सराहना किया था। उन्होंने परमार्थ क्या है इसी को प्रतिष्ठित किया था और कर्म सम्बन्धी सभी सम्प्रदायों को व्यवहारतः सही बताया था। शंकराचार्य को न समझकर उनके तथाकथित अनुयायी भी भक्ति और ज्ञान मात्र का प्रदर्शनात्मक

प्रचार करते हुए अनर्थ कर रहे है। इस प्रचार से धर्म के प्रति श्रद्धा तो कुछ होती है किन्तु शक्ति के अभाव में वह भी समाप्त हो जाती है, क्योंकि 'देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती' (मानस) ''शक्ति को प्रणाम करना इन्द्र को प्रणाम करने के बराबर है'' (महाभारत) के अनुसार शक्ति के दिखाई पड़ने पर श्रद्धा बढ़ती है अशक्त के प्रति समाप्त हो जाती है।

ऐसी स्थिति में धर्म के प्रति श्रद्धा में कमी हो जाय तो समाज का क्या दोष है। प्रकृति अपना कार्य करेगी ही। संस्कृति तो बुद्धिजीवियों के भरोसे चलती है अन्यथा प्रकृति की व्यापारलीला सबको ग्रस्त करके समाप्त कर देगी। ज्ञानी पुरुष प्रकृति पर जय करके सुसंस्कृत समाज बनाता है। ऐसे ही लोगों का अनुसरण करके कर्मनिष्ठ लोग संस्कृति को अक्षुण्य रखते हैं। इतिहास-पुराण एक पवित्र निधि है, जो संस्कृति को संजीवनी देता है, इसको झुठलाना अधर्म है। संस्कृति परम्परा का विषय है जिसे वैदिक कर्मयोग के द्वारा सुरक्षित रखा जा सकता है। वैदिक कर्मयोग स्थान और समय के अनुसार बनाया गया है अतः स्थायी है। वर्ण और आश्रम व्यवस्था इसकी रीढ़ है। वर्णों के नियामक चार तत्व हैं–जाति, धर्म, गुण और स्वभाव। आश्रम व्यवस्था समय को देखकर अधिकारी भेद से है। इस तरह देश-काल के सामंजस्य के साथ बनायी गयीवैदिक व्यवस्था इस देश के लिए सनातन है। इससे यज्ञों का विधान होता है, यज्ञों से शक्ति और शक्ति को देखकर धर्म के प्रति श्रद्धा, इस तरह एक दूसरे के द्वारा प्रेरित होकर कर्म-मार्ग से उत्तरोत्तर प्रगति होती है। वर्तमान व्यवस्था कर्म-मार्ग से ही पूर्ण होगी।

यह सभी मानेंगे कि धर्म देश और काल के अनुसार होता है, अन्यथा अनुपयोगी होने से समाप्त हो जाता है। बाह्य प्रभावों के कारण परिवर्तित हुआ हमारा देशीय धर्म यहाँ के लिए उपयोगी नहीं रह गया। बाहरी लोगों के लिए भी जब तक वे अपने को यहीं का नहीं मानते हैं, यहाँ का धर्म अनुपयोगी है। ऐसी स्थिति में यहाँ के लोगों को अपना मूल धर्म पुनः पहचाना और आवश्यक परिष्कार के साथ मानना चाहिए, यही अभिमत है। धर्म धरती से सम्बन्धित होता है, इस बात में विवाद नहीं होना चाहिए, क्योंकि सभी धर्मों के ग्रन्थ यह मानते हैं। हाँ, कुछ सार्वभौम तत्व सभी धर्मों में होते हैं, यह सभी धर्मों में मान्य है; अत; धर्म के इस भाग के लिए प्रचार होना चाहिये। विशेष धर्म आचरण और अनुशासन के लिए है, प्रचार की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है। धर्म का प्रचार राजनीति है तथा यम, नियम आदि सदाचार का प्रचार धर्म है।

कभी-कभी अच्छे कार्य को सविधि करते रहने पर भी फलोदय न होने के कारण धर्म के प्रति श्रद्धा घटने लगती है। ऐसे अवसर पर शास्त्र के प्रमाण और महापुरुषों की जीवनियों को आदर्श मानकर कर्मयोगी विचलित नहीं होता है।

क्रिया-योग के तीन अंग हैं–तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान, यह तीनों अमोघ हैं। मन, वाणी और शरीर से किया हुआ तप मनोबल देता है, जिससे अर्थ और काम कीप्राप्ति तथा मन की एकाग्रता मिलती है, प्राण बलवान होते हैं। स्वाध्याय से बुद्धिबल बढ़ता है इससे स्मृति, धृति, क्षमा आदि के साथ मन का उन्नयन होता है। ईश्वर प्राणिधान से आत्मज्ञान होता है, व्यक्ति अध्यात्म का अधिकारी बनता है। वर्णाश्रम के अनुसार सम्पादित यह क्रियायोग ऐहिक अभ्युदय तथा आमुष्मिक् निःश्रेयस दोनों का साधक है।

अध्यात्म और धर्म के स्वरूप, देश, काल तथा फल के विषय में जान लेने पर भी प्रकृतिवश आदमी अधर्म का शिकार बनता रहता है। इसलिए धर्म के पालन में सदैव सचेष्ट रहना पड़ता है। धर्म के सरलीकरण का प्रश्न नहीं है। सरल बनाने के प्रयास में अधर्म का प्रवेश कराकर धर्म को मनोरंजन का विषय बनाना बड़ा घातक है। मशीन का हर अंग मजबूत होने पर भी एक अंग के अभाव में उसका कार्य बन्द हो जाता है। इसलिये सांगोपांग धर्म का पालन आवश्यक है। पश्चिम में अनेकविध धर्मों का प्रचार हुआ। फ्रायड ने काममूलक, मार्क्स ने अर्थमूलक, नीत्से ने शक्ति मूलक, काण्ट ने नैतिकता मूलक धर्म की कल्पना की। वास्तव में यह सब धर्म के अंग मात्र हैं। सभी को मिलाकर (समन्वय से) अभ्युदय के साथ निःश्रेयस, तक पहुचाना जिससे सम्भव हो, वही धर्म है। धर्म शक्ति और श्रद्धा के साथ द्विपद है, ज्ञान, यज्ञ, तप तथा दान के साथ चतुष्पाणि है। सामाजिक समस्याएँ अत्याचार, उपद्रव, भ्रष्टाचार, कुशासन आदि तथा जनसंख्या, भुखमरी आदि दैवी समस्याएँ भी इसी धर्म के द्वारा दूर हो सकती है। रोग, चिन्ता, अवसाद के लिए तो वह रामबाण है। इस तरह दैहिक; दैविक भौतिक तीनों ताप इससे शमित हो सकते हैं। इसके अनन्तर ही अध्यात्म में प्रवेश भी संभव है।

अधर्म का सबसे बड़ा रूप मिथ्याचार है। इसमें बाह्याचरण और वास्तविकता विपरीत दिशा में होते हैं। दुराचार पर निग्रह हो सकता है, किन्तु यहमिथ्याचार समाज का कठिन शत्रु है। इससे व्यक्ति तथा समाज दोनों दु;ख, अज्ञान, शोक, मोह, भय आदि तामसी गुणों से ग्रस्त होकर अधःपतित हो जाते हैं। इस अधर्म का स्वरूप और फल आजकल प्रकट है, अतः इसके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है। पलायनवादी प्रवृत्तियों से उत्पन्न तथाकथित आध्यात्मिकता के द्वारा या प्रकृतिजन्य दोषों को छिपाने के लिए मिथ्याचार के माध्यम से धर्म को आघात न पहुँचाया जाय तो सदाचार तथा क्रियायोग से अनुप्राणित धर्म, योग-क्षेम का निर्वाह करेगा। वह आध्यात्मिकता का साधक तथा अधर्म का बाधक होकर समाज के लिए कामधेनु के रूप में प्रतिष्ठित होगा–'**धर्मो रक्षति रक्षितः।**'

——————

धर्माचरण—समस्याएँ और समाधान

प्रस्तुत विषय पर विचार करने पर पहला प्रश्न उपसिति होता है कि धर्माचरण कयों? जिन लोगों को अधार्मिक कहा जाता है वे धन, बल तथा पद-प्रतिष्ठा की दृष्टि से श्रेष्ठतर दिखाई पड़ रहे हैं। कहा जाता है कि उन्हीं का राज्य है और उन्हीं की वृद्धि हो रही है। जो फल धर्म का बताया गया है वही अधर्म से जब मिल सकता है तो दोनों में अन्तर क्या है? धर्माचरण के लिए तमाम संयम, त्याग व बलिदान करना व्यर्थ लगता है। जब धर्माचरण, बलहीन लोगों के संतोष का साधन-मात्र होने के कारण, संदिग्ध है, तो उसकी समस्या और समाधान की जानकारी अनावश्यक है।

यह पूर्वपक्ष एकदम प्राकृत है। इसके निरसन के लिए बौद्धिक होना आवश्यक है। अन्य जीवों की अपेक्षा मनुष्य बुद्धि में ही विशिष्ट होता है। इस विशेषता के कारण वह वर्तमान के साथ ही भूत, भविष्य को भी देखता है। लोक और वेद दो ज्ञान के साधन हैं। दोनों तरह के ज्ञान में तर्क कुछ सहायक होता है। तर्क पूर्ण विश्वसनीय नहीं होता है क्योंकि प्राक्कल्पना में च्युति होने पर (एक शून्य प्राक्कल्पित होने पर) तर्क से $2 \times 2 = 4$ के स्थान पर 40 भी सिद्ध हो सकता है। तथापि लोक, वेद व तर्क (समाज शास्त्र व इनके सम्यक् विवेचन) से हम प्राकृत से संस्कृत हो सकते हैं। यह मनुष्य की बुद्धि का परिणाम है। अन्यथा सामान्य पशु और मनुष्य में भेद नहीं रह जायेगा। अगर हम यहाँ तक सहमत हैं तो यह मानना पड़ेगा कि जंगल का नियम मनुष्य समाज में वांछित नहीं है। शेर मनुष्य की तरह धर्म पालन नहीं करता है, फिर भी वह मृगों का राजा बन जाता है। पराक्रम से भोजन, प्रतिष्ठा तथा पद सभी उसे सुलभ हो जाते हैं। शक्ति मात्र से शेर के लिए यह संभव है कयोंकि वह जंगल का निवासी है। मानव समाज भी जब जंगली हो जाता है तो उसे धर्माचरण की आवश्यकता नहीं रह जाती है। किन्तु बुद्धि मनुष्य को जंगली नहीं रहने देती है। इतिहास, ज्ञान-विज्ञान और भविष्य-ज्ञान बुद्धि से ग्राह्य है। मनुष्य सुख को स्थायी व अपरिमित (भूमा) बनाना चाहता है। धन, बल पद व प्रतिष्ठा ही सब कुछ नहीं हैं। इसके अलावा सुदृढ़ आधार न होने पर ये भी स्थिर नहीं रह सकते है।। याज्ञवल्क्य व दिलीप जैसे लोगों का संन्यास यह प्रमाणित करता है कि लौकिक सुखों का निःशंक उपभोग करने के बाद भी कुछ और प्रापणीय रह जाता है। धर्म इन दोनों में सहायक है। अतः मनुष्य के लिए बौद्धिक धर्म आवश्यक है।

मनुष्य अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों चाहता है। वर्तमान समय में जो स्थिति है उससे कदाचित् अभ्युदय (कुछ लोगों का) संभव है, किन्तु निःश्रेयस् असंभव है। वर्तमान असंतोष, रोग, व्याधि के कष्ट तथा सर्वत्र व्याप्त हाहाकार को देखते हुए जंगल के धर्म (अधर्म) के स्थान पर बौद्धिक धर्म किस मनुष्य को नहीं वरणीय लगेगा। धर्म का उद्देश्य सर्वत्र एक ही है किन्तु वह गतिशील होने के कारण विभिन्न रूपों में दिखाई पड़ता है। देश-काल की सापेक्षता धर्मा के विषय में स्पष्ट है। सापेक्ष्य होने पर भी, उद्देश्य की एकता के कारण, कुछ बातें सदैव धर्म संगत मानी जाती रही हैं। शास्त्रों में निहित बहुत से धर्मोपदेश– यम-नियम आदि इसी कोटि में हैं। क्या स्थायी धर्म है और क्या देश-काल के अनुसार आवश्यक है, यह दोनों जानने के लिए लोक व वेद दो प्रमाण है।। लोक को जानने के लिए (भ्रम निवारणार्थ) वेद की आवश्यकता पड़ती है, अतः वेद सर्वोपरि प्रमाण है। 'वेदोऽखिलं धर्ममूलम्' अतः वेदोद्भूत होने के कारध धर्म आचरणीय है।

मनुष्य जीवन का उद्देश्य पुरुषार्थोंगं की सिद्धि है। काम, अर्थ, धर्म व मोक्ष में से कुछ या सभी प्राप्त करने के लिए हर एक सचेष्ट है। इस चेष्टा को कर्म कहते है। शास्त्र सम्मत होने पर यह धर्म है अन्यथा अधर्म। अधर्म इसलिए कहा जाता है कि उससे पुरुषार्थ सिद्ध होना संभव नहीं है। पुरुषार्थ में सभी समान नहीं हैं। निम्न, उच्च तथा परम की श्रेणी में, तथा सूक्ष्म रूप से सहस्त्रों श्रेणियों में उन्हें विभाजित किया जा सकता है। पुरुषार्थ के अनुसार ही धर्म अभीष्ट होता है। **'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' 'धनाद्धर्मः ततः सुखम्', धर्मो रक्षति रक्षितः, 'सर्वे भवन्तु सुखिनः', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म',** इन वाक्यों को देखने पर पुरुषार्थ और तत्प्रयोज्य धर्म का उत्तरोत्तर विकास स्पष्ट होता है। पुरुषार्थ की गुरुता के आधार पर ही उसके उपासक को भी छोटा या बड़ा मानना पड़ेगा, यह बुद्धिसंगत है। पुरुषार्थ-रहित मनुष्य तथा धर्म रहित पुरुषार्थ दोनां निन्दनीय हैं। अत; पुरुषार्थ सिद्धि के द्वारा उत्तरोत्तर प्रगति करना मनुष्य का कर्तव्य है। इसके लिए धर्माचरण ही मार्ग है।

कार्य और कारण का सम्बन्ध लौकिक व्यवहार में मान्य है। विज्ञान की खोजें इसी आधार पर हो रही हैं। इस सम्बन्ध का अतिक्रमण करके अधर्म के द्वारा उन्नति और धर्म के द्वारा अवनति की कल्पना करना बुद्धि को तिलांजलि देना है। जो प्रत्यक्ष दिखाई पड़ रहा है, (जैसा पूर्व पक्ष में कहा गया) कि अधर्म से उन्नति हो रही है, दृष्टि-दोष है। मिथ्याचार धर्म नहीं है। मिथ्याचारियों पर धार्मिकों की श्रेष्ठता साबित हो रही है। आवश्यकता है कि हम पुरुषार्थ-सिद्धि के लिए शक्ति देने वाले धर्म को श्रद्धा (संभव हो तो विश्वास) के साथ अपनाएँ, उपयुक्त समय में समस्याओं को समझें तथा समाधान करें।

उपर्युक्त विवेचन से जिन्हें यह मान्य है कि धर्म से ही अभीष्ट पुरुषार्थों की प्राप्ति होती है, उनके लिए आगे का विषय ग्राह्य होगा। देश-काल के प्रभाव से अधर्म भी धर्म हो जाता है तथा धर्म अधर्म हो जात है। ऐसी स्थिति, आपत्ति के समय में व्यक्तिनिष्ठ साधना (समाधि, मोक्ष, कैवल्य आदि) से सम्बन्धित होती है। यहाँ इस विशेष स्थिति को दृष्टि में न रखकर सामान्य सामाजिक धर्म के विषय में ही लिखा जा रहा है।

महाभारत में यह बात कही गयी है कि ''राजा कालस्य कारणम्' अर्थात् राजा (शासन) ही समस्या पैदा करने और समाधान करने के लिए जिम्मेदार है। देश-काल इसमें निर्णायक प्रभाव नहीं रखते हैं। किन्तु यहाँ पर राजनीतिक दृष्टि से विवेचन भी अभीष्ट नहीं है। शुद्ध सामाजिक दृष्टिकोण से लिखा जा रहा है। समाज ही शासन का संस्थापक, है अतः वह अधिक सक्षम है।

वर्तमान समाज में मूल्य (पुरुषार्थ, इष्ट) की अवधारणा विकृत हो गयी है। पुरुषार्थों का स्तरीकरण, कुतर्कों के आधार पर मान्य न होने के कारण, सत्कार्य में श्रद्धा और विश्वास नहीं है। शक्ति सबको अपेक्षित है अत; अधिकार और कर्तव्य का झगड़ा हो रहा है। संस्कृति को ठुकराने के कारण समाज निराधार, असन्तुष्ट और भ्रमित है। कुछ लोग स्वार्थों के बस में, प्रदर्शन मात्र के लिए धर्म और संस्कृति के पुजारी है अतः धर्म के स्थान पर मिथ्याचार प्रबल हो गया है। मिथ्याचार का सहारा लेकर ही, हीनकोटि के साधनों से शक्ति प्राप्त करना तथा धर्म के नाम पर संकीर्ण सम्प्रदायों का प्रचार करना और उसी की आड़ में अपनी कुंठाओं को तृप्त करना प्रचलन में है। संक्षेप में यही सब धर्माचरण की समस्याएँ हैं। मूल्यों का स्वरूप और उनका स्तर निर्धारित करते हुए सत्य का आलोक और सदाचार के लिए प्रेरणा प्रदान करना ही समाधान है।

मूल्य से मतलब है वह कार्य या भावना जिससे उन्नति में सहायता मिले। धार्मिक, नैतिक, सामाजिक आदि विभिन्न श्रेणियों में मूल्यों को विभाजित किया जा सकता है। उच्च मूल्य से उच्चतर मूल्य और अन्त में परम मूल्य प्राप्त होता है। वर्णाक्षर सीखने वाला छात्र आगे वेदाध्ययन करके कृतार्थ होता है। ज्ञान या मोक्ष को परम मूल्य मानना संगत लगता है। स्वधर्म पालन इस दिशा में प्रथम प्रयास है। स्वधर्म सबके लिए भिन्न-भिन्न है। उसमें भी स्तर है। इस वैभिन्य के अनुसार उपासकों को अपनी स्थिति जानना तथा बड़े-छोटे की मान्यता धर्माचरण के लिए प्रेरणा का स्रोत है। यही सामाजिक गठन को स्थिर रखता है। कुछ लोगों के द्वारा भी यदि सही आचरण किया जाता है तो वह मापदण्ड बन जाता है और मिथ्याचारियों का पर्दाफाश होता रहता है। इष्ट का स्तर जानने के बाद आचरण करना ही समस्याओं का समाधान है। तर्क से कुछ नहीं सिद्ध होता है, शंका बनी रहती है तर्क से सतर्क रहना चाहिए। अतः आचरण के द्वारा उपयोगिता का सत्यापन एवं प्रचार करना ही उचित है।

धर्म का बलपूर्वक प्रचार पुराकाल से बहुत प्रचलन में है। यह कार्य कितना हास्यास्पद है। धर्म की रक्षा तो उचित है किन्तु प्रचार अधर्म है। इस प्रचार में धर्म के नाम पर शक्ति-क्षेत्र का प्रसार ही अभीष्ट होता है। यह धार्मिक पाखण्ड का एक उदाहरण है। उदाहरण के द्वारा प्रभाणित करना सार्थक है। प्रत्येक धर्म में कुछ नियम सामाजिक संगठन तथा व्यक्तिगत आचरण के लिए होते हैं तथा कुछ हास्यास्पद होते हैं। रहस्य के नाम पर ढोंग भी प्रवेश कर जाता है, किन्तु इस भय से रहस्यों का महत्व कम नहीं किया जा सकता है। रहस्यों पर ही श्रद्धा और शक्ति दोनों आधरित रहती है, जो कि धर्माचरण के लिए प्राण हैं। बाह्याचरण से पात्रता आतीहै। अधिकारी होने पर ही रहस्यों को बताना चाहिए। आचरण के लिए प्रेरणा देना तथा रहस्यों का अधिकारी बनाना ही धर्म की रक्षा करना है। आजकल विपरीत विधि से धर्म प्रचार हो रहा है अतः फल भी विपरीत मिल रहा है। लाउडस्पीकर में ज्ञान- काण्ड के ग्रन्थ का पाठ न करके आचार के नियमों और उसके न करने पर बुरे परिणामों की शिक्षा तथा जन-सेवा सामाजिक धर्म है। उसे किसी सम्प्रदाय से जोड़ना स्वार्थपरक विकृत धर्म है। आजकल स्वार्थ-परमार्थ पर बड़ा विवाद होता है। विवाद का कोई कारण नहीं है। स्वार्थ यदि सही अर्थ में है तो वह परमार्थ से भिन्न नहीं है। आत्मोन्नति ही तो अभीष्ट है। अहं ही विश्वाहं हो जाता है। अतः स्वार्थ ही साध्य है, परमार्थ का प्रदर्शन वंचना है। इसी तरह अधिकार और कर्तव्य का विवाद है। हमें अधिकार से केवल एक अर्थ मिलता है–योग्यता। सब कुछ तो कर्तव्य ही है। अधिकार (योग्यता) कर्तव्यों के पालन के लिए आवश्यक है। अपने आप में अधिकार निरर्थक और सामाजिक द्वेष का कारण है। आजकल अधिकार का अर्थ, मनमाना करने की छूट है। ऐसा अधिकार समाज में किसी को नहीं दिया जा सकता है। जो सुविधाएँ अधिकार के नाम पर दी जाती हैं वे कर्तव्यों के पालन में सहायता के लिए होती हैं। अत; अपनी योग्यता को बढ़ाना तथा कर्तव्य पालन के लिए शक्ति रखना ही अधिकार है। अन्यथा अधिकार शोषण का साधन है। ऐसी स्थिति में कर्तव्य में ही अधिकार भी समाहित है। कर्तव्य करने के लिए कहीं रोक नहीं है तो झगड़े का प्रश्न नहीं है। धर्म का रहस्य कर्तव्य और अधर्म का रहस्य पात्रत्व-रहित अधिकार है।

प्रत्येक व्यक्ति तथा समाज अपने अनुरूप ईश्वर की कल्पना करता है। स्वानुरूप और काल्पनिक होने के कारण सब का ईश्वर भिन्न-भिन्न होता है। कल्पना के अनुसार विश्वास होता है तथा वैसा ही फल भी मिलता है। प्रायः सभी मानते हैं कि ईश्वर एक हैं किन्तु एकत्व को जानते नहीं है जिससे मतिवैभिन्य और विवाद पैदा होता है। ऐसी स्थिति में ईश्वरप्रेमी (धर्मेच्छु) ही जनद्रोही हो जाते हैं। यह धर्म का उपहास है। आवश्यकता है कि शास्त्रों के

समन्वय से जो ईश्वर प्रतिपादित होता है उस महान शक्ति को सभी जाने। वह काल्पनिक नहीं है बल्कि शास्त्र के द्वारा निर्देशित है। वही उपास्य है। शास्त्र क्या है यह भी विवादास्पद है। मूलरूप से ऋषि वाणी (वैदिक साहित्य) को ही शास्त्र मानना निर्विवाद है। देश-काल के अनुसार ऋषियों ने विभिन्न धर्मों को विहित किया है। अत; स्वदेशीय धर्म और तदनुरूप आचार्यों का ही अनुकरण अभीष्ट है। देश-काल की पहचान तथा स्वदेशी-विदेशी का नीरक्षीर विवेक बड़ा गहन है। विवाद से यह नहीं जाना जा सकता है। सुधीजन विश्रब्ध संवाद से 'वाद' को जान सकते हैं। इसी से तत्वबोध होता है।

अब तक के विवेचन से स्पष्ट होता है कि धर्माचरण व नैतिकता के लिए श्रद्धा-विश्वास, उससे शक्ति-लाभ, देश-काल तथा स्वदेशी विदेशी का ज्ञान, संस्कृति की रक्षा, मूल्यबोध तथा मूल्यों का स्तर जानना और मानना, स्वार्थ-परमार्थ एवं अधिकार-कर्तव्य का सम्बन्ध जानना, अज्ञान, विपरीत-ज्ञान व मिथ्याचार को पहचानना, शास्त्र सम्मत ईश्वर की प्रतिष्ठा, विधि-निषेधों का ज्ञान–यह सब अभीष्ट है। इनके लिए कुछ सामयिक समाधान भी लिखे गये। समाधान के रूप में तीन सर्वमान्य साधन हैं जिनकी चर्चा अब की जायेगी। यही तीनों उपर्युक्त सभी ईष्टों की पूर्ति में सहायक हैं। वर्तमान समय में इन्हीं का पुनरुद्धार आवश्यक है।

संस्कार, शिक्षा तथा स्वधर्म–यह तीनों सब के लिए इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना हैं। हमारे यहाँ इन तीनों पर विस्तृत वाङ्मय उपलब्ध है। यह साहित्य स्वदेशी होने से ग्राह्य है। इसमें प्रच्छन्न स्वदेशी प्रभाव को लेकर, समकालीन विश्व समाज को ध्यान में रखते हुए, अपनी स्थिति सुदृढ़ करना कर्तव्य है। संस्कारों के विषय में हमारे यहाँ विस्तृत साहित्य है। गर्भाधान से लेकर मृत्यु पर्यन्त सोलह संस्कार बहुचर्चित हैं। मृत्यु के उपरान्त भी पितृकर्म के रूप में जीव का संस्कार होता है। इन संस्कारों की प्रत्यक्ष उपयोगिता है तथा रहस्यात्मक प्रभाव भी है। ऋषि लोग इसे जानते थे। यह श्रद्धा का विषय है। कुछ संस्कार जीवन में एक बार होते हैं, कुछ समय-समय पर तथा कुछ नित्य ही किये जाते हैं। इन संस्कारों से शरीर, वाणी, मन और बुद्धि का परिष्कार होता है। संस्कारों से ही मनुष्य पशुत्व से भिन्न होता है, उसे ऊँचे विषयों में प्रवेश का अधिकार मिलता है। यह तर्क का विषय नहीं है, आचरण और अनुभव से ही इसका समर्थन होता है।

संस्कार सम्पन्न व्यक्ति को शिक्षा की आवश्यकता होती है। परिवार, विद्यालय तथा समाज विभिन्न शिक्षाओं के स्थान हैं। सत्संग से हर तरह की विद्यालय तथा समाज में शिक्षा भी पूरी होती है। स्नातकों पर ही देश व समाज का भविष्य निर्भर करता है। शिक्षा संस्कृति के अनुसार होती है तो सुबोध एवं

फलवती होती है। संस्कृति की रक्षा के लिए नारी-शिक्षा का विशेष महत्व है। यह पारिवारिक शिक्षा के लिए भी आवश्यक है।

विदुला और जीजाबाई की तरह माताएँ पारिवारिक शिक्षा मात्र से बालक को समर्थ बना सकती हैं। विद्यालय की शिक्षा से अन्विक्षिकी, त्रयी, वार्ता दण्डनीति यानी विज्ञान, कला, राजनीति, धर्म, दर्शन आदि विभिन्न विषयों में ज्ञान प्राप्त होता है। आचार्य के निकट आचरण सम्बन्धी शिक्षा भी मिलती है। शास्त्रीय विद्वान् तो विद्या का भारवाहक मात्र होता है। आचार्य विद्या का प्रयोग जानता है। आचार्यों से शिक्षा मिलनी चाहिए। ऐसा स्नातक ज्योतिषी, वैद्य डाक्टर, न्यायालय या तीर्थ गुरु कीखोज में अर्थ और काम की पूर्ति के लिए नहीं भटकता है। वह आत्मदीप हो जाता है। जीवन के मूल्यों (इष्टों) का बोध परिवार और विद्यालय में ही हो जाना चाहिए।

शक्ति प्राप्त करने के साधन तथा शक्ति को सार्थक बनाने के लिए सदुपयोग की विधि, दोनों तरह के ज्ञान शिक्षा के अन्तर्गत हैं। समाज में इसी शिक्षा का प्रचार किया जाना चाहिए। व्यवहार में आवश्यक अवयवों की सामयिक पूर्ति सामाजिक -शिक्षा से होती है। सामाजिक शिक्षा को उपयोगी रखने के लिए मनोरंजन के साधनों तथा जन साहित्य पर नियंत्रण आवश्यक है। ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक और तथ्यात्मक साधनों की उपयोगिता शिक्षा में होती है। **या मतिः सा गतिः** के अनुसार पुनर्जन्म तथा कर्मवाद का सिद्धान्त सामाजिक शिक्षा का आधार होना चाहिए। इससे नैतिकता में विश्वास पैदा होता है और समाज संगठित होता है। यह शास्त्रीय सत्य भी है। अतः श्रेयस्कर है, स्वधर्म पालन, व्यक्तित साधना तथा सामाजिक रचना, दोनों विषय में मेरुदण्ड है। अपनी योग्यता (अधिकार) को जानना बहुत बड़ी उपलब्धि है। उसी से स्वधर्म का निर्धारण होता है। कुशलता पूर्वक स्वधर्म का पालन करने वाला उत्तरोत्तर प्रगति करते हुए सर्वोच्च विषय का अधिकारी हो जाता है। अनधिकार पूर्वक, परधर्म में रुचि रखने वाला दिग्भ्रमित होकर भय व पतन को प्राप्त करता है। समाज में प्रत्येक कोटि के कर्तव्य सदैव उपलब्ध रहते हैं। स्वधर्म का पालन करने पर समाज में सम्पन्नता व सुख-शान्ति बनी रहती है। इससे सामाजिक समस्याओं का अन्त हो जाता है।

संस्कार तथा शिक्षा के लिए योग्य सुसंस्कृत व आचारवान पुरोहितों एवं आचार्यों की आवश्यकता है तथा स्वधर्म के लिए, इनके अलावा सामाजिक व प्रशासनिक नियंत्रण भी अपेक्षित है। स्वाभाविक रूप से सदाचारी बड़ा दुर्लभ है अतः किसी न किसी का भय अवश्य होना चाहिए जिससे लोग अपने सीधे मार्ग पर ही रहें। सीधे मार्ग पर रहने पर अपनी सामर्थ्य के अनुसार आदमी आगे ही जाता है।

धर्मपालन कर्म-मार्ग का विषय है। कोई कह सकता है कि कर्म से उच्चतम पुरुषार्थ मोक्ष कैसे सिद्ध हो सकता है। यह सही है किन्तु संस्कार व शिक्षा से समन्वित स्वधर्म के पालन से कर्म में कुशलता होनेपर वैराग्य उत्पन्न होता है। वैराग्य।। से ज्ञानकाण्ड का आरम्भ होता है। कर्म से कोई संन्यास लेता नहीं बल्कि स्वयं संन्यास हो जाता है। ऐसी स्थिति प्राप्त होने पर अकर्म का मार्ग मिल जाता है जो मोक्ष तक पहुँचाता है।

स्वधर्म एवं संस्कृति

धर्म में ऋत और सत्य दोनों की उपासना होती है। हर आदमी के अनेक धर्म हैं। कुछ धर्म समय और स्थान के अनुसार बदलते रहते हैं, कुछ स्थायी होते हैं। अतः धार्मिक मान्यताओं में परिवर्तन लाना भी आवश्यक है तथा कट्टरतापूर्वक, बिना सरलीकरण के, उसे मानना भी आवश्यक है। कहाँ परिवर्तन किया जाय और कहाँ परम्परागत रक्खा जाय इस विषय के निर्णय के लिए चार उपाय हैं–वेद, स्मृति, सदाचार और अन्तःकरण की आज्ञा। इन उपायों के प्रयोग के लिए सुबुद्धि की आवश्यकता पड़ती है। बुद्धि पवित्र-आहार, सत्य और मित-भाषण, गुरुजन की सेवा, सत्संग, शिक्षा, और सस्कार पर निर्भर करती है। बुद्धि को निर्मल और प्रखर रखना सब धर्मों का धर्म है। इसके बिना कुछ संभव नहीं है। स्वधर्म से जो शक्ति मिलती है उसका सदुपयोग इस बौद्धिक धर्म के द्वारा ही होता है। धर्म से शक्ति प्राप्त करना तथा उसका सदुपयोग करना यही अभीष्ट है।

आजकल की वर्ण-संकरता में भी वर्णों की मान्यता मौजूद है। अवस्था के अनुसार आश्रम व्यवस्था बाध्य होकर लोग मानते हैं। इस तरह वर्णाश्रम व्यवस्था है, किन्तु विकृत रूप में। इसी कारण अव्यवस्था है। इस व्यवस्था को संस्कृत करना श्रेयष्कर है। स्मृतियों के अनुसार वर्णव्यवस्था ही अभीष्ट है, जाति व्यवस्था नहीं। इसी अभीष्ट की सिद्धि के लिये जाति व्यवस्था की सहायता ली जाती रही है। जाति-व्यवस्था भारतवर्ष की एक विशिष्ट परम्परा है, जो इस रूप में, विश्व में कहीं नहीं है। सामाजीकरण के लिए परिवार का महत्व है। परिवार के कारण ही जातियों का भी महत्व है। वर्णनिर्धारण में जाति का बहुत महत्व है। किन्तु जाति ही सब कुछ नहीं है। गुण, कर्म और स्वभाव भी परीक्षणीय होते हैं। इस समस्या का बड़ा ही वैज्ञानिक अध्ययन अपेक्षित है। यह अध्ययन, चिन्तन और निर्णय स्वधर्मनिष्ठ ही कर सकता है।

स्वधर्म और स्वभाव में बहुत साम्य है। स्व को जानने वालाा धर्म ढूंढ़ लेता है। यह काम कठिन है। अपना धर्म जान लेने पर निष्ठापूर्वक उसका पालन करना ही शास्त्रों का आदेश है। स्वधर्म के निर्णय के अभाव में जिस मार्ग में पिता-पितामह चले हों वह मार्ग सभी को निरापद होता है। स्वधर्म के विषय में सन्त रविदास का जीवन-चरित्र आदर्श है। अपने परम्परागत धर्म का थोड़ा भी पालन दूसरे के सरल और पूर्णरूप में पालन योग्य धर्म के आचरण से अच्छा है, क्योंकि दूसरे के धर्म को ग्रहण करने पर अनेक ओर से भय उपस्थित होते

हैं। परलोक और पुनर्जन्म में विश्वास रखते हुए, अपने धर्म का पालन सभी को निष्ठापूर्वक करना चाहिए। अर्थ और काम पर धर्म का नियंत्रण समाज में आवश्यक है। चाहे जो पुरुषार्थ अभीष्ट हो, वह स्वधर्म के सहारे ही प्राप्य हैं, सामाजिक शांति और उन्नति तथा व्यक्ति का निःश्रेयस दोनों स्वधर्म के पालन से सम्भव है। आचार-संहिता में यही मेरुदण्ड है।

संस्कृति–संस्कृति का अर्थ है सम्यक् कृति। लैटिन का कल्टुरा शब्द इसका पर्यायवाची है। परिवर्धन, संशोधन और परिमार्जन के द्वारा कृति को उपयोगी तथा निर्दोष बनाना ही संस्कृति है। यह क्रिया एक दिन या आयुसीमा में भी असंभव है। इसे सुकृति कहेंगे। जब चिरकाल के अनुभव के आधार मानव समाज के कल्याण के लिए कृतियों का रूप निर्धारण होता है तो संस्कृति शब्द का प्रयोग किया जाता है। कृ और अस् धातुएँ सर्वत्र व्याप्त हैं। ऋत और सत्य के द्वारा कृत का संस्करण संस्कृति है। संस्कृति मूल्यों पर आधारित होती है। देश-काल के अनुसार मूल्यों में परिवर्तन होने पर भी संस्कृति को अपरिवर्तित रखने का प्रयास व्यर्थ होता है। अतः संस्कृति को कायम रखने के लिए पुनर्मूल्यांकन आवश्यक होता है। संस्कृति के दो कार्य स्पष्ट होते हैं–साधनात्मक और अवरोधात्मक। जब मूल्यों और सांस्कृतिक कार्यों में सामंजस्य होता है उस समय संस्कृति की उपादेयता होती है। जब संस्कृति में सृजन शक्ति नहीं रह जाती है तो वह उच्छिन्न हो जाती है। ऐसी कितनी ही संस्कृतियाँ लुप्त हो गयी हैं। संस्कृति को जीवित रखने क लिए मूल्यों को जीवित रखना आवश्यक है नहीं तो डायलिसिस पर जीवित संस्कृति भारस्वरूप होती है।

भारतीय-संस्कृति में अपौरुषेय वेद के द्वारा मूल्य निर्धारण किया गया है। यह ऋषि-वाणी त्रिकाल सत्य है। देवता, ऋषि, पितर, अतिथि और समस्त जीवों के लिए जो कर्तव्य और उसकी विधि निर्धारित करते हैं वह सब भी मूल्यवान हैं। विज्ञान ने इस मूल्यांकन को या तो सही साबित किया या अपनी पहुँच के बाहर कह कर छोड़ दिया। अतः हमें मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन करना आवश्यक नहीं है बल्कि अपनी कृति को मूल्यों के अनुरूप बनाना है, तभी भारतीय संस्कृति का नारा सार्थक होगा। लोकमान्य तिलक ने कहा था कि भारतीयता को छोड़कर हमें स्वतंत्रता नहीं चाहिए। भारतीयता यहाँ की संस्कृति में होती है जहाँ विश्व के हित के लिए यज्ञों की कल्पना है। पंचयज्ञ हमारी संस्कृति का एक सूक्ष्म उदाहरण है जिसमें सभी मनुष्यों की तो बात क्या सभी जीवों के हित का विधान किया गया है। यह अवश्य मान्य है कि संस्कृति मानवीय कृति है। अतः परिवेश के अनुसार ही वह जीवित रह सकती है, किन्तु परिवेश भी (इस अर्थ में) मानवीय कृति है अतः उसे संस्कृति के अनुसार, विशेषतः लोकहित के त्रिकाल सत्यों के आधार पर बनाना आवश्यक है।

संस्कृति की उपयोगिता मानव समाज (व्यक्ति को दृष्टि में रखकर) के कल्याण में ही है। निःश्रेयस और अभ्युदय ही उसका भी उद्देश्य है। कर्मों के माध्यम से यह सिद्धि कैसे मिले, संस्कृति इसमें सहायक है। इसलिए संस्कृति का सम्बन्ध प्रकृति और विकृति के ज्ञान, वेदशास्त्र, इतिहास, साहित्य और कला, शिक्षा तथा लोकरीति से अटूट है। धर्म इन सब विषयों का नियंत्रक और पोषक है। अतः धर्म से ही संस्कृति की रक्षा तथा संस्कृति से धर्म का संवर्धन सम्भव है। संस्कृति और धर्म के नाम पर अश्लील और निर्मूल्य विषयों का प्रदर्शन आजकल चल रहा है। यह विकृति है, अधर्म है, यह एक मनोरंजन है जो अधोपतन का कारण है। इन कार्यों के मूल्यांकन की आवश्यकता इस समय है जिससे हमारी निर्दोष संस्कृति हमें सृजनात्मक कार्यों में पथ प्रदर्शक बन सके। इस समय संस्कृति की रक्षा में धर्म की आवश्यकता है। ऐसा होने पर संस्कृति धर्म का पोषण करती रहेगी।

सामाजिक परिवर्तन

समाजशास्त्र का सबसे महत्वपूर्ण अंग है सामाजिक परिवर्तन। यह विषय छोटे-बड़े प्रत्येक विचारक को आकर्षित करता है। परिवर्तन की दिशा और गति को जानना, उनके कारणभूत तत्वों का प्रभाव बढ़ाना या नियंत्रण करना, कठिन कार्य है। परिवर्तन तो बिना चाहे भी होता है। संस्कृति से सम्बद्धता, उपयोगिता, दूरगामी प्रभाव (भूत, वर्तमान, भविष्य) का आकलन करते हुए परिवर्तन को नियंत्रित करना बुद्धिजीवी का कर्तव्य है। परिवर्तन में संगठन तथा विघटन दोनों क्रियाएँ होती हैं। केवल परिवर्तन के लिए सोत्साह लोगों में बहुधा विघटन की क्षमता रहती है। यह प्राकृत स्थिति है। संगठनात्मक परिवर्तन जीवन और जगत के रहस्य को जानने वाला साधक कोटि का चिन्तक ही जानता है। ऐसा चिन्तक आचारवान और संस्कृति से सम्बद्ध होगा यह अनिवार्य है क्योंकि रहस्यों का ज्ञान परम्परा और शास्त्रों के योग से तपस्या द्वारा प्राप्त होता है। ऐसा मनीषी शक्ति-पुंज होता है। धर्म, अर्थ, काम सभी उसके अधीन रहते हैं।

जिसे परिवर्तन की दिशा और गति कहा गया वही मूल्य और नीति भी है। सामाजिक परिवर्तन मूल्यों के आधार पर उचित नीति के पालन से सम्भव है। पुराकाल से धर्म ही परिवर्तन का एकमात्र कारण है। राजनीति उसका प्रमुख अंग था। बाद में राजनीति एक स्वतंत्र कारण हो गया। वर्तमान समय में राजनीति, विज्ञान और अर्थनीति यह तीन परिवर्तन के मुख्य कारण है। यह मान्यता मूल्यों में परिवर्तन के कारण स्थापित हुई है। मूल्यों का यह परिवर्तन कितना हितकर है, यह विचारणीय है। प्रतिस्थापन किन मूल्यों से किया जाय यह अभीष्ट है।

कुछ मान्यताओं पर विचार करना यथास्थान है। सामाजिक परिवर्तन को फल के आधार संगठनात्मक और विघटनात्मक दो रूपों में पहले ही बाँटा गया है। देशीय प्रभाव के आधार पर– आन्तरिक (स्वदेशीय) और बाह्य, परिवर्तन के दो रूप हैं। काल के प्रभाव के अनुसार–सांस्कृतिक और आकस्मिक यह दो भेद हैं। कर्ता की दृष्टि से प्राकृत, राजनैतिक तथा बौद्धिक यह तीन भेद हैं। इसका विस्तार आवश्यक लगता है। प्राकृत कर्ता जन-समूह है। इसके द्वारा वर्तमान परिस्थिति को बदलना ही कार्य है भविष्य चाहे जो हो। फ्रांस की क्रान्ति एक उदाहरण है। राजनैतिक कर्ता बलपूर्वक, मान्यताओं को अर्थ बदलकर, या अतार्किक नारों के आधार पर अपनी सत्ता बचाने के लिए कार्य करता है। इसमें

हित या अहित दोनों संभव है जो नेता के गुणों पर निर्भर करता है। हिटलर, मुसोलिनी भी इसी में है। बौद्धिक कर्ता संस्कृति, विज्ञान और परिस्थिति के आधार पर परिवर्तन चाहता है। इसमें भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों समाविष्ट रहते हैं। उपर्युक्त वर्गीकरणों के आधार पर संगठनात्मक, स्वदेशीय, सांस्कृतिक और बौद्धिक कोटि का परिवर्तन ही अभीष्ट है।

बौद्धिक कोटि में भी मूल्यों का स्तर भिन्न होता है। बौद्धिकता का क्षेत्र लम्बा है। सभी बौद्धिक कहे जाने का दावा करते हैं, किन्तु समान नहीं हैं। अनन्त आकाश में मच्छर और गरुड़ दोनों अपनी सामर्थ्य के अनुसार उड़ते हैं। समाज के सुख, शान्ति व अग्रगति के लिए उन मूल्यों की आवश्यकता पड़ती है जिनकी आवश्यकता व्यक्ति के लिए है। हम धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार पुरुषार्थ (मूल्य) व्यक्ति के लिए मानते हैं। इसमें प्रथम तीन (त्रिवर्ग) समाज से सीधे सम्बन्ध रखते है।। चतुर्थ प्रच्छन्न प्रभाव रखता है। यह प्रभाव अचिन्त्य है। अतः यह निर्णायक होने पर भी समाजशास्त्र का विषय नहीं है। त्रिवर्ग (मूल्यों) के आधार पर ही बौद्धिकता का निर्णय करना उचित है। व्यक्ति को, जिस समाज में, चतुर्थ (परम) मूल्य की प्राप्ति नहीं हो सकती है वहाँ मूल्यों के स्तर में दोष है। ऐसा मानना पडेगा क्योंकि व्यक्ति का परमहित ही सर्वोपरि है। इसी के लिए वह सामाजिक होता है।

अब धर्म, अर्थ और काम के आधार पर सामाजिक परिवर्तन पर विचार किया जा सकता है। यह तीनों एक दूसरे के सहायक हैं। विकृत होने पर घोर विरोधी हैं। कभी अर्थ से काम को, कभी काम से अर्थ को, कभी दोनों के द्वारा धर्म को बाधा पहुँचती है। कभी धर्म के द्वारा अर्थ और काम दोनों को क्षति होती देखी जाती है। अत; इनमें परस्पर श्रेष्ठता इस आधार पर नहीं निर्धारित होती है। किन्तु अर्थ और काम दोनों धर्म के बिना नहीं रह सकते हैं। धर्म उसके बिना भी रह सकता है। धर्म के बिना अर्थ, काम अशान्ति और विघटन के कारण हो जाते हैं। अत; इस दृष्टि से धर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित होती है। सामाजिक मूल्यों में धर्म को सर्वोपरि मानना ही आज की समस्या का निदान है। वैज्ञानिक और तमाम विशेषज्ञ इसके अधीन रहने पर ही उपयोगी है अन्यथा निर्मूल्य हैं।

मूल्यों का स्तरीकरण अमान्य होने के कारण आज के समाज में असंतोष और दिशाहीनता है। चित्त की शान्ति और मन की एकाग्रता प्रत्येक साधना में अपेक्षित है। स्थूल विषयों में मन शीघ्र एकाग्र होता है। सूक्ष्म विषयों में एकाग्र करने में बड़ी तपस्या करनी पड़ती है। सिनेमा देखने में प्रायः सभी एकाग्र चित्त हो जाते हैं किन्तु सामाजिक समस्याओं, अपराध, अन्याय आदि पर विचार करने में कितने लोग मन लगा सकते हैं? इससे भी सूक्ष्मतर विषयों को तो प्रायः मन तुरन्त छोड़ कर भटक जाता है। ऐसी स्थिति में मूल्यवान विषयों पर

एकाग्रता को वरीयता देना चाहिए। सभी एकाग्र मन लोग बराबर नहीं हैं। एकाग्रता को धर्म (स्वाध्याय, प्रवचन आदि) में लगाना ही श्रेयष्कर हैं नहीं तो एकाग्रता को साँप या बगुला की तरह पर-पीड़ा में भी लगाया जा सकता है। इस तर्क से आगे बढ़कर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि समाज में धर्म ही सर्वश्रेष्ठ मूल्य है।

समस्या हैं कि वह धर्म क्या है, उसका आधार क्या है इत्यादि। यह प्रश्न बहुत जगह उत्तरित है। वेद-शास्त्र से उत्पन्न प्रेय और श्रेय अभ्युदय, निःश्रेयस दोनों को देने वाला धर्म विधि और निषेधों में निहित है। संस्कार, शिक्षा और स्वधर्म-पालन से समाज-धर्म का ज्ञान होता है। इससे शक्ति मिलती है और साथ-साथ उसका सदुपयोग होता है। धर्म के नाम पर शक्ति मिलती है। किन्तु मिथ्याचारी लोग उसका दुरुपयोग करते है। यह समाज के शत्रु हैं। जिस धर्म में शक्ति का सदुपयोग नहीं है वह पाशविक, निन्दनीय ओर अग्राह्य है। धर्म का सदुपयोग यही है कि समाज में सुख शान्ति और समृद्धि हो तथा उसमें व्यक्ति की सर्वोच्च क्षमता के विकास का अवसर हो।

सामाजिक संगठन में जिस धर्म की अपेक्षा है उसमें समस्याओं को पचाने की शक्ति आवश्यक हैं। धर्म देश-काल से सम्बन्धित होता है। अतः देश-काल सम्बन्धी तमाम प्रभाव उस पर पड़ते हैं। जब तक धर्म में पाचन शक्ति तीव्र है, समाज में कोई गडबड़ी नहीं होती है। भारतीय समाज और यहाँ के वैदिक धर्म को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है। यहाँ का धर्म वेदमूलक है। जब तक यह अन्य धर्मों तथा विधर्मियों के प्रभाव को पचा जाता था, कोई समस्या पैदा नहीं हुई। इस समय हमारा धर्म अजीर्ण रोग से आक्रान्त है। स्वदेशीय समस्याओं तक को पचाने की क्षमता नहीं है तो बाह्य समस्याओं की बात ही क्या? इसीलिए तमाम समस्याएँ सामने हैं। वास्तव में जनसंख्या, छुआछूत, दहेज आदि कोई समस्या नहीं है। यह सब तो एक समस्या के लक्षण मात्र हैं। मूल समस्या के नष्ट होने पर ही यह समस्याएँ जाएँगी। धर्म से सदाचार तथा सदाचार से समस्याओं का समाधान संभव है। मिथ्याचार से उलझने बढ़ रही है। अतः सही परिवर्तन के लिए हमें अपने वास्तविक धर्म को पुनः पहचानना होगा।

बौद्धिक परिवर्तन व्यक्ति के आधार पर ही होता है। हमारे देश में गान्धी, विनोबा, डॉ. भगवानदास आदि नेता समाज-परिवर्तन में जोर लगा चुके। राजा राम मोहन राय, दयानन्द सरस्वती जैसे लोगों ने भी अपना प्रयास किया। यह मानना पडत्रेगा कि कुछ हुआ नहीं, स्थिति बिगड़ती ही जा रही है। कल-कारखाने और भौतिक स्तर के आधार पर माप एकदम भ्रामक है। विश्वास, संतोष, शान्ति, उत्साह आदि गुणों से समाज को जीवन मिलता है। यह सब घटते जा रहे हैं। आतंक, कानूनी पेचीदगी, शंका आदि से सभी भयाक्रान्त हैं।

अतः यह निश्चय होता है कि परिवर्तन के साधनों में कमी रही। यह निश्चय हो चुका है कि धर्म के आधार पर ही परिवर्तन संभव हैं। उपर्युक्त सभी लोग धर्म के आधार पर ही परिवर्तन चाहते थे। इससे स्पष्ट है कि इन लोगों के धर्म में भी कमी रही है। ऐसा लगता है कि बिगत एक सहस्त्र वर्षों के बीच हमारे देश में कोई धार्मिक नेता पैदा ही नहीं हुआ। धर्म रूढ़ियों में चला गया है। रूढ़ियों को तोड़ने की कोशिश में लोग अत्याधुनिक हो जाते हैं और शास्त्रीय मान्यताओं को भी ठुकरा देते हैं। अतः सन्तुलन का अभाव है। ऐसी स्थिति में युग पुरुष की आवश्यकता है। युग-पुरुष परम्परा और संस्कृति के माध्यम से ही पैदा होगा। सामाजिक रचना में, अनावश्यक अंश को काटने वाला, आवश्यक अंश जोड़ने वाला, दूरदर्शी, परम्पराओं को सम्यक जानने वाला, सदाचार, सदिच्छा और परोपकार से समवेत, धर्म तथा भारतीयता को जानने वाला, बाह्य प्रभावों को समझने वाला तथा उनके नियंत्रण के लिए सोत्साह, जीवन और विज्ञान के रहस्यों को जानने वाला, जीवन की साधना में अर्पित व्यक्ति ही अर्थ और काम को यथास्थान रखते हुए धर्म को सर्वोपरि प्रतिष्ठित कर सकता हे। ऐसे व्यक्तियों को पैदा करने के लिए प्राथमिक संस्थाओं का आरम्भ और उनका शनैः-शनैः विकास किया जा सकता हे। यही आशा का स्त्रोत है। संस्कार व शिक्षा से समाज में स्वधर्म आएगां इसी से यज्ञ (व्यापक अर्थ में) की प्रतिष्ठा होगी। तभी 'त्यक्तेन भुजीथाः' को समझकर हम सामाजिक रचना को अभीष्ट रूप में कर सकेंगे। यही आदर्श धर्म है, यही बौद्धिक सामाजिक परिवर्तन है, इसी से लोक-परलोक दोनों की सिद्धि है। इसी की सिद्धि के लिए मनुष्य सामाजिक प्राणी है। मानवता को सार्थक करना ही हमारा लक्ष्य है।

गीता मे कर्मयोग

सभी दर्शन व शाखाएँ अपना-अपना कर्ममार्ग प्रतिपादित करते हैं जिसे परमार्थिक सत्ता तक पहुँचने का रास्ता स्वीकार करते हैं। इन सबका भी गीता के साथ समन्वयत्मक अध्ययन किया जाएगा। वास्तव में गीता में कर्मयोग की अपेक्षा मनोयोग अधिक है। मन को बुद्धिसंगत करके अहैतुक कोई भी कार्य किया जा सकता है। बुद्धिसंगत होने पर स्वधर्म पालन ही किया जाएगा। अन्य कोई कर्म नहीं। यह विषय आगे समझा जाना है।

गीता में कर्म को अनेक आयामों में देखा गया है। मत-मतान्तरों से सम्बन्धित सभी कर्मों को एक उद्देश्य के साथ जोड़ना गीता का उद्देश्य है। इसीलिए आचार्य शंकर ने गीता पर भाष्य लिखना अत्यन्त कठिन कार्य कहा है। कर्म से पलायन तथा आसक्ति दोनों देखा जाता है। नाना प्रकार के भय व, लगाव से विवेकज्ञान के अभाव में कर्म से उपरति होने लगती है। यह सही स्थिति कर्म-त्याग की नहीं है। क्योंकि कर्म तो नित्य है। सभी को कुछ न कुछ करना है। 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय' से लगता है कि ज्ञान की अपेक्षा कर्म अवर कोटि का है। अत; कर्म और ज्ञान में सम्बन्ध है। कर्म न करना अत्यन्त गर्हित है। न करने की अपेक्षा सकाम कर्म भी अच्छा है, उससे अच्छा लोक संग्रह का कार्य है ओर सबसे अच्छा निष्कामकर्म है। ऐसा समझ में आता है कि गीता में काष्ठ की तरह पूर्ण निष्कामता नहीं है क्योंकि जीवन एक लक्ष्य के लिए है। गीता भी लक्ष्य का प्रतिपादन करती है, और सभी शास्त्र किसी न किसी रूप में एक लक्ष्य मानते हैं–वह है परमार्थ, निःरेयस कैवल्य या मोक्ष। जब एक लक्ष्य की प्राप्ति उद्देश्य है तो निष्काम कैसे कहा जा सकता है? अतः अनित्य ओर दुःखद विषयों को जानकर उन्हें छोड़ना तथा नित्य और आनन्दपूर्ण विषयों को ज्ञान से प्राप्त करना ही उद्देश्य है। यह निष्कामता नहीं उच्चाशयता है। यही संभव भी है।

गीताशास्त्र को तात्विक और तार्किक दृष्टि से देखने के बजाय नैतिक-दृष्टि से देखना साध्य और हितकर है। चार कोटि के कर्मों में से यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म माना गया है। ''यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।' कहकर गीता भी इसे संस्तुत करती है। यज्ञ से ऋषि, देवता, पितर सभी को प्रसन्न करते हैं तथा भूत-वर्ग (प्राणि मात्र) को भी। यज्ञ ही लोक संग्रह कहा गया है। मात्र पंच महायज्ञों से इस तथ्य का आकलन किया जा सकता है।

इस यज्ञ की नैतिकता में सभी विश्वास करेंगे ही। इस यज्ञ में उच्चाशयता है अतः इसे निष्काम माना जा सकता है, जैसा ऊपर कहा जा चुका है। यह कर्मयोग वैदिक तथा निष्काम दोनों का समन्वय है।

प्रभुत्व को त्यागना या उसका सर्वत्र प्रसार कर देना दोनों कल्याण के लिए है। बीच की स्थिति ठीक नहीं है। द्वन्दातीत होने पर ही शान्ति मिलती है। कर्म-मार्ग में निर्द्वन्द्व रहकर आगे बढ़ना चाहिये। शास्त्र को प्रमाण मानते हुए संग्रह या त्याग करें तभी निर्द्वन्द्वता स्थायी रहेगी। जीना और मरना दोनों सबको मिलता है। जो जीवन मिला है उसे कार्यों के द्वारा सार्थक करना ही पुरुषार्थ सिद्धि है।

गीता स्मृति कही गयी है। संस्कार से उत्पन्न ज्ञान ही स्मृति है। जब संस्कार नहीं तो स्मृति कहाँ, तब गीता का ज्ञान कहाँ? बिना संस्कार के लोग धूर्त कर्मयोगी होते हैं। गीता में कर्म-भक्ति और ज्ञान का प्रतिपादन है। तीनों अन्योन्याश्रित हैं। ज्ञान चरमोद्देश्य है। भक्ति मध्यमणि है, कर्म सभी सिद्धियों के लिए शुभारंभ है। अपने विषय में सामान्य ज्ञान (स्वधर्म ज्ञान) सबको होना आवश्यक है। यह परम्परा के द्वारा सरलता से ज्ञेय है, वैसे कठिन है। स्वाध्याय, प्रवचन, तप तथा ज्ञान यह उत्थान के क्रम में स्वीकार्य हैं। क्रम को जानने वाला स्वधर्म में रहता है। ऐसा आदमी योग-भ्रष्ट होने पर भी पतित नहीं होता है क्रमशः ऊपर जाता है इत्यादि बातें गीता में मिलती है।। शास्त्रों के अध्ययन के लिए समन्वयात्मक दृष्टि चाहिए। गीता में अनेक शास्त्रों के विचार हैं अतः बहुत सतर्क होकर ही गीता का अनुशीलन करना चाहिए। स्वधर्म पर आरूढ़ रहना गीता की मुख्य शिक्षा है।

स्वधर्म को अच्छी तरह समझना तथा उसका पालन ही कर्मयोग है जो निष्कामता तक पहुँचाता है, ऐसा प्रतिपादित किया जा चुका है। गुण के आधार पर कर्म के तीन भाग हैं–सात्विक, राजस तथा तामस। यह तीनों प्रकार के कर्म पुनः चार स्थितियों को प्राप्त होते हैं–सामान्य (फलासक्त), ईश्वरार्पित (फल ईश्वराधीन), निष्काम (परार्थ) तथा संन्यास (कर्माभाव)। वैसे संन्यास ही सभी दुखों (अज्ञान) से मुक्ति का हेतु है किन्तु गीता में निष्काम कर्म को वरीयता दी है। उसी को संन्यास माना गया है। वास्तविकता यह लगती है कि निष्काम कर्म के बाद संन्यास स्वभाव से उत्पन्न होने वाला है, साधन नहीं–साध्य है, चरमगति है। संन्यासी समाज के व्यवहार में नहीं रहता है। अतः सामाजिक-दर्शन की प्रतिष्ठा के लिए गीता में निश्कामता को ही सर्वोपरि माना गया है। यह पहले भी कहा जा चुका है कि गीता नैतिकता की दृष्टि से आदर्श है, तात्विक दृष्टि से उतनी मान्यता नहीं है। इसीलिए आचार्य शंकर ने तात्विक

दृष्टि से भी पूर्ण स्थापित करते हुए गीता का विभिन्न स्थलों पर अर्थ ही बदल दिया है।

गीता विश्व-धर्म का ग्रन्थ है। कर्मयोग इसका चरम सिद्धान्त है। गीता उप-निषद से भी गूढ़ है क्योंकि इसमें सभी शास्त्र, वेदोपनिषद् के सिद्धान्त एक साथ प्रतिपादित हैं। इसीलिए इसे समझना कठिन भी है। अध्यात्म चिन्तन के मार्ग पर चलने व साधना करने से गीता स्पष्ट होती है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, क्रमशः स्थूल से सूक्ष्मतर हैं। इनमें क्रमशः 5, 4, 3, 2 और 1 गुण हैं। इसके बाद अव्यक्त है जो निर्गुण और विज्ञानधन है, इसे समझना ही अध्यात्म-चिन्तन है। सम और विषम (पुरुष व प्रकृति) तत्वों को जानना ही ज्ञान है। अस्थिर या अनात्म को अहं मानना अहंकार है, उससे सम्बन्ध जोउऩा ममता है। यही बंधन है। नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य कर्मों के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि तथा उसके बाद निष्काम होना ही गीता का संदेश है।

''ईश्वरः सर्व भूतानां —— यन्त्रा रूढ़ानि मायया'' को यथावत मान लेने पर कर्म स्वातंत्र्य का अभाव लगता है जिससे दुष्फल मिलने का भी कारण नहीं रह जाता है। किन्तु यह सही अर्थ नहीं है। मनुष्य इच्छा-शक्ति या ज्ञान-शक्ति दोनों का अधिकारी है। इच्छा-शक्ति ही पूर्वजन्म, दैव, अदृष्ट, ईश्वरेच्छा आदि नामों से जानी जाती है। यह परवश है किन्तु ज्ञानशक्ति स्वतंत्र है। इसके द्वारा स्वतंत्र कर्म किया जाता है। प्रारब्ध कर्म से इच्छा शक्ति नियंत्रित होती है। प्रारब्ध तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम तीन कोटि का होता है। प्रथम दो कोटि के प्रारब्ध ज्ञानशक्ति के उचित प्रयोग से टाले जा सकते हैं। यही कर्म की स्वतंत्रता है। इच्छाशक्ति और ज्ञानशक्ति में सामंजस्य होने पर सदगति होती है अन्यथा दुर्गति। यह स्वतंत्र कर्म के ही परिणाम हें। जब व्यक्ति निरंकार (अहं को व्यापक बना कर आत्म-तत्व के बराबर) हो जाता है, उस समय उसकी अपार ज्ञानशति इच्दाशक्ति को सही दिशा में ले जाती है। इसी से निष्कामता और संन्यास की प्राप्ति होती है। इसी से ज्ञान की प्राप्ति होती है जो चरमोद्देश्य है। इस प्रकार अहंकारी (इच्छा शक्ति से प्रेरित) बन्धन प्राप्त करता है तथा निरंहकारी (ज्ञान शक्ति से प्रेरित) बन्धन से मुक्त रहता है। दोनों का समन्वय करने वाला कर्मबन्धन से मुक्त 'कर्मयोगी' कहा जाता है।

भक्तियोग

योग का अर्थ है दो पदार्थों, विषयों, अंकों, भावों आदि को जोड़ना। दो स्थानों को जोड़ने के लिए मार्ग होता है। पुरुषार्थों की सिद्धि का मार्ग या साधन भी योग कहा जाता है। 'योगो-मोक्ष प्रवतर्कः' चरक ने कहा है। परम पुरुषार्थ मोक्ष है, उसे अधिगत करना ही योग की चरमोपलब्धि है।

श्रेय-प्रेय, कर्म-त्याग, विद्या-अविद्या आदि नामों से योग (मार्ग) दो बताये गये हैं–कर्मयोग व ज्ञानयोग। उपनिषदों में इन दोनों का अलग-अलग फल माना गया है। आचार्य शंकर ने अन्त में ज्ञान को ही मोक्ष का मार्ग माना है। गीता में कर्म और ज्ञान दोनों से कैसे मोक्ष संभव है, इसका प्रतिपादन मिलता है। भक्ति के विषय में उपरोक्त बातों को दृष्टिगत रखते हुए तीन प्रश्न उपस्थित होते हैं–

1. क्या भक्ति स्वयं में पुरुषार्थ (साध्य) है?
2. यदि भक्ति साधन (योग) है तो किस पुरुषार्थ को सिद्ध करती है? क्या ज्ञान और कर्म के अतिरिक्त तीसरा योग उसे माना जाय या दोनों का सहयोग ही इसका धर्म है।
3. भक्ति योग को तीसरे मार्ग के रूप में या पाँचवें पुरुषार्थ के रूप में मानना कहाँ तक शास्त्र एवं बुद्धि सम्मत है?

यह बात मान्य है कि धर्म अधिकारी भेद से निर्धारित होते हैं। अतः भक्ति साधन और साध्य दोनों (अधिकारी के अनुसार) होती है। 'भक्त्या संजायता भक्तिः' के आधार पर भी यह साधन और साध्य दोनों है। किन्तु दोनों एक साथ ही एक ही व्यक्ति के लिए नहीं है। अधिकारी भेद से ही यह साधन और साध्य बनता है। यह निर्विवाद है कि अन्त में 'भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते' के द्वारा ज्ञान का साधन ही भक्ति रहती है। साध्य तो सबका एक ही है–मोक्ष।

संसार में प्रवृत्ति और निवृत्ति के नाम से कर्म और ज्ञान मार्ग प्रचलित हैं। भक्ति को तीसरा मार्ग मानने पर कोई तीसरी गति कल्पित करनी होगी, वह है नहीं। अत; कर्म और ज्ञान दोनों के लिए सहयोगी के रूप में भक्ति बुद्धिगम्य है। वेद में कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड एवं उपासना काण्ड के नाम से तीन काण्ड हैं। उपासना-काण्ड भक्ति का प्रतिपादन करता है। किन्तु सारी उपासनाएँ शरीर या मन के कर्म हैं और इनका पर्यवसान भी कर्मों के साथ ज्ञान में होता है। अतः भक्ति भी कर्म है। हाँ शरीर की अपेक्षा मन से अधिक सम्बन्ध होने के कारण,

भक्ति को 'मध्य मणि', देहली दीपक माना जा सकता है, इससे ज्ञान प्राप्ति में सहायता मिलती है तथा शरीर की भी यात्रा निर्विघ्न रहती है। भक्ति के द्वारा ज्ञान सुदृढ़ होता है। इस दृष्टि से भक्ति स्वयं में पुरुषार्थ नहीं है। कर्म को ज्ञान से जोड़ने के लिए यह सहयोगी है। अतः 'भक्ति-सहयोग' कहने पर स्पष्ट पद बनता है। श्रद्धापूर्वक श्रवण, बुद्धिसंगत भाव का मनन तथा आत्मविश्वास पूर्वक मत का अभ्यास यही भक्ति हैं बार-बार सेवन करना ही भक्ति हैं। भगवत्तत्व का सेवन निर्विघ्न है अतः उसी का पौनः-पुन्य स्थापित रखना सच्ची भक्ति है।

भक्ति का अर्थ तर्क और स्वेच्छा के अभावपूर्वक, अन्धविश्वास से लगाना गलत है। बलवती इच्छाशक्ति वाले पूर्ण बौद्धिक लोग तर्क व शास्त्र के आधार पर ही मार्ग-निर्धारण करते हैं। अवर कोटि के लोग विश्वासपूर्वक उसी मार्ग पर चलते हैं। वे भक्त कोटि में माने जाते हैं। ज्ञान उदय होने पर स्वयं उस मार्ग और उपलब्धि का परीक्षण भी कर सकते हैं। सुविधा-सिद्धान्त के अनुसार भक्ति की परिभाषा बनाने वाले 'अजगर करै न चाकरी"———आदि रूप से भक्ति को प्रतिष्ठित करते हैं। इसी कारण भक्ति आजकल समाज व व्यक्ति के लिए अहितकर, अन्ध विश्वासपूर्ण और हेय लगने लगती है। आजकल यह दशा सभी मान्यताओं के साथ है। किन्तु सही अर्थ में भक्ति को जानना और अभ्यास करना अब भी श्रेयस्कर है। भक्ति का सही स्वरूप कर्मयोग में ही प्रकट होता है।

मुक्ति के उपरान्त भी भक्ति के माध्यम से आनन्द और उल्लास प्राप्त करना श्रेष्ठतर है–ऐसा प्रतिपादित करने का भी प्रयास किया जाता है। वेदान्त में मुक्ति का स्वरूप जो है उसमें आनन्द और भूमा दोनों की प्रतिष्ठा है। इसके बाद कुछ भी पाना शेष नहीं रह जाता है। इसके अलावा भागवत और मानस जैसे सम्प्रदायगत भक्ति मूलकग्रन्थों के अलावा वेद, शास्त्र, उपनिषदादि में ऐसी भक्ति की चर्चा नहीं मिलती है। अतः भक्ति को मुक्ति के बाद भी आवश्यक मानना प्रतिष्ठित सिद्धान्त नहीं लगता है। हाँ, जीवन मुक्त लोगों द्वारा जो समाज कल्याण के लिए आचरण होता है उसे भक्ति माना जाय तो सार्थकता है। गीता भी ऐसी भक्ति को श्रेष्ठ मानती है। यह कर्म और विकर्म से परे अकर्म है। ज्ञान के द्वारा निगृहीत मन वाले लोग, जिनको स्वयं कुछ नहीं चाहिए, लोक-संग्रह के लिए, जीवनयात्रा पर्यन्त आचरण करते हैं। कर्म और ज्ञान का संयुक्त भजन ही उत्कृष्ट भक्ति है। यह उपदेश या मन के आदेश से नहीं बल्कि स्वाभाविक रूप से होती है। इसके बाद विदेहमुक्ति होती है जो सर्वोपरि है। उस अवस्था में 'अहंब्रह्मास्मि' और 'सर्वखल्विद ब्रह्म' दोनों एक साथ सत्य हो जाते हैं।

भारतीय समाज की संरचना और धर्म

किसी भी समाज की रचना एक दर्शन, तदाधारित मूल्यों तथा उसके साधनभूत धर्म के आधार पर होती है। दर्शन कुछ ऋषि-वाक्यों, अन्तर्दृष्टि तथा, व्यवहार (इतिहास) पर आधारित होता है। मूल्यों की स्थापना इसी के आधार पर की जाती है। मूल्यों की प्राप्ति का मार्ग ही धर्म है। इसमें क्रिया और विश्वास की प्रधानता होती है। भारतीय समाज की संरचना में विविधता है क्योंकि यहाँ अनेक प्रौढ़-दर्शन तथा अनेक धर्म है। तथापि इस विविधता में समन्वयत्मक एकता भी है क्योकि सभी दर्शन और धर्म वेद पर आधारित है।। वेद सभी का उपकारक है।

भारतीय समाज में चार मूल्यों (पुरुषार्थों) की स्थापना चिरकाल से है। वे हैं–धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। चारों में से कोई भी पुरुषार्थ सिद्ध करने का प्रयास न करने वाला 'जीवन्मृत' कहा जाता है। समय-समय पर चार में से किसी एक मूल्य का विशेष प्रभाव रहा है। समाज और धर्म भी उसी के अनुसार बदलते रहे हैं। हम लोग ज्ञान'-पूर्विका सृष्टि मानते हैं। सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग क्रमशः ज्ञान से अज्ञान की ओर परिवर्तन हैं। इतिहास-पुराणों में वर्णित समाज तथा वर्तमान की तुलना से, मनुष्य और समाज में सुख-शान्ति व बौद्धिक उपलब्धि को दृष्टि में रखते हुए यह स्वीकार्य लगता है कि दिनों-दिन अज्ञान बढ़ रहा है। यह सारा परिवर्तन मूल्यों और धर्म के परिवर्तन का ही फल है।

सृष्टि के आदि में सभी ज्ञानी होते थे। लोग राजा होना नहीं चाहते थे। ऋषियों का ही शासन चलता था। यह मोक्षपरक समाज था। इसके अनन्तर ऋषियों ने राजा बनाया। धर्म ही उसका नियामक और चरम मूल्य था। रामराज्य की कल्पना इसी काल की है। यही धर्ममूलक समाज था। तदनन्तर शक्ति, सेना, स्त्री और बलपूर्वक नियंत्रण आदि के लिए इच्छा बढ़ी। यह महाभारत काल काममूलक था। धर्म की दुहाई देकर काम-साधना यहाँ प्रचलित होती है। इसके बाद धर्म (सम्प्रदाय), काम और मोक्ष मिले-जुले मूल्यों के रूप में दिखाई देते हैं। अर्थ सबका सहायक रहा है। किन्तु वर्तमान समय में समाज अर्थ-मूलक हो गया है। अर्थ के अलावा अन्य मूल्यों का दर्शन नहीं हो रहा है। पाखण्ड और प्रदर्शन के लिए धर्म और मोक्ष भी दिखाई पड़ते हैं। काम को गर्हित मान लिया गया है और छिपे तौर से ही उसका सेवन हो रहा है। अर्थ के सहारे कुछ लोग एकदम अनियंत्रित रूप से कामोपभोग में संलग्न है। यह है मूल्यों के

आधार पर वर्तमान समाज की संरचना। प्राचीन धर्म की भी व्याख्या नवीन मूल्यों के अनुसार ही कर ली जाती है। 'शब्दानां अनेकार्था':, अतः प्राचीन शास्त्र ही नये मूल्य और धर्म के लिए आधार बने हैं। मिथ्याचार से सत्य आवृत्त हो चला है।

अब यह देखना है कि धर्म के सहारे नवीन (अभीष्ट) समाज की संरचना कैसे की जाय। धर्म का सहारा लेना इस भूमि तथा समाज के लिए अनिवार्य है। समाज औरसमज शब्द उच्चारण मेंनजदीक हैं किन्तु अर्थ में बड़ा अन्तर हो जात है। बुद्धियुक्त मनुष्यों का समाज होता है, पशुओं का समज। बुद्धि के अभाव में समाज नहीं, समज ही बन सकता है। बुद्धि, उसकी निर्मलता तथा उसके प्रभाव के लिए धर्म को प्रमुख रूप में मानना आवश्यक है।

धर्म के दो भागों की पहचान आवश्यक है– विशेष और सामान्य। सामान्य धर्म समाज की संरचना का आधार है। विशेष धर्म समाज की उन्नति के लिए शक्ति है। सामान्य धर्म विश्व में एक ही है। उसे सभी को मानना ही है। विशेष धर्म घर के अन्दर है। इसमें समान बुद्धि के लोग ही एक साथ रहते हैं। इसी से शक्ति औरा आत्म-बल मिलता है। इसके लिए संस्कारों का बड़ा महत्व है। शिक्षा से सामान्य और विशेष दोनों तरह के धर्मों का पोषण होता है। स्वधर्म पालन से समाज की संरचना होती है। समाज और शासन दोनों की यह जिम्मेदारी है। अर्थ और काम पुरुषार्थों की अवहेलना नहीं की जा सकती है। उन्हें यथास्थान धर्म से नियंत्रित रखना होगा। मोक्ष परम पुरुषार्थ है। यह धर्म की पराकाष्ठा के बाद अधिकारी व्यक्ति के लिए है। इस तरह धर्म को प्रमुख पुरुषार्थ के रूप में स्थापित करना और उसके अनुसार समाज की संरचना ही अभीष्ट है। ऐसा होने पर कोई असत्य बोलने वाला, चोरी करने वाला, मद्यप, व्यभिचारी, धनलोलुप और दूसरे को सताने वाला नहीं रह जाएगा। रामराज्य की शुरुआत इन्हीं गुणों से होती है।

भारतीय समाज के स्वभाव में सोपानात्मकता (वर्णाश्रमव्यवस्था, साध्य-साधन के रूप में मूल्यों का क्रम), पुनर्जन्म, कर्मवाद, और विचारों की स्वतंत्रता है। शायद इन्हीं गुणों के कारण हमारा समाज प्राचीनतम संस्कृति के साथ जीवित है। इन्हीं गुणों के कारण स्थायित्व और परिवर्तनशीलता दोनों बनी हुई है जो संस्कृति के लिए जीवन है। संस्कृति ही समाज का प्राण है। समाज के बद्धमूल संस्कारों को हटाकर कोई बाह्य प्रभाव यहाँ की स्थिति नहीं बदल सकता है। बाह्य प्रभावों से अव्यवस्था अवश्य फैल सकती है। यही हो रहा है। समाज को स्वस्थ और सबल बनाने के लिए संस्कृति में पुनर्विश्वास और धर्म को उच्चतम मूल्य के रूप में स्थापित करना अनिवार्य है। हम, कुछ मात्रा में उपलब्ध इन्हीं गुणों के कारण जिन्दा हैं, यह हमारे लिए स्वाभाविक है। अत;

पुनः इन्हीं में आस्था करने पर अभीष्ट समाज की रचना संभव है। धर्म के नाम पर तमाम अनाचार होते हैं अत; इसका सही अर्थ और प्रयोग सदैव दृष्टिगत रखना पड़ेगा। प्रचार नहीं, आचरण ही धर्म का परीक्षण है। सद्बुद्धि और शक्ति ही इसकी उपज है जिनसे समाज की संरचना होती है। भारतीय समाज के लिए यह बातें शत-प्रतिशत सत्य हैं।

ईश्वर की कल्पना

ईश्वर की कल्पना मनुष्य के लिए अनिवार्य है। जो शासन में रखता है, निग्रह और अनुग्रह करता है, सर्वस्व है, अतिक्रमणीय नहीं है–ऐसा तत्व किसी नाम और रूप से सबके मन में पैदा होता है। मन ही प्रत्यक्ष जीव है। सभी जीव ईश्वर की कल्पना करने को बाध्य हैं। हाँ, यह कल्पनाएँ योग्यतानुसार इतनी भिन्न कोटि की होती है कि एक कल्पना के अनुसार प्रतिष्ठित ईश्वर दूसरे के लिए नहीं है। सर्वमान्य, एक तरह का प्रत्यय ईश्वर के विषय में नहीं है।

शब्द के अलावा अन्य प्रमाणों से ईश्वर की सिद्धि नहीं होती है। तर्क से प्रतिष्ठा असंभव है। अगर इन साधनों से ईश्वर प्रतिष्ठित हो पाता तो एकरूपता संभव थी। फिर भी एकरूपता विभिन्न कारणों से उपयोगी है। अतः चिन्तकों ने उसके लिए प्रयास किया है। इन्हीं निरपेक्ष चिन्तकों को ऋषि कहा गया है। ऋषियों की वाणी को शब्द-प्रमाण माना जाता है। लोक-व्यवहार (उपयोगिता) को दृष्टि में रखने पर शब्द-प्रमाण की श्रेष्ठता का आकलन हो सकता है। लोक से बढ़कर कोई निर्णायक नहीं है। अतः शब्द-प्रमाण और लोकाचार को दृष्टि में रखकर इस विषय का विश्लेषण किया जा रहा है।

ईश्वर का ही वाचक भगवान शब्द भी लोक में विख्यात है। देवता ईश्वर से अवरकोटि का प्रत्यय देता है। ब्रह्म शब्द ईश्वर से भी प्रकृष्ट प्रत्यय का बोधक है। वह ईश्वर (सगुण ब्रह्म) का भी कारण है। सगुण, निर्गुण रूप से ईश्वर के दो भेद है। निर्गुण सदैव निराकार होता है। सगुण ईश्वर के साकार और निराकार दो भेद प्रचलित हैं। पुनः सगुण साकार के भी दो भेद लोक में प्रचलित हैं। प्रकृति के अंग सूर्य, अग्नि, नदी, पहाड़ आदि एक तरह का साकार रूप है और अवतार के रूप में मान्यता दूसरे तरह का रूप है। पुनः अवतारों में भी अंश और पूर्ण, काल्पनिक और वास्तविक का भेद किया गया है। इसके अलावा कार्यों, भावनाओं और आदर्शों को भी ईश्वर के रूप में माना जाता है। यज्ञ, सत्य, कर्तव्य-पालन सुख, धर्म, काम, अर्थ आदि रूपों में भी लोग ईश्वर को मानते हैं। ईश्वर की कल्पना में उपर्युक्त कोटि की ही मान्यताएँ मुख्य हैं। इन मान्यताओं में से एक न एक सभी के मनको सम्मोहित करके उसके लिए ईश्वर बन जाती है। किसी के लिए ईश्वर अफीम है तो किसी के लिए अफीम ही ईश्वर है। ईश्वर-तत्व सर्वत्र व्याप्त है।

ईश्वर एक कल्पना या अन्यत्र प्रतिपादित कल्पना की मान्यता है। ऐसा ऊपर कहा गया है। किन्तु यह कल्पना ही वास्तविकता भी हो जाती है। भावना के अनुसार सिद्धि होती है। सिद्धि तो कल्पना नहीं है अतः भावना की भी वास्तविकता है, और ईश्वर भी सभी के लिए विभिन्न रूपों में वास्तविक है। संकल्प-विकल्प जीव का स्वभाव है। स्वभाव को बुद्धियोग से परिष्कृत किया जा सकता है। इसीलिए छान्दोग्योपनिषद् में कहा है–

अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः। यथा क्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति। तथेतः प्रेत्य भवति। स क्रतुं कुर्वीत।

यहाँ क्रतु का अर्थ संकल्प है। परिष्कृत बुद्धि की सहायता से जो संकल्प होगा वह ऊँचा फल देने वाला और स्थायी होगा। 'या मतिः सा गति' से उसी के अनुसार आगे का रास्ता निर्धारित होगा। मूर्ख लोग सहज बुद्धि, (मन और धरातलीय प्रत्ययों के अनुसार) ईश्वर की कल्पना करते हैं। बुद्धिमान लोग शाम्र और आचार्य के अनुसार निर्णय लेते हैं। इसी कारण ईश्वर के स्वरूप और उनके प्रसाद के फल में अन्तर दिखाई पड़ता है। स्पष्ट है कि ईश्वर का स्वरूप वस्तुनिष्ठ नहीं बल्कि व्यक्तिनिष्ठ है।

यह निश्चय किया गया है कि ईश्वर की कल्पना लोक और वेद के अनुसार करनी चाहिए। वेद के अनुसार मान्यता होने पर शास्त्रों के द्वारा उसकी प्राप्ति का रास्ता भी ज्ञात हो जाता है। ऋषि-बाणी होने के कारण ईश्वर और उसकी उपासना दोनों फलदायी होंगे। अतः वेद का आश्रय लेना संगत है। वेद में भी अनेक विकल्प मिलते हैं। देश और काल के अनुसार उन विकल्पों में से वर्तमान में किसे ईश्वरतत्व दिया जाय यह विचारणीय होता है। किसी न किसी देश काल में प्रत्येक प्रत्यय उपयोगी हो सकता है किन्तु तुरन्त की आवश्यकता का आकलन करना युग-पुरुष का कार्य है। लोक ही ऐसे पुरुष को मान्यता देता है। परिवर्तन के नाम पर संदेह के कारण लोक का विरोध होता है किन्तु उपयोगिता देखकर प्रतिष्ठा बाद में स्वीकार की जाती है। यही युग-धर्म की प्रक्रिया है। तदनुसार ईश्वर की प्रतिष्ठा होती है। ईश्वर की प्रतिष्ठा न होने पर लोक में परिवर्तन की गति तीव्र हो जाती है। वर्तमान समय ऐसा ही है। समाज में अस्थिरता, भय और अशान्ति होने पर ईश्वर की आवश्यकता प्रबलतर हो जाती है। एक तरह के ईश्वर की उपासना करने पर एकता और शान्ति की संभावना बढ़ जाती है। इस कार्य को करने वाला युग-पुरुष ईश्वर नहीं बल्कि उसका द्रष्टा या प्रतिपादक ही होता है। भ्रमवश लोग उसे ही ईश्वर मानने लगते हैं। यही अवतारवाद में परिवर्तित हो जाता है। बहुत से लागों को एकत्र करना तथा एक दिशा में चलना ही पर्याप्त नहीं है। यह तो धूर्त भी कर सकता है और उसका भी सम्प्रदाय कुछ दिन तक चलता रहता है। ऐसा आदमी युग-

वंचक है। समाज की कमजोरी को पहचानकर वह सफल हो जाता है। उससे समाज में व्यवस्था और शान्ति नहीं मिल पाती है। व्यवस्था और शान्ति के लिए शास्त्रानुकूल प्रतिपादित ईश्वर की ही प्रतिष्ठा आवश्यक होती है। यह कार्य ऋषि-कोटि के युग निर्माता से ही संभव है। शास्त्र की ही दुहाई देकर सभी अपना ईश्वर प्रतिष्ठित करते हैं। शास्त्र का अर्थ सही है या गलत इसका निर्णायक लोक ही है। फलाफल के आधार पर लोक यह साबित कर देता है कि कौन ऋषि है, और कौन धूर्त है।

समाज के लिए प्रथम आवश्यकता है–शान्ति और व्यवस्था, इसके बाद उन्नति। इसके अनन्तर व्यक्ति को अनन्त श्रेय पाने का अवसर भी आवश्यक है। ईश्वर की कल्पना इन्हीं उद्देश्यों से की जाती है। इसी कार्य में सहायता देने के लिए शास्त्र है। शास्त्र की अवहेलना करके जो मान्यता स्थापित होती है वह विपरीत फल देती है। उससे समाज में विघटन व अस्थायित्व पैदा होत है। ईश्वर का प्रत्यय आवश्यक तो है ही, अनिवार्यतः सभी के मन में होता है, किन्तु पर्याप्त है या नहीं यह विचारणीय होता है। आवश्यक और पर्याप्त दोनों शर्तों के पूरा होने पर ही सिद्धि होती है। शक्ति, धन, विज्ञान, राजनीति आदि नियामक तत्वों को ही आवश्यक और पर्याप्त मान लेने पर समाज की दुर्गति अवश्यंभावी है। ईश्वर का प्रत्यय छोटा और सरल बनाने में लोक हित में बाधा पहुँचती है, संप्रदायगत झगड़े पैदा होते हैं। निरपेक्षरूप से अनन्त, सत, चित, आनन्द, प्रणव-स्वरूप, क्लेश-कर्म-विपाक आशय से अपरामृष्ट पुरुष विशेष, तथा इसी तरह की मान्यताएँ ईश्वर के विषय में पर्याप्त प्रत्यय देती हैं। ऐसी मान्यता पर आधारित समाज सुगठित तथा स्थायी हो सकता है। ऐसे समाज के बढ़ने पर किसी पड़ोसी को कष्ट नहीं होता है। यह मानव मात्र के लिए एक समाज की रचना करने में सक्षम प्रत्यय है। अद्वैत से किसी का विरोध नहीं होता है क्योंकि विरोधी रह ही नहीं जाता है। एकेश्वर के साथ देश-काल, मन7बुद्धि से परे अनन्त की भावना सबको एक सूत्र में बांधती है। भावना के अनुसार ही सिद्धि होती है अतः ऐसी भावना ईश्वर के विषय में करनी चाहिए। भूमा में ही सुख है। परिमित में सुखी होने वाला सबको दुःखी बनाकर स्वयं दुखी हो जाता है। किसी संस्कृति, समाज या राष्ट्र का आकलन करने के लिए उसमें प्रतिष्ठिठत नियामक तत्व (ईश्वर) का स्वरूप जानना आवश्यक है। ईश्वर के स्वरूप के अनुसार समाज में सहिष्णुता, परमोद्देश्य, सुख-शान्ति आदि गुण प्रकट होते हैं।

हमारे जीवन के सभी पुरुषार्थ शक्ति के द्वारा प्राप्त होते हैं। धर्म, अर्थ और काम में शक्ति अपेक्षित है ही, आत्मतत्व की खोज में भी उसकी आवश्यकता है। बलहीन के द्वारा आत्मा प्राप्य नहीं है। हमारी कामना के अनुसार ईश्वर हमारे सामने अपना स्वरूप प्रकट करता है। ईश्वर सम्बन्धी

मान्यता में शक्ति की उपेक्षा करने पर समाज कमजोर और निष्प्राण हो जाता है। शक्ति-सम्पन्न ईश्वर की प्राप्ति के लिए शास्त्रीय विधि से उसकी उपासना आवश्यक है। शास्त्रीय विधि की आवश्यकता दो कारणों से है। एक तो अविधि के कारण अभीष्ट शक्ति नहीं उत्पन्न होती है, दूसरे शक्ति मिलने पर उसका दुरुपयोग हो जाता है। अतः दोनों प्रत्ययवायों से बचने के लिए शास्त्र की अपेक्षा है। शास्त्र से सदबुद्धि (सच्छ्रद्धा) पैदा होती है। यह शक्ति का नियंत्रण करती है। सदबुद्धि भी ईश्वर के साथ कल्पित हो तभी शक्ति की शोभा है। ईश्वर की आवश्यकता लोकयात्रा के लिए भी उतनी ही है जितनी परलोक के लिए। लोक नहीं बना तो परलोक बनने का प्रश्न ही नहीं है। सफल लोक-व्यवहार के लिए सदाचार आवश्यक है। इसी का नियामक लोक में ईश्वर है। ईश्वर को अति सामान्य मानवीय सम्बन्धों के अन्तर्गत तथा परिमित रूप में देखने पर उसका समाज पर गलत प्रभाव पड़ता है। सदाचार की अवहेलना हो जाती है क्योंकि भय नहीं रह जाता है। अतः लोक-निर्माण के लिए शक्ति और ऊँची श्रद्धा के साथ स्वधर्म पालन ही ईश्वर की उपासना है। इस तरह के ईश्वर की मान्यता हितकर है।

तप, स्वाध्याय व ईश्वर-प्रणिधान क्रियायोग के तीन अंग हैं। यज्ञ में तीनों एक साथ साधे जाते हैं। इसीलिए यज्ञ को ईश्वर-स्वरूप और शक्ति का स्रोत माना जाता है। क्रिया-योग (यज्ञ) के सिद्ध होने पर अभीष्ट ईश्वर का प्रसाद मिलता है। यज्ञों में लोक-परलोक दोनों पर समान दृष्टि रहती है, यही इस विधा से उपासना की सबसे बड़ी विशेषता है। यज्ञों का भी सरलीकरण करके मानसिक या वाचिक रूपों में कल्पना की जाती है किन्तु इससे क्रियायोग नहीं सिद्ध होता है। मन, वाणी और शरीर तीनों के संयोग से ही अभीष्ट यज्ञ संभव है।

ईश्वर के विषय में अध्ययन और चिन्तन अपने देश में बहुत हुआ है। अनेक तरह से ईश्वर-सम्बन्धी प्रत्यय यहाँ प्रतिष्ठित हैं। बहुत से प्रत्यय शास्त्रों के आधार पर हैं, बहुत से अशास्त्रीय हैं, बहुतेरे लोकाचार पर आधारित हैं, बहुत से शास्त्र के अर्थ को तोड़-मरोड़कर बनाये गये हैं। विदेशी प्रभावों के कारण बहुत से सम्प्रदायों ने नये रूप धारण कर लिये हैं। जिनका स्रोत क्या है यह पता नहीं चलता है। ऐसी स्थिति में अपने देश में वर्तमान की आवश्यकता के अनुसार तथा शास्त्रानुमोदित ईश्वर को प्रतिष्ठित करना कर्तव्य है। कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य जैसे युग-पुरुष की आवश्यकता है। हम लोग एक मत हों तो युग-पुरुष उत्पन्न होगा इसमें सन्देह नहीं है। जैसा चाहते हैं वैसा आचरण भी शुरू कर दें तो विकास क्रम में अभीष्ट की उत्पत्ति होगी। मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा से ईश्वर की प्रतिष्ठा होगी। भूतकाल में हमारा इतिहास इसका साक्षी है। जनता जनार्दन है, उसकी इच्छा पूरी होती है। हाँ, कुछ लोग युग-पुरुष को अवतार ईश्वर कहते हैं जबकि वह ईश्वर-इच्छा का फल होता है। देश-काल के अनुसार सीमित होते हुए भी तत्काल के लिए पर्याप्त होता है।

ईश्वर, युग-पुरुष से अनन्त गुना ही मानना संगत है नहीं तो रूढ़ियों के कारण सामाजिक विकास रुक जाता है।

आचार्य शंकर के बाद, ब्रह्मोपासक में रमणमहर्षि अद्वितीय हैं। किन्तु महर्षि जी ने लोकनीति व राजनीति से अपने को दूर रखा। इस कारण से उनका प्रभाव दूरगामी नहीं हुआ। लेकिन यह साबित होता है कि भारतीय साधना अभी जीवित है; हमारे शास्त्र अब भी मान्य हैं, हमारी संस्कृति के अनुरूप युग-पुरुष अब भी पैदा हो सकता है। रमण महर्षि से तप व आत्मशक्ति, तिलक के स्वाध्याय, स्वामी रामतीर्थ से ईश्वर प्राणिधान, विवेकानन्द से देश-प्रेम, गाँधीजी से सत्य का प्रयोग, विनोबा से वैराग्य तथा इसी तरह के अनेक साधकों से विभिन्न गुणों को एकत्र कर के राष्ट्र शक्ति की कल्पना की जा सकती है। यह शक्ति महिषासुर-मर्दिनी दुर्गा की तरह होगी। इनके पुत्रों में वैज्ञनिक खोज और सैन्य-शक्ति दोनों के लिए पर्याप्त क्षमता संभव है। उत्पादन और रक्षा-व्यवस्था के लिए भी हमें बाहर नहीं जाना होगा। 'आनो भद्रा क्रतवोयन्तु विश्वतः'– शास्त्र वाक्य के अनुसार हम विश्ॅव के किसी कोने से कल्याणकारी विद्या ग्रहण कर सकते हैं। वह विद्या भी हमारे परिवेश में आकर हमारी हो जायेगी। हमारे ही अभीष्ट ईश्वर के गुण के रूप में यह विद्याएँ भी आवश्यक हैं। ईश्वर ऐसे युग-पुरुष को भेज सकता है जिसमें वर्तमान की इच्छा अपूर्ण नहीं रह सकती है। हम ईश्वर से मनसा-वाचा-कर्मणा चाह तो करें, पूरा होने में सन्देह नहीं है।

आस्तिक और नास्तिक का भेद परलोक और वेद की मान्यता के विषय में है। ईश्वर के विषय में सभी आस्तिक हैं। उसका स्वरूप चाहे जो हो जीवन व समाज की स्थिति में हर पहलू पर नियन्त्रण की आवश्यकता की पूर्ति के लिए भी ईश्वर तत्व की उत्पत्ति हो जाती है। जहाँ नियंत्रण नहीं दिखाई पड़ता है, वहाँ भय और शोक के रूप में ईश्वर प्रकट होता है। दण्ड के भय से ही अधिकतर लोग नियत रास्ते पर चलते हैं। श्रुति कहती है–

भीषास्माद् वातः पवते भीषोदेति सूर्यः।
भीषास्माद् अग्निश्चन्द्रस्य मृत्युः धावति पचमः।।

वायु, सूर्य, अग्नि, इन्द्र और मृत्यु सभी ईश्वर के भय से अपने काम में लगे हैं। भय का तत्व ईश्वर में प्रधान है। यह भय स्वधर्म में लगाने का कारण होता है। स्वधर्म का पालन न करने पर क्षमा संभव नहीं है, पालन करने पर न्याय मिलता है। न्याय की व्यवस्था अलौकिक ढंग से की जाती है। सामान्य बुद्धि के निर्णय के अनुसार ईश्वर का न्याय होना जरूरी नहीं है। भय, न्याय और अलौकिकता यह ईश्वर के तीन गुण सामाजिक आचरण को व्यवस्थित करते हैं। ईश्वर में दया, क्षमा, लोक-रंजन जैसे गुणों को मुख्य रूप

से अध्यस्त करने पर लोकाचार भ्रष्ट हो जाता है। सत्य और न्याय के पोषक रूप में दया आदि भी गौण रूप में रह सकते हैं।

सत्वानुरूप ही पुरुष की श्रद्धा होती है वैसा ही उसका ईश्वर होता है। अतः सत्य को ऊँचा रखना चाहिए इसी के लिए धर्म के तीन स्कन्ध बताये गये हैं–आचार्य-कुलवासी ब्रह्मचारी, यज्ञ-अध्ययन-दान, तप। शास्त्रीय रूप में धर्म को मानने पर ही समाज के लिए हितकर ईश्वर प्रकट होता है। अन्यथा धर्म के नाम पर मनोरंजन और स्वार्थ-पूर्ति ही होती रहेगी और ईश्वर अनिष्ट के रूप में प्रकट होगा। मिथ्याचार, कर्तव्यहीनता, अहम्मन्यता, शास्त्र का अनर्थ आदि अवगुण ईश्वर के उपयोगी स्वरूप को आवृत्त कर देते हैं। इससे समाज को क्षति होती है।

सामाजिक-चेतना का अभाव और हीन भावना ऐसे दो कारण हैं जो मनुष्य के अन्दर स्थित सात्त्विक भावना को दबाकर उसे राजस और तामस बना देते हैं। ऐसी भावनाओं में ग्रस्त लोग देवताओं की जगह यक्ष-राक्षसों की पूजा करने लगते हैं। सामान्य लाभ भी उनके लिए ईश्वर की कृपा है तथा सामान्य आदमी उनके लिए ईश्वर है। महीने में–एक पाव चावल पाने वाला भिखारी दाता को भगवान कहता है–ऐसा देखा गया है। भगवान की कल्पना उसके लिए इससे बड़ी नहीं है। संकुचित दृष्टिकोण तथा गरीबी के बावजूद, जिजीविषा के कारण ऐसे ईश्वर की कल्पना स्वाभाविक है। किन्तु इस स्वभाव का भी निग्रह संभव है। आदमी आशा में जीता है। आशा ऊँची की जा सकती है। यह सत्व को बढ़ाने से संभव है। सत्विक बुद्धि स्वधर्म-पालन तथा सार्थक ईश्वर की उपासना से होती है। निराश होना सत्व के अभाव का लक्षण है, अन्यथा चन्दन से भी, घिसते-घिसते, आग पैदा की जा सकती है। ईश्वर-सिद्धि भावना के अनुसार होती है। देश-काल की अनन्तता स्पष्ट है। आशा रखने पर उद्योग सफल होता है। अज्ञानी लोग तात्कालिक सिद्धि चाहते हैं अतः चमत्कारों से अभिभूत हो जाते हैं और अवर, निन्दनीय, कुपरिणामी तत्वों को भी ईश्वर मान लेते हैं।

साधन-चतुष्टय-युक्त मुक्तिमार्गी के लिए ब्रह्म अभीष्ट होता है। उसका परमास्पद एकदम से भिन्न है जिसे भारतीय चिन्तन धारा में ही जाना गया है। मुक्तिमार्गी के लिए धर्म-व्यवस्था या ईश्वर प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है। उसका लक्ष्य बुद्धि के परे है। बुद्धि का विषय जहाँ तक है वहीं तक धर्म की व्यवस्था है। धर्म-व्यवस्था का संचालक ही ईश्वर है। धारण करने से धर्म की संज्ञा दी गई है। धर्म प्रत्येक जीव में है। कम से कम स्वयं तो हर व्यक्ति जीना चाहता है, इसकी विधा भी एक धर्म है। समाज को धारण करना एक ऊँचे धर्म का दायित्व है। इसके लिए एक अद्वितीय संचालक की आवश्यकता पड़ती है। धर्म से ईश्वर की तथा ईश्वर से धर्म की प्रतिष्ठा होती है। अन्योन्याश्रय इतना

अधिक है कि इन्हें एक दूसरे का पर्याय भी कहा जाता है। जैसे एक राजा होता है और उसका शसन-तंत्र अनेक रूपों में व्याप्त रहता है वही स्थिति ईश्वर और धर्म की है। प्रजा के होने पर ही शासन और राजा होते हैं। उसी तरह समाज के होने पर ही धर्म और ईश्वर की कल्पना संभव है। ईश्वर लक्ष्य है, धर्म उसे पाने का रास्ता है, समाज प्राप्त करने वाला है। जैसा उद्देश्य होगा वैसा ही प्राप्त करने का साधन ढूँढ़ा जायेगा और पाने वाले की सन्तुष्टि भी तद्नुरूप होगी। समाज, उसकी चाह और राह को जानना अत्यन्त कठिन है। मनमानी ईश्वर और धर्म दोनों से जितना हित संभावित है उतना ही अहित। आदर्श के अग्राम्य और अपरिमित होने तथा आचरण के न्याय, सत्य, त्याग और परोपकार पर आधारित होने पर विपरीत संभावनों से मुक्ति मिलती है। अतः आप्तवाक्यों तथा आचार्यों का अनुसरण करना निरापद है। अपनी संस्कृति में यह मार्ग विरासत रूप में दीर्घकाल से चला आ रहा है। भारत इस मार्ग पर चलकर जगदूगुरु हो सकता है। कल्पना का ईश्वर साकार होता है–यह वैज्ञानिक तथ्यों से भी अधिक निश्चित है।

––––––

वर्णाश्रम व्यवस्था और धर्म

भारतीय समाज विश्व में अनोखा है। यहाँ की संस्कृति प्रागैतिहासिक काल से अक्षुण्ण चली आ रही है। इसका वैज्ञानिक कारण है। प्रमुख कारण ऋषियों द्वारा दी गई वर्णाश्रम-व्यवस्था ही है। भारतीय-संस्कृति और इतिहास को मानने वाला विचारक वर्णाश्रम-व्यवस्था के विपरीत नहीं सोच सकता है। जिन लोगों ने इस व्यवस्था के विपरीत सोचा वे जन-नेता और उत्कृष्ट विचारक होने का दावा करने पर भी असफल रहे हैं। पाश्चात्य की नकल से नहीं बल्कि अपने प्राच्य में परिष्कार लाने पर ही हम उन्नति कर सकेंगे। संस्कृति को छोड़ना उसी तरह घातक है जैसे प्राणों की गति को रोकना। दूषित वायु होने पर भी श्वास लेना पड़ेगा, तभी स्वच्छ वायु पाने का प्रयास भी सम्भव है।

प्रत्येक व्यवस्था में तीन अंग पाये जाते हैं–दृष्टि, संस्था, कार्यक्रम। दृष्टि से मूल्यों का स्तर निर्धारित होता है और उच्चतम मूल्य प्रतिष्ठित किया जाता है। संस्था मूल्य की प्राप्ति के लिए उपकरण तैयार करती है। कार्यक्रम वे उपकरण हैं जिनसे संस्था जीवित रहती है तथा मूल्यों की प्राप्ति होती है। भारतीय समाज एक व्यवस्था है। वेद-शास्त्र दृष्टि प्रदान करते हैं। ऋषियों की परम्परा में इन मूल्यों की स्थापना वेद के आधार पर हुई है। ईशा वास्यमिदं सर्वं.........आदि से समाज और व्यक्ति के लिए मूल्यात्मक दृष्टि मिलती है। वर्णाश्रम व्यवस्था एक संस्था के रूप में है। इसी व्यवस्था के अनुसार स्थित होकर मूल्यों की खोज, अधिकारी-भेद से, की जाती है। कार्यक्रम वर्णाश्रम-व्यवस्था के अनुसार निर्धारित किये गये हैं। सभी वर्ण और आश्रम अपने निर्धारित कार्यक्रम के आचरण करने को बाध्य हैं। इसी व्यवस्था में भारतीय समाज लम्बे समय से फलता-फूलता रहा है।

दृष्टि स्थायी होती है, संस्था अपेक्षाकृत अस्थाई होती है तथा कार्यक्रम बदलते रहते हैं ऐसा कुछ लोग कहते हैं। यह भी कहीं-कहीं सही है किन्तु दृष्टि स्थाई होने पर सभी स्थाई होंगे यह शास्वत सत्य है। परिवर्तन दृष्टि और मूल्यों से होता है, तभी नीचे भी आता है। जब तक वदोपनिषद् दृष्टि और मूल्य के स्रोत थे तब तक किसी भी संस्था और कार्यक्रम में परिवर्तन नहीं हुए। वर्णाश्रम-व्यवस्था और उनके आचार सामाजिक और राजकीय संरक्षण में थे। बाह्यप्रभावों के कारण अवैदिक तत्वों ने मूल्य का रूप धारण किया। तभी से समय-समय पर विघटन दिखाई पड़ता है। संकरत्व आया किन्तु भारतीय समाज

वेद को अब भी सर्वस्व मानता है। वेद विरुद्ध करने के लिए भी वेद से ही प्रमाण खोजता है। संस्थाएँ और कार्यक्रम सदोष हो गये हैं। वेद अब भी प्रमाण माना जाता है। अतः व्यवस्था का बाह्य आकार यथावत् बना है। यह व्यवस्था बद्धमूल होने के कारण हटाई नहीं जा सकती है। अतः परिष्कार ही संभव है और अपेक्षित भी है।

आदर्शों को मानवीय स्वभाव और पहुँच के अनुसार रखना चाहिए। बौद्ध-जैन सम्प्रदायों में ऊँचे आदर्श सर्वसाधारण के लिए रखे गये। फलतः मिथ्याचार ने प्रेवश पाया। इसी का प्रभाव हिन्दू धर्म में भी आया। लेकिन यह वर्णाश्रम-व्यवस्था में ढिलाई के कारण हुआ। वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार मानव-स्वभाव और शक्ति के अनुसार ही उसके आदर्श रखे जाते हैं, जिससे मिथ्याचार का अवसर न रहे। मिथ्याचार धर्म का सबसे बड़ा शत्रु है। वर्णाश्रम व्यवस्था मिथ्याचार समाप्त करने के लिए पर्याप्त है।

वर्णव्यवस्था स्वाभाविक है। स्वाभाविक रूप में यह सम्पूर्ण विश्व में है। प्लेटो ने इसे देखा था तथा इसे आधिक लाभदायक बनाने के लिए व्यवस्था दिया था किन्तु वह व्यवस्था प्लेटोनिक ही रही। हमारे ऋषियों ने इसे गम्भीरतापूर्वक समझा तथा वर्णाश्रम को जाति व्यवस्था के साथ जोड़ा। जाति व्यवस्था और वर्णव्यवस्था भिन्-भिन्न हैं। वर्ण व्यवस्था अभीष्ट है। सहायक होने के कारण जाति व्यवस्था भी मान्य है। जाति दो तरह की होती है–मुख्य और गौण। जिन परम्परा में पैदा हो उसके अनुसार गुण और कर्म होना मुख्य जाति का लक्षण है। जन्म से सम्बन्ध न होने पर भी गौण जाति ही कहा जायेगा। भारतीय समाज की वर्ण व्यवस्था मुख्य जाति पर आधारित रही है। अन्यत्र गौण जाति पर आधारित होने पर अव्यवस्था है। यह सब हमारी व्यवस्था की वैज्ञानिकता का फल है। वर्ण व्यवस्था ही आवश्यक है, क्योंकि वह स्थाई है, ईश्वरकृत है। उसे उपयोगी रखने के लिए ऋषियों की व्यवस्था (मनुस्मृति आदि) के अनुसार जाति व्यवस्था को ठीक रखना आवश्यक है। भारतीय समाज में इहलोक के साथ परलोक का भी महत्व मान्य है। कर्मवाद व पुनर्जन्म यहाँ के मुख्य सिद्धान्त हैं। इन कारणों से उत्तरोत्तर प्रगति की व्यवस्था सबके लिए की गई है। यहाँ की वर्ण व्यवस्था इसी का फल है। गूढ़ सिद्धान्तों पर आधारित होने के कारण यह व्यवस्था भी गूढ़ है। भारतीय मस्तिष्क ही इसे समझ सकता है।

जहाँ तक आश्रम व्यवस्था का प्रश्न है, इस विषय में बहुत विवाद समाज में नहीं है। इस समय गृहस्थाश्रम ही मुख्य रूप से मिलता है। अन्य आश्रम भी गृहस्थवत् ही लोग चला रहे हैं। इस विषय में उचित लगता है कि तीन आश्रम ही माने जायँ–ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ या संन्यास। एक पचीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य, 50.60 तक गृहस्थ, तदुपरान्त सामाजिक या व्यक्तिगत साधना के

लिए कार्य। यह उचित व्यवस्था होगी। वर्तमान संन्यासी या तो प्रपंचग्रस्त गृहस्थ है या तो भारस्वरूप है अतः नई व्यवस्था में इन्हें समाजोपयोगी बनाना जरूरी है। ब्रह्मचर्य आश्रम को पवित्र रखने की व्यवस्था हो। इससे जनसंख्या की समस्या टलेगी तथा सब प्रकार की राष्ट्रीय उन्नति संभव है। यह व्यवस्था शिक्षा, संस्कार व स्वधर्म पर आधारित होगी। भारतीय दृष्टि के साथ सामाजिक और राजनीतिक प्रयास से सफलता संभव है।

वर्तमान समय में गुण-कर्म ठुकरा कर जातियाँ, वर्गों का रूप धारण कर चुकी है। जाति-प्रथा अगर वर्ण-व्यवस्था की पोषक नहीं है तो समाज के लिए अत्यन्त घातक है। चूँकि जातियों को हटाना भारत में संभव नहीं है तथा ऋषियों की व्यवस्था अभीष्ट है, अतः जाति व्यवस्था का परिष्कार आवश्यक है। भारतीय संस्कृति और इतिहास की रक्षा के लिए मूल्यों का स्तरीकरण पुनः करना है। मुख्य जातियों को स्थापित करना तथा तीन आश्रमों को समाज के लिए उपयोगी बनाने की व्यवस्था अपेक्षित है।

——————

ज्ञान योग

यह विषय बड़ा पवित्र और पावन है। इसकी चर्चा करना पुण्य का प्रतीक है तथा सेवन करना परम-अधिकारी का लक्षण है। ज्ञान-प्राप्ति, आत्मदर्शन और मुक्ति ही इसका उद्देश्य है।

यावन्मात्र शास्त्र और दर्शन है, वेद से ही उत्पन्न हुए हैं। सांख्य-दर्शन ज्ञानयोग का आदि दर्शन माना जाता है। इसीलिए सांख्य और ज्ञान पर्यायवाची माने गये हैं। वेदान्त दर्शन में इस विषय की पराकाष्ठा है।

अमरकोष के अनुसार 'मोक्षेधीर्ज्ञानं अन्यत्र विज्ञानम्'। मोक्ष 'विषयक बुद्धि ही ज्ञान है। अन्य जितने विषय हैं, उनमें विज्ञान की आवश्यकता होती है। जगत् के कार्यकलापों में कर्म, तदनुसार फल प्राप्ति, इस तरह भवचक्र ही स्पष्ट होता है। यह संसृति कर्ममार्ग की ओर प्रवृत्त करती है। इससे भिन्न स्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती है। किन्तु आर्ष वाक्यों से एक दूसरी विधा भी स्पष्ट होती है। वह है मोक्ष, कैवल्य या निर्वाण। इन्हीं दोनों को प्रेय और श्रेय नामों से भी कहा गया है। इस तरह मोक्ष की भावना बड़ी पावन श्रद्धा के कारण उत्पन्न होती है। मोक्ष का स्वरूप जानने पर वह स्पृहणीय लगता है। मोक्ष (संसृति का अप्रभाव) होता है, यह मानने के बाद इसके लिए अधिकारी और साधनों की जानकारी करना जरूरी है। शास्त्रों में श्रद्धा के अभाव से, मोक्ष का स्वरूप न जानने से, अधिकारी बनने में विभिन्न व्यवधानों से तथा साधनों के सम्यक उपयोग और पालन में गलती करने से यह विषय छूट जाता है। इसीलिए लाखों में एक आदमी इसका अन्वेषी होता है। लेकिन एक व्यक्ति भी ज्ञानयोग में सिद्ध होता है तो वह सहस्त्रों कर्मयोगी पैदा करता है। वह युग के लिए दीप तुल्य होता है। शताब्दियों तक उसके प्रकाश से कर्मक्षेत्र में विवेक, सत्य और न्याय का प्रभुत्व रहता है। इस तरह ज्ञान-योग से कर्मयोग का भी पोषण होता है।

पुरुषार्थों में सर्वोच्च होने के कारण भारतीय जनमानस में मोक्ष और उसका साधनभूत ज्ञानयोग का उच्च स्थान है। प्रकाश हटने पर अंधकार स्वतः उसका स्थान ले लेता है। ज्ञानयोग की सही साधना के लुप्त होने पर पाखण्डियों ने उसे ले रक्खा है। बिना अधिकारी बने, बिना साधनों को जुटाए ही लोग 'शिवोऽहं' तथा 'अहंब्रह्मास्मि' आदि वाक्यों का दुरुपयोग करने लगते हैं। स्वयं अधिकारी नहीं होते हैं तथा अनाधिकारी को शिक्षा देने लगते हैं। कर्म-मार्ग को

स्वयं छोड़ कर, ज्ञान-मार्ग में प्रवेश के लिए अनुपयुक्त होने के कारण वे अपने शिष्यों के साथ अंधे कूप में गिरते हैं। जो तीसरे मार्ग की कल्पना करता है वह भी भ्रम में है। जीव की दो ही भूमिकाएँ हैं। तीसरा मार्ग है ही नहीं। शास्त्रों का उल्लंघन करने पर कार्याकार्य की व्यवस्था असंभव है।

कर्मों की सम्यक् साधना से भक्ति उससे वैराग्य, सुख और ज्ञान-तदुपरान्त मुक्ति का क्रम मान्य है। मुक्ति के बाद जो कर्म, भक्ति, वैराग्य, ज्ञान और आनन्द कहे गये हैं वे पहले से भिन्न होते हैं। वह मुक्ति, शब्द तो क्या, बुद्धि का भी विषय नहीं है। ऐसे ज्ञानी के लिए कोई उपदेश संभव नहीं है। यह स्थिति स्वप्रकाश है। यह ब्रह्म या भगवान के दर्शन से नहीं आत्मस्वरूप के बोध से स्वतः प्राप्त है।

इस मार्ग का अधिकारी पथिक कौन है? यह जानना आवश्यक है। इस जन्म में या पहले वेद-वेदांग के अध्ययन तथा यज्ञों से जितने अपने को पवित्र कर रखा है, तपस्या से जिसके कल्मष समाप्त हैं, जो काम्य और निषिद्ध कार्यों में प्रवृत्त नहीं होता है, नित्य नैमित्तिक, प्रायश्चित और उपासना सम्बन्धी कार्यों के अनुष्ठान से बुद्धि को पवित्र और मन को निगृहीत करने वाले व्यक्ति को चार साधनों को अपनाना पड़ता है–(1) नित्यानित्य वस्तु विवेक, (2) इहामुत्र फल-भोग विराग (3) षट् सम्पत्ति (4) मुमुक्षत्व। षट् सम्पत्ति है शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा। ऐसा साधन सम्पन्न अधिकारी हो तो वह ज्ञान-योग के रास्ते पर चल सकता है। वह स्वयं को तारने के बाद दूसरों को भी अधिकारी बना सकता है। उसी से युग-धर्म की प्रवृत्ति होती है।

परीक्षणीय सभी होते हैं। ज्ञान-योगी कैसा है उसे जानने के लिए अधिकारी के लक्षणों से जाँच करना चाहिए। वह योगी देह-त्याग कर चुका है तो उसके शिष्य कैसे अधिकारी है तथा उसके द्वारा प्रवृत्त धर्म समाज के लिए कितना हितकर और स्थायी है, यह परीक्षणीय होता है। ज्ञान-योगी बिना समाज को कुछ दिये ही देह-त्याग कर सकता है यह कल्पना असंगत है। उसका मूक - संदेह ही बहुतों का पथ-प्रदर्शक होता है। वह इतनी पुण्य-राशि छोड़ जाता है, जो शान्ति और न्याय की प्रतिष्ठा में साधक होती है। उसकी मान्यताएँ और लौकिक आचरण 'महाजनोः येन गतः स पन्थाः' को आधार प्रदान करते हैं।

स्फुट - तथ्य

प्रथम–'भारतीय सामाजिक संरचना' – किसी भी समाज की रचना दर्शन, तदाधारित मूल्यों तथा उसके साधन भूत धर्म पर आधारित होती है। भारत में धर्म एवं दर्शन की विविधता होते हुए भी समन्वयत्मक एकता है क्योंकि सभी दर्शन और धर्म वेद पर आधारित हैं।

भारतीय समाज के स्वभाव में वर्णाश्रम व्यवस्था, मूल्यों का क्रम तथा विचारों की स्वतंत्रता है। सामाजिक गतिशीलता तथा संतुलन के लिए चार मूल्यों धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की स्थापना भारतीय मनीषा की अन्यतम उपलब्धि है और इसके परिपालन एवं प्राप्ति के आधार विशेष और सामान्य धर्म है। सामान्य धर्म समाज की संरचना का आधार है और विशेष धर्म समाज की उन्नति के लिए आवश्यक है। यह समाज और शासन दोनों की जिम्मेदारी है कि उचित और सही शिक्षा के माध्यम से धर्म की पुनः प्रतिष्ठा कर तदनुरूप भारतीय समाज की संरचना के लिए सचेष्ट हो।

द्वितीय–सार्वभौम धर्म-यम-नियम– यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह), नियम (शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्राणिधान) को सार्वकालिक एवं सार्वभौम धर्म स्वीकार करते हुए इसके पालन पर बल दिया गया है। आधुनिक काल में बढ़ती हुई विषमता एवं शस्त्रास्त्रों की भाग दौड़ को अवरुद्ध करने के लिए यम-नियम अत्यन्त, आवश्यक है। यह इस लोक के लिए समत्वसिद्धि और परलोक के लिए साधन है। इस तरह सार्वभौम धर्म समाज में सर्वोपरि मूल्यों के रूप में है। यह स्वयं में साधन और साध्य तथा उत्तरोत्तर प्रगति की ओर ले जाने वाले हैं। इनके पालक विश्व में कहीं भी रहें योगी कहें जायेंगे तथा उनका आचरण अनुकरणीय होगा। यदि यम और नियम का परिपालन समुचित रूप से होने लगे तो धार्मिक विवाद की स्थिति ही न उत्पन्न होगी तथा संसार में बढ़ता हुआ तनाव समाप्त होने लगेगा।

तृतीय धर्म में इतिहास का महत्व–वास्तविक घटना देश-काल के परिप्रेक्ष्य में बताना इतहास का धर्म है। इतिहास के साधन, लोक एवं लिखित प्रमाण दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। वास्तविक इतिहास का ज्ञान अत्यावश्यक है क्योंकि इससे प्रेरणा मिलती है तथा धर्म, क्रिया-आचरण के निश्चय एवं उसमें विश्वास की भावना को बल मिलता है। जब भय, लोभ अथवा सम्प्रदायार्थ काल्पनिक इतिहास का निर्माण होता है तो इससे समाज और संस्कृति दोनों को खतरा उत्पन्न हो जाता है। इतिहास लेखन में अर्न्तदृष्टि की

आवश्यकता होती है और अन्तर्दृष्टि धर्म की अवहेलना नहीं कर सकती। यह अन्तर्दृष्टि विचारों, मान्यताओं और सामाजिक मूल्यों को परखती हुयी चलती है जिससे सत्यासत्य निरूपण होता है। वास्तविक इतिहास तो इसी अन्तर्दृष्टि का परिणाम है, राजा-रानी या योद्धा के जीवन-चरित का नहीं। अतः आवश्यक है कि संस्कृति और मानवता के पोषक तत्वों को पहचान कर उनके पालन पर बल दिया जाय और संदिग्ध एवं भ्रमात्मक अंशों का परित्याग कर दिया जाय।

सामयिक धर्म और पुरुषार्थ

मानव के लिये, अधिकारी भेद से, अनेक मूल्यों की व्यवस्था है। भारतीय चिंतन धारा में इन्हीं को पुरुषार्थ के नाम से चार प्रमुख भागों में बाँटा गया है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष यह चार पुरुषार्थ है। इनमें से जिसने कोई भी सिद्ध नहीं किया उसका जीवन व्यर्थ बताया गया है। सूक्ष्म विवेचन करने पर स्पष्ट होता है कि धर्म की साधना सबके लिये अनिवार्य है। धर्म सामान्य और विशेष दो भागों में बाँटा जा सकता है। विशेष धर्म की सिद्धि पुरुषार्थ है जिससे मरणोपरान्त अच्छे फल मिलते हैं। सामान्य धर्म एक आवश्यक प्रणाली है जिससे इस लोक में मनुष्य होना सिद्ध होता है। सामान्य धर्म मनुष्य मात्र के लिये अनिवार्य है। इसके होने पर ही अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष की सिद्धि सम्भव है। अत; सामान्य धर्म से च्युत जो लोग अर्थ और काम की दृष्टि से सफल हैं वे पुरुषार्थी नहीं हैं। वे तो मनुष्य ही नहीं है। शास्त्र मनुष्य के लिये है अन्य जीव तो स्वभाववश कार्य करते हैं। आहार, निद्रा, भय, मैथुन, जीव मात्र के स्वभाव ह। मनुष्य इस पर शास्त्रीय नियंत्रण करता है। 'मतयो यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्तिवानराः। शास्त्राणि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति ते नराः।' अतः शास्त्रों के अनुसार आचरण करते हुए अपने को मनुष्य सिद्ध करना सर्व प्रथम पुरुषार्थ है। यह चारों पुरुषार्थों से पहले और अनिवार्य पुरुषार्थ है। शास्त्रों के अनुसार आचरण सिखाने के लिए अनेक विधियाँ बतायी गयी हैं। विद्या प्राप्ति प्रमुख उपाय है। विद्या से विनय, विनय से पात्रता, पात्रता से धन उससे धर्म और फलस्वरूप सुख मिलता है, ऐसा माना गया है। विद्या के लिए भी पात्र होना पड़ता है। श्रद्धा, तपस्या, इन्द्रियनिग्रह, ब्रह्मचर्य यह सब विद्यार्थी के लिये आवश्यक है। सत्संग भी विद्यार्जनहै। इससे पवित्रता तथा विद्या विनय सब मिल जाते हैं।

महाभारत में कहा गया है–'राजा कालस्य कारणम् ' । सामाजिक व्यवस्था शासन का सर्वोपरि दायित्व है। मनुष्य का प्रथम पुरुषार्थ जैसा ऊपर कहा गया, सामान्य धर्म (आचरण) है। इसकी प्राप्ति के लिये समाज और राज्य को पूरी शक्ति लगाना चाहिए क्योंकि आधार न होने पर ऊपर का निर्माण मूर्खता है। नागरिक होने के पहले मनुष्य होना जरूरी है। मनुष्य वही है जो शास्त्रानुसार आचरण करता है। यह आचरण सहज नहीं है। शासन और समाज के प्रयास, से ही यह सम्भव है। धर्म-निरपेक्ष शासन विशेष धर्म के

विषय में होता है। सामान्य धर्म के विषय में धर्म सापेक्ष होना ही पड़ेगा। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह पाँच यम है। इन्हें कौन शासन और धर्म नहीं चाहेगा? विद्यार्थी इन्हें तभी अपनायेगा, जब इनसे लाभ और विपरीत से हानि स्पष्ट हो जाय। जिस स्थान पर अयत्य, हिंसा आदि से भी लौकिक लाभ होता है तथा कोई दण्ड नहीं है वहाँ का विद्यार्थी दुःसाध्य सत्य, अहिंसा आदि क्यों सीखेगा?

वर्तमान समय में धर्म के नाम पर बहुत अधिक कार्य-कलाप हो रहे हैं। इस पर प्रचार भी खूब हो रहा है किन्तु धार्मिक कटुता तथा विवाद भी उतना ही बढ़ रहा है। इन कृत्यों से किसी पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं हो रही है क्योंकि यह सब अहंकार और प्रदर्शन के लिए हो रहे हैं। यह सारे प्रदर्शन के कार्य विशेष धर्म की श्रेणी के हैं। विशेष धर्म में पाखण्ड का जो परिणाम होता है वर्तमान समय में वह स्पष्ट है। सामान्य धर्म से सम्बन्धित कार्य बहुत कम दिखायी पड़ते हैं। इन कार्यों में जनता का समर्थन नहीं मिलता क्योंकि इससे मनोरंजन और गुटबन्दी कुछ भी नहीं होता है। संगठन बनाने और समर्थन पाने के अनेक उपायों में विशिष्ट धर्म (सम्प्रदाय) भी एक प्रमुख है। जातिवाद भी एक उपाय है। इन बुरे उपायों का भरपूर उपयोग वर्तमान समय में हो रहा है और धर्म के नाम पर समाज की अधोगति हो रही है। यह धर्म को बदनाम करना है। जो कुछ व्यवस्था है उसका कारण धर्म ही। सामान्य धर्म की समुचित प्रतिष्ठा होने पर सारी कुरीतियों का उन्मूलन स्वयं हो जायेगा।

मीमांसा शास्त्र की मान्यता है किकर्त्ता, देश, काल, द्रव्य और क्रिया के वैगुण्य (दोष) के कारण परिणाम ठीक नहीं निकलते हैं। आज के विशिष्ट धार्मिक कार्यों में पाँच वैगुण्य भरे हैं। कुछ भी शुद्ध नहीं है। यज्ञ, कर्मकाण्ड तथा तप का फल कहाँ से मिलेगा। इसके लिये जरूरी है कि सामान्य धर्म की साधना पक्की की जाय। इसमें शासन की सहायता भी, वर्तमान संविधान के अंतर्गत, मिल सकती है। सच्चरित्र विद्यार्थी व नागरिक, शुद्ध वस्तुयें तथा वातावरण की शुद्धि– इतनी बातें शासन की सहायता से समाज को मिलेगी। कर्त्ता, देश और द्रव्य के शुद्ध होने पर क्रिया और काल का निर्धारण समाज के मनीषी कर सकते हैं। पाँचों के संयोग से अभीष्ट पुरुषार्थ की सिद्धि हो सकती है।

एक मान्यता है कि ''अकरणात् मन्दकरणम् श्रेयः' यानी न करने से थोड़ा ही करना अच्छा है। यह मान्यता सामान्य धर्मों के विषय में तो सही है। सत्य का पूरा आचरण नहीं होता तो कुछ करना भी ठीक है, किन्तु विशेष धर्म के विषय में कोई भी त्रुटि क्षम्य नहीं है। त्वष्टा जैसे ऋषि से त्रुटि होने पर विपरीत फल हो गया था। अतः विशेष धर्म का शास्त्र सम्मत होना और सम्यक् निर्वाह

आवश्यक है। सामान्य धर्म के बद्धमूल होने पर ही आगे की आशा की जा सकती है। न्यायोपार्जित धन ही धन है, धर्म से अविरुद्ध काम ही अभीष्ट है, सदाचारी द्वारा सम्पादित कृत्य ही लोक-परलोक में फलदायी है। लोक की साधना और ईशोपासना दोनों के संयोग से मृत्यु का पारगमन और अमरत्व (ज्ञान या मोक्ष) प्राप्ति होती है।

जीवन्मुक्ति

I

मनुष्य जीवन के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष यह चार पुरुषार्थ मान्य हैं। तीन पुरुषार्थ तो इसी जीवन में प्राप्त किये जाते हैं। चौथा–मोक्ष, जीवन काल में या इसके अनन्तर (विदेह) प्राप्त होता है। जीवन-काल में मुक्ति को ही जीवन्मुक्ति कहते हैं। विभिन्न दर्शनों एवं सम्प्रदायों में जीवन्मुक्ति के विषय में विवाद है। यह होता है या नहीं और इसका स्वरूप, लक्षण तथा साधन क्या है; यह विवादास्पद है। लेकिन विचार करने पर विवाद के लिए स्थान नहीं रह जाता है।

इस सृष्टि में मनुष्य सर्वोत्कृष्ट कृति है और मनुष्य द्वारा जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त का अन्वेषण उसकी चरम उपलब्धि है। जीवन्मुक्त के आचरण को ही आदर्श बनाकर गीता-शास्त्र ने कर्मयोग की प्रतिष्ठा की। आजकल कर्मयोग और गीता की चर्चा बहुत है, लेकिन जीवन्मुक्ति को लोग नहीं जानते हैं। जीवन्मुक्त के बाद कर्मयोगी बनना आवश्यक है, इस पर विवाद हो सकता है। जीवन्मुक्ति के लिए कोई शास्त्र नहीं होता है। उसका आचरण स्वयं शास्त्र है। अतः वह जो कुछ आचरण, देहपात के पहले, करता है वही समाज के लिए अमृत है।

जीवन्मुक्ति होती है यह बात इससे प्रमाणित है कि ज्ञान (तत्व ज्ञान) से मुक्ति मिलती है और तत्व (आत्मा) का ज्ञान जीवन-काल की साधना से ही मिलता है। अतः जीवनकाल में ज्ञान होने पर जीवन्मुक्त होना सिद्ध है। जीवन्मुक्ति होती है और समाज को जीवन्मुक्त पुरुषों की आवश्यकता संजीवनी शक्ति के लिए पड़ती है, यह निर्विवाद मान्य होना चाहिए।

जीवनन्मुक्त पुरुष का स्वरूप आत्मस्थता बतायी गयी है। वह आत्मा में ही रमण करता है। अतः इसका स्वरूप निर्धारण करना आत्मा की तरह ही गूढ़ विषय है। ऐसे पुरुष के लक्षण समत्व-बुद्धि, त्याग, विषयें में अनाक्ति आदि है। ''यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः' यानी जिससे लोगों को कष्ट नहीं होता और लोगों से जिसे कष्ट नहीं होता–यह जीवन्मुक्त का अपरोक्ष लक्षण है। ऐसा आदमी काम, क्रोध, लोभ तीनों से परे होता है। समाज में रह कर किसी पर भार नहीं होता है। समाज को शान्ति का सन्देश अपने स्वाभाविक आचरण से देता है। इन लक्षणों को जानने के बाद सभी जीवन-मुक्ति को परम पुरुषार्थ मानेंगे।

जीवनन्मुक्ति जितनी स्पृहणीय है उतनी ही दुर्लभ भी है। सत्य-प्रतिज्ञ, सदाचारी, अनवरत अभ्यास करने वाला व्यक्ति ही इस पद तक पहुँच सकता है। ऐसा पुरष बिना चाहे युगनिर्माता बन जाता है और अकर्ता भी होता है।

बैखरी, मध्यमा तथा पश्यन्तौ तीन वाणियों को क्रमशः श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के नाम से जाना जाता है। तुरीय वाणी (परा) तुरीय अवस्था में ही प्राप्त होती है। अतः इसकी चर्चा यहाँ नहीं है। साधक के लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन यही तीन उपयोगी हैं। शास्त्रों का अध्ययन, उनका मनन तथा उन्हें आचरण में लाने से रास्ता प्रशस्त होता है। दीर्घकाल तक धैर्य के साथ आचरण से दृढ़ भूमि मिलती है और आत्म-ज्ञान होता है।

इस तरह स्वरूप, लक्षण और साधन पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया। वर्तमान समय में जीवन्मुक्त पुरुषों की कमी से ही संकट दिखायी पड़ रहा है। समाज आदर्श विहीन है। अपनी प्राचीन विद्या का पुनः प्रचार करना और उनके द्वारा सुखी समृद्ध और शान्त राष्ट्र की कल्पना वांछित है। एक भी योग्य व्यक्ति बनाना समाज की सबसे बड़ी सेवा है। जिस समाज में जीवनमुक्त पैदा होने लगे वह अमर होता है।

II

सूर्यमण्डल के निकलने के पहले प्रकाश हो जाता है। मुक्ति की साधना देह- त्याग के पहले फलवती होने लगती है। ''विमुक्तश्च विमुच्यते'' इस श्रुतिवाक्य से निःसन्देह जीवन काल में ही मुक्ति-प्राप्ति का समर्थन है। अन्यत्र भी ''इह चेदबेदीदथ सत्यमस्ति नो चेदवेदीत् महती विनष्टिः' लिखा है। इसका अर्थ है कि जीवनकाल में ही ज्ञान (मोक्ष) होने में सफलता है, नहीं तो महान क्लेश होगा ही। यावन्मात्र क्रिया-कलाप हैं वे दुखों को दूर करने और सुखों की प्राप्ति के लिए किये जाते हैं। विज्ञान भी इसी प्रयास में लगा है। सुख और दुःख का सबसे सरल ज्ञान स्ववशता और परवशता से होता है–''सर्वं परवशं दुःखं, सर्वं आत्मवशं सुखम् ।'' वासनायें ही परवश बनाती हैं अत :–

बन्धो हि वासना बन्धो मोक्षः स्याद्वासनाक्षयः।
वासनास्तु परित्यज्य मोक्षार्थित्वमपि त्यज।।

परमस्वतंत्र, आप्तककाम तथा निर्भय होने के लिए जीवन्मुक्ति के अलावा दूसरा साधन नहीं है। योग की सात भूमियाँ बतायी गयी हैं–शुभेच्छा, विचारगा, तनुमानसा, सत्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभाविनी, तुर्यगा। इनमें से चौथी से सातवीं अवस्था तक के साधक को जीवन्मुक्त कहा गया है। इस तरह जीवन्मुक्त के चार भेद हैं–ब्रह्मवित्त, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान्, ब्रह्मविद्वरिष्ठ। सातवीं भूमि में स्थित होने पर साधक समाधि में ही रहता है। व्युत्थान सम्भव नहीं है। ऐसा साधक पुनः जन्म नहीं लेता है।

जीवन्मुक्ति के लिए वासनाक्षय, मनोनाश तथा तत्वज्ञान तीन साधनाएँ, अपेक्षित हैं। तीनों की साधना साथ-साथ होती है। यह एक दूसरे के लिए पूरक है। हठपूर्वक या अन्य किसी योग से वासनाक्षय और मनोनाश करने पर भी तत्वज्ञान के अभाव में पुनः क्लेश होने की सम्भावना रहती है। तत्वज्ञान से भविष्य में भी भय की आशंका नहीं रहती है। सात्विक और तामस दो तरह की वासनाएँ होती है। केवल सात्विक वासनाओं से भी आन्तरिक लगाव कष्ट का कारण है। अपने दोषों को देखना और उनका अपाकरण करना, परदोषों को न देखना, यह साधना के लिए एक सरल तरीका है।

''कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः' आदि जीवन्मुक्त के लिए आदर्श श्रुति वाक्य हैं। कर्म के दो प्रभाव होते हैं–अपूर्व और संस्कार। कर्म से लिप्त न होने पर दोनों निष्प्रभावी हो जाते हैं। इसकी विश्वसनीय विद्या वेदान्त दर्शन ही बताता है। धर्म की स्थापना जीवन्मुक्त पुरुष करता है। मनुस्मृति में है–

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिः नित्यमरागद्वेषिनिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातः यो धर्मः तन्निबोधत।।

विद्वान्, सज्जन, रागद्वेष से रहित और शुद्ध हृदय वाला आदमी जीवन्मुक्त ही होता है। धर्म गुरु बनने की इच्छा न होने पर भी अपने सहज आचरण से धर्म की स्थापना करना ही जीवन्मुक्त का कार्य है। व्यष्टि और समष्टि में अविरोधपूर्वक लोक और परलोक दोनों का विधायक–जीवन्मुक्त पुरुष हर एक समाज में अपेक्षित है। वेदान्त दर्शन की प्रतिष्ठा ऐसे पुरुष द्वारा ही संभव है। वर्तमान समय में यही दर्शन विश्व कल्याण के लिए समर्थ है।

अन्तःकरण और उसकी साधना

अन्तःकरण क्या है, इस करण के द्वारा कौन सी साधना होती है, इस करण को कैसे सिद्ध (उपयोगी) बनाया जाय, अन्त;करण और प्राणों की साधना में क्या अन्तर है– ऐसे प्रश्नों पर विचार करना है। 10 इन्द्रियों को बाह्यकरण कहा जाता है। इन इन्द्रियों का नियंत्रण अन्तःकरण के द्वारा होता है। अन्तःकरण के अनुसार ही इन्द्रियाँ कार्य करती है। अतः इन्द्रिय निग्रह के लिए अन्तःकरण का निग्रह, उसका स्वच्छ, प्रसन्न और कार्योपयोगी होना बहुत आवश्यक होता है। किसी भी कार्य को करने के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है। शक्ति प्राणों की उपासना से मिलती है, किन्तु केवल शक्ति अभीष्ट नहीं है। उसका सदुपयोग नितांत आवश्यक है। सदुपयोग के लिए अन्तःकरण की पवित्रता आवश्यक है। व्यक्ति के उत्थान और उसके द्वारा समाज के हित को ध्यान में रखकर इस विषय को सम्यक जानना प्रत्येक साधक के लिए आवश्यक है। मनोविज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान, समाज विज्ञान, धर्मविज्ञान तथा दर्शनशास्त्र सभी में इस विषय का बड़ा महत्व है।

पाश्चात्य चिंतन में अन्तःकरण के लिए एक शब्द है–मस्तिष्क । कार्यभेद के अनुसार इसे तीन भागों में बाँटा गया है–अनुभव, इच्छा, ज्ञान। स्थिति भेद के अनुसार सचेतन, अर्धचेतन, अचेतन तीन भेद है।। यह सब मस्तिष्क के ही धर्म-गुण हैं। किन्तु भारतीय चिंतन में इस विषय पर बृहत् विवेचन बहुत पहले से उपलब्ध है। अन्तःकरण में सामान्यतया मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार–चार अंग समाहित माने जाते हैं। इसे हृदय-ग्रन्थि कहा गया है। यह चेतन और अचेतन (पुरुष, प्रकृति) के बीच पुल है। संकल्प, विकल्प, निर्णय, गर्व, स्मृति, क्षमा, दया, लज्जा, तुष्टि इत्यादि अनगिनत कार्य-व्यापार इसके द्वारा होते हैं, जो कि व्यक्ति को बंधन या मोक्ष दोनों देने में समर्थ है। इन कार्य-व्यापारों का सम्पादन अन्तःकरण के विभिन्न अवयवों से होता है। अतः भारतीय चिंतन में अन्तःकरण के प्रभाग किये गये हैं। आधुनिक विज्ञान भी मानने लगा है कि मस्तिष्क में विभिन्न स्थल हैं, जिनसे विभिन्न इन्द्रियों का नियंत्रण होता है। स्थान विशेष घर चोट लगने से अंग विशेष खराब होता है। अतः ऐसा लगता है कि हमारे ऋषियों की चिंतन प्रणाली पूर्ण वैज्ञानिक है।

ब्रह्माण्ड का सन्निवेश पिण्ड में अन्तःकरण के रूप में है। यह इतना जटिल और गूढ़ है कि बहुत से दर्शन-सम्प्रदायों में इसे ही आत्मा मान लिया

गया है। लेकिन यहाँ आस्तिक दर्शनों के अनुसार ही चर्चा की जायेगी, जिसके अनुसार आत्मतत्व इससे भी सूक्ष्म ज्ञान का विषय है। न्याय-वैशेषिक में मन को अन्तःकरण कहा गया है, योग में चित्त नाम से अन्तःकरण ही है, सांख्य में मन, बुद्धि, अहंकार तीन भेद है। वेदान्त दर्शन में मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार चार भेद स्थापित किये गये हैं। चिंतन को परिश्कृत करते हुए यह चरमोपलब्धि है, जिसे परम अधिकारी ही जान सकता है। मन से संकल्प, विकल्प, बुद्धि से निश्चय, चित्त से स्मृति तथा अहंकार से गर्व, विषय से आत्म-संयोजन होता है। समस्त कार्य इन्हीं चार कोटियों में विभाजित हो जाते हैं। किसी भी कार्य की सिद्धि के लिए उपकरण की प्राप्ति आवश्यक है। मनुष्य जीवन की सार्थकता (ज्ञान-मोक्ष) के लिए अन्तःकरण को जानना और उसे कार्योपयोगी बनाना बड़ी भारी साधना है।

विवाह संस्कार

मानव जीवन में उद्देश्यों (पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए संस्कारों की नितान्त आवश्यकता है। जन्म के पहले से मृत्यु के बाद तक में कई संस्कार विहित हैं। इन संस्कारों में से विवाह संस्कार सबसे महत्वपूर्ण है। यह संस्कार सभी वर्णों में सर्वत्र होता है। कहीं-कहीं विवाह एक सम्बन्ध मात्र है, किन्तु वास्तविक फल की प्राप्ति के लिए इसे संस्कारयुक्त सम्बन्ध मानना पड़ेगा। विवाह शब्द वि + वाह से बना है जिसका अर्थ है विशिष्टतापूर्वक वहन करना। विशिष्ट होने के लिए संस्कार आवश्यक है। किसी भी कार्य को करने के लिए तैयारी आवश्यक होती है। संस्कार जीवन के पथ की तैयारी करते हैं। संस्कार से जीवन पथ पर चलने के लिए संवल मिलता है। विवाह के द्वारा दो प्राणियों का साथ-साथ चलना निर्धारित किया गया है। साथ चलना अधिक कठिन है, अतः अच्छा संस्कार होना आवश्यक है। इसीलिए ब्राह्म विवाह को आठ तरह के विवाहों में सर्वोत्कृष्ट माना गया है। इस संस्कार के साथ सम्पन्न विवाह में तलाक आदि के द्वारा विघटन नहीं होता है। सम्बन्ध के स्थाई और पवित्र होने पर परिवार में विश्वास, प्रेम, सहिष्णुता आदि रहते हैं। इससे अच्छी सन्तान तथा सुखी परिवार का प्रादुर्भाव होता है।

विवाह के तीन उद्देश्य होते हैं–

(1) धर्म, (2) प्रजा, (3) रति। रति इस लोक के लिए है। प्रजा और धर्म इस लोक और परलोक दोनों के लिए होते हैं। इस तरह विवाह के द्वारा लोक-परलोक दोनों को बनाया जाता है। विवाह संस्कार के समय से मनुष्य विशेष जिम्मेदारी पाता है तथा एक नया जीवन आरम्भ करता है। वह व्यक्ति तथा समाज दोनों का विधायक और आधार बनता है। विवाह के द्वारा ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश होता है। गृहस्थाश्रम सभी आश्रमों का आधार है। विवाह से अच्छे नागरिक देना एक कर्तव्य है तथा धर्म के द्वारा सभी प्राणियों को सुखी रखते हुए अपना मार्ग प्रशस्त करना दूसरा। इन दोनों कर्तव्यों की पूर्ति तभी संभव है, जब विवाह को उचित महत्व देते हुए इसे संस्कार के रूप में स्वीकार किया जाय।

आजकल विवाहों में हास-उल्लास तथा द्रव्य-व्यय तो बहुत होता है, किन्तु वर-वधू के संस्कार का अंश छोड़ दिया जाता है। बात उलटी है। संस्कार प्रधान होना चहिये और उसके अंग के रूप में हर्षोल्लास भी मनाया जाना चाहिये। वर-वधू कल्याण की बात न सोचने वाले माँ-बाप तथा कुटुम्बी

समाज का बहुत अहित कर रहे हैं तथा अपनी सन्तान का भी अहित कर रहे हैं। संस्कार-युक्त सम्बन्ध की भावना विवाह पद्धति के मूल में है। पद्धति के अनुसार लोक और वेद दोनों को मानते हुए किया गया विवाह ही सुख और समृद्धि को देने वाला होता है।

विवाह संस्कार की व्यवस्था में समधी का सबसे बड़ा योगदान होता है। दोनों समधी ही सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। समधी का अर्थ है समान बुद्धि। अतः विवाह समान के साथ ही हो सकता है। मैत्री, युद्ध तथा विवाह यह सब असमानता होने पर शीघ्र समाप्त हो जाते हैं। धन, प्रतिष्ठा, कुलीनता, व्यवसाय इनकी समानता होने पर विवाह सम्बन्ध स्थायी होता है। संस्कार पूर्वक करने पर यह सम्बन्ध अच्छी सन्तति और धर्म वृद्धि का कारण होता है।

विवाह-संस्कार के महत्व को समझते हुए आवश्यक है, कि विवाह-पद्धति के अनुसार सारी क्रियायें विधिवत कराई जाय। सप्तपदी, लाजाहवन, अग्नि की साक्षी आदि के द्वारा एक आध्यात्मिक प्रभाव पड़ता है, जिससे सम्बन्ध अटूट होता है। लोक-रीति कुलरीति तथा वेद-रीति सभी का समावेश होना चाहिये। एक पौराणिक विवाह पद्धति होनी चहिये जिससे मंत्रों के न जानने वाले भी सभी क्रियायें पूरी कर सके। विवाह के पूर्व पृष्ठभूमि का शुद्ध होना आवश्यक है। लड़की को केवल इसलिए नहीं पढ़ाना चाहिये कि भविष्य में अपने पैरों पर रह सके। गृहिणी बनने पर उसे पति के आश्रित रहने को तैयार होना चाहिये। निर्वाह करना पति की जिम्मेदारी है। सम्बन्ध को स्वीकार करने के लिए समधी लोगों का धर्म है, कि दोनों परिवार तथा वर-वधू में सामानता है या नहीं, केवल इसी बात को देखें। दहेज के विषय में सोचना और बात करना अनर्थ हैं। आजकल यही अनर्थ विवाह संस्कार को बिगाड़ रहा है। कन्या-पक्ष को कन्या तथा वर को यथाशक्ति देना चाहिए तथा समधी आदि का यथाशक्ति सम्मान करना चाहिए। किन्तु वर पक्ष द्वारा किसी वस्तु या धन को माँगना अनर्थ ही है। वर-पक्ष को केवल लक्ष्मी स्वरूप वधू की कामना करनी चाहिए। समानता होने पर सभी बातें यथेष्ठ मिलती है। विवाह में मिले धन पर कन्या का अधिकार होता है। समधी द्वारा अपने लिये धन लेना पाप कर्म है। इस शास्त्रादेश को मानना चाहिये, जिससे वर-वधू सुखी रहे, विवाह संस्कार की सार्थकता इसी में है। इसे न मानने वाले कुलों में वर्ण-संकरता तथा उनका पतन अवश्यम्भावी है। धर्म की स्थापना के लिए विवाह संस्कार की पवित्रता अनिवार्य है।

और्ध्वदैहिक संस्कार

शिक्षा और संस्कार के द्वारा स्वभाव को बदला जाता है। स्वभाव दुरतिक्रमणीय होता है। प्राकृत से संस्कृत बनाना ही मनुष्य योनि की उपलब्धि है। हमारे यहाँ जन्म के पहले से मरने के बाद तक संस्कारों का विधान है। मरने के बाद जो संस्कार किये जाते हैं, उनहें और्ध्व-दैहिक संस्कार कहते हैं। सभी संस्कार पिता अपने पुत्र के लिए करता है, किन्तु और्ध्व दैहिक संस्कार पुत्र अपने पिता के लिए करता है। इसी संस्कार के लिए पुत्र की आवश्यकता होती है, इसी से पुत्र शब्द सार्थक होता है। किसी न किसी रूप में यह संस्कार प्रत्येक धर्म में है। हिन्दू धर्म में इसकी विशेष व्यवस्था है।

मरने के तुरन्त बाद पिण्डदान के रूप में और्ध्व दैहिक संस्कार आरम्भ हो जाता है।

और्ध्व दैहिक संस्कार के दो उद्देश्य हैं–

(1) तृप्ति

(2) भावी शरीर की रचना।

मृतात्मा को भी क्षुप्तिपासा का प्रभाव होता है। पिण्ड, तर्पण तथा दान के द्वारा उसे तृप्त किया जाता है। स्थूल शरीर के अन्त के बाद सूक्ष्म शरीर रहता है। तृप्त होने पर इस शरीर वाला जीव प्रसन्न होता है। प्रसन्नता से शरीर हल्की होती है जिससे ऊर्ध्व लोकों में गमन की क्षमता मिलती है।

मरणोपरान्त जीव की चार स्थितियाँ होती हैं–

(1) तुरन्त जन्म

(2) जन्म लेने का प्रयास

(3) चन्द्रलोक आदि (पितर के रूप में)

(4) मुक्ति (अपुनरावर्तन)।

''यथाकर्म यथाश्रुतम्' इन स्थितियों को जीव प्राप्त करत है। जन्म लेने में तथा पितर के रूप में प्रतिष्ठित होने में मरणोपरान्त संस्कारों का बड़ा योगदान है। जिसका संस्कार किया जाता है, उसका हित तो होता ही है, करने वाले का भी हित होता है। ''परस्परं भावयन्त्रः' सभी श्रेय को प्राप्त करते हैं।

सामान्यतया मरने के बाद वर्ष भर संस्कार का क्रम रहता है। पितरों में मिलने पर, गयाश्राद्ध के रूप में अन्तिम संस्कार किया जाता है। इसके अलावा पार्वणश्राद्ध तथा एकोद्दिष्ट श्राद्ध किये जाते हैं। नित्यतर्पण तथा पितृकर्म भी

पितरों के लिए किये जाते हैं, जो उनके लिए प्रसन्नता और शक्ति प्रदान करते हैं। इन संस्कारों को करने वाला अपने कल्याण के निमित्त सब करता है, क्योंकि न करने पर पितरों के रोष से सब नष्ट हो जाता है, यहाँ तक कि बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। अतः और्ध्वदैहिक संस्कार तथा श्राद्ध तर्पण के कार्यों को श्रद्धापूर्वक सभी को करना ही चाहिए। इस कार्य के लिए द्रव्य या अन्य वस्तु का उतना महत्व नहीं है, जितना श्रद्धा का। श्रद्धा होने पर तन्निमित्त रोकर अश्रुपात करने से भी सारा कर्मकाण्ड पूरा हो जाता है और दोनों का कल्याण होता है। यह विचित्र विज्ञान है, जिसे शास्त्रों में श्रद्धा रखने पर समझा जा सकता है।

गीता की मुख्य शिक्षा

गीता हिन्दू धर्म का एक प्रमुख ग्रन्थ है। गुरुमूर्धन्य शंकराचार्य से लेकर आज तक जितने दार्शनिक, धार्मिक या सामाजिक चिन्तक हुए, लगभग सभी ने गीता पर अपने विचारों को लिखा है। जितने भाष्य और टीकाएँ गीता की हैं, किसी अन्य ग्रन्थ की नहीं हैं। वेद, उपनिषद, धर्मसूत्र, स्मृति, रामायण, महाभारत तथा ब्रह्मसूत्र आदि के होते हुए गीता को ही क्यों महत्त्व दिया गया यह विचारणीय है। गीता में प्रमुख शिक्षा क्या है, यह बलवती जिज्ञासा है।

यथा सम्भव लघु आकार में (सात सौ श्लोकों में) भारतीय चिन्तन का समग्र रूप गीता में उपलब्ध होता है। सम्पूर्ण वाङ्मय पढ़ना आजकल कठिन है। अपूर्ण अध्ययन से असंतोष रह जाता है। इस समय मनुष्य की आयु इतनी नहीं है कि सभी शास्त्रों का अध्ययन कर सके। इसलिये संक्षिप्त ग्रन्थों का महत्त्व बढ़ गया है। संक्षेप में गीता में सब कुछ मिल जाता है। गीता के महत्त्व का यही कारण है।

संक्षेप के कारण गीता गूढ़ है। बहुत से विषयों का संकेत और नाम मात्र मिलता है। विस्तार के लिये सम्बन्धित शास्त्र या मुख्य ग्रन्थ देखना आवश्यक है। गीता में सम्पूर्ण विषयों को एक साथ देखने पर अधिकारी अपने अनुसार विषय ग्रहण कर लेता है तथा उससे पूर्णता प्राप्त करता है। ज्ञान, कर्म और दोनों के लिये उपकारक उपासना के मार्ग–गीता में प्रदर्शित हैं। लेकिन गीता एक ग्रन्थ है, जिसका एक मुख्य वाच्य है। इसमें विषय-सामग्री को प्रस्तुत करके पाठक के ऊपर निर्णय करने की जिम्मेदारी दी गयी है, किन्तु क्या श्रेयस्कर है, इसका निश्चय भी बताया गया है। ''तदेकं वद निश्चित्य' का उत्तर भी दिया गया है। अन्त में 'यथेच्छसि तथा कुरु' कहा गया है। किन्तु अर्जुन ने उत्तर में 'करिष्ये वचनम् तव' कहा है। कृष्ण के वचन तो सम्पूर्ण गीता में हैं, लेकिन जो वचन अर्जुन के लिये पालनीय हैं, वह है–''तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशोलभस्व।'' इन सब वाक्यों का समन्वित अर्थ निकालना ही अभीष्ट है।

किसी शास्त्र को पढ़ने के लिए अनुबन्ध चतुष्ठय-अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन जानना आवश्यक होता है। तात्पर्य निकालने के लिए छः लिंगों पर विचार अनिवार्य है। उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति को देखते हुए ही मुख्य शिक्षा का निर्णय सम्भव है। अधिकारी के भेद से शिक्षा में भी भेद हो जाता है। अधिकारी का निर्णय सर्वोपरि समस्या है। अर्जुन जैसे अधिकारी के लिये जो शिक्षा है, वही सबके लिये होना आवश्यक

नहीं है। कृष्ण ने अर्जुन के लिये निश्चित मार्ग बतलाया है,अन्य लोगों के लिये निर्णय करने की सामग्री दे दिया है। गीता में उपनिषदों का सारांश है, अतः उपदेशों में ज्ञान काण्ड है और ज्ञानमार्ग से भिन्न आशय गीता का भी नहीं हो सकता है। यह सर्वोपरि साधना है, ऐसी मान्यता गीता की भी है। अवर कोटि के अधिकारी के लिये सर्वोत्कृष्ट मार्ग भी निष्फल है। स्वधर्म का ज्ञान और उसका पालन सबसे बड़ी उपलब्धि है। स्वधर्म पालन में मृत्यु भी वरणीय है। स्वधर्म सबके लिये भिन्न-िीन्न है। इसका निर्णय शास्त्र व परम्परा से होता है। राग द्वेष से विमुक्त विद्वान इसका निर्णय कर सकते हैं। पवित्र अन्तःकरण होने पर आत्मा की आवाज भी स्वधर्म को बताती है। इसी को जानना और कुशलता पूर्वक उसका पालन करना गीता की मुख्य शिक्षा है। कर्म तथा निष्कामता दो स्पष्ट आदेश हैं। 'त्यक्तेन भुंजीथा'' गीता का भी मुख्य वाच्य है।

कुशलता क्या है तथा उसे प्राप्त करने का मार्ग क्या है। यह भी विचारणीय है। योग, जप, कर्मकाण्ड, उपासना आदि का महत्त्व कुशलता प्राप्त करने के लिये ही है। कुशलता से ही कर्म को अकर्म में परिणत किया जाता है। समत्व, निर्द्वन्दता, सर्वात्मभाव, निष्कामता, योगस्थता, स्थितप्रज्ञ आदि नामों से ज्ञात चरम स्थिति कुशलता की पराकाष्ठा है। इसकी प्राप्ति के लिये–''कर्मण्येवाधिकारस्ते मां फलेषु कदाचन। माकर्मफलहेतुर्भू मातेसङ्गो-स्त्वकर्मणि।।'' यह श्लोक गीता की चतुसूत्री को प्रस्तुत करता है। इसमें कर्म में कुशलता लाने की पूरी प्रक्रिया निरूपित की गयी है। मन को वश में करने पर ही यह सम्भव है। अभ्यास और वैराग्य मन को वश में करने के लिए साधन बताये गये हैं–तम और रज के सेवन से इन्द्रियों को विमुख करना वैराग्य है तथा सत् में संलग्न रहना ही अभ्यास है। सत्, रज, तम के भेद को जानने के लिये यम-नियम रूपी निवृत्ति और प्रवृत्ति का निरूपण किया गया है। यम-नियम के पालन से बुद्धि में सदसद् ज्ञान की क्षमता होती है। आरम्भ में साधन ही साध्य होता है किन्तु मुख्य साध्य को बुद्धिमान लोग नहीं भूलते हैं। साधनों को एकत्र करने के बाद उनका प्रयोग मुख्य साध्य में लगाने वाला व्यक्ति भवजाल से छूटता जाता है और साधनों को प्राप्त करके अहंकार करने वाला फँस जाता है। मन को वस में करने के उपरान्त दीर्घकाल के अभ्यास से स्वभावतः विषयेच्छायें समाप्त हो जाती हैं। ऐसी अमनस्कता की स्थिति में आत्मज्ञान प्राप्त होता है जो कि सभी आनन्दों का आशय है।

एक बात का स्पष्टीकरण आवश्यक है कि संसार में रह कर अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति के लिये शास्त्रों ने दो ही मार्ग बताया है। कर्म और ज्ञान दो श्रुति-विदित मार्ग हैं। गीता भी दो ही मार्गों को कहती है ''ज्ञानयोगेन सांख्यानाम् कर्मयोगेन योगिनाम् ।'' भक्ति और उपासना आदि कोई मार्ग नहीं

है। यह उक्त दो मार्गों के लिए सहायक होते हैं। भक्ति को अलग मार्ग मानने वाले लोग साधन को ही साध्य मानकर शास्त्रों की अवहेलना करते हैं। ज्ञानयोग निःसन्देह प्रवर कोटि का है। इसका संकेत गीता में है–''ज्ञानीत्वात्मैव में मतिः''। इस योग की सिद्धि में इसी जन्म में आत्मज्ञान हो जाता है तथा जीवन-मुक्ति हो जाती है। कर्म-मार्ग में अनेक जन्मों की संसिद्धि से परागति प्राप्त होती है। किन्तु कर्मयोग निरापद और उत्तरोत्तर प्रगति देने वाला है, योग भ्रष्ट होने पर भी अगले जन्म में सिद्ध करने का संस्कार और अवसर देने वाला है। वास्तव में दोनों मार्गों में अधिकारी भेद की बात है। ज्ञानमार्ग के अधिकारी विरले होते हैं। कर्ममार्ग के लिये सभी अधिकारी है। इसीलिये कर्ममार्ग को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। जो भ्रमवश अपने को उच्चकोटि का अधिकारी मानकर ज्ञान मार्गी बनता है वह कोई सिद्धि न प्राप्त करके पतित हो जाता है। कर्म-मार्ग में इस भ्रम तथा पतन की कोई आशंका नहीं है। इसलिये इसे राजयोग कहा गया है। गीताशास्त्र इसी कर्मयोग का प्रतिपादन करता है। कर्मयोग और ज्ञानयोग आत्यन्तिक भिन्न भी नहीं है। कर्मयोग से चलकर व्यक्ति ज्ञानयोग का वास्तविक अधिकारी बन जाता है और अन्तिम चरणों में वह ज्ञानयोगी होकर आत्मलाभ करता है। इस तरह दोनों की एक ही गति बनती है। ''यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।'' वाक्य की सार्थकता उपर्युक्त व्याख्या में ही है। जनक ने याज्ञवल्क्य से जो उपदेश सुना वह कर्मयोग से ज्ञानयोग में प्रवेश का ऐतिहासिक प्रमाण है। उत्तम अधिकारी होने के कारण तीव्र संवेग से दूसरा योग भी शीघ्र सिद्ध हो गया। अतः ''अभयं वै जनक प्राप्तोसि' ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा। इस तरह कर्मयोग की परिणति अनिवार्यतः ज्ञानयोग में होती है।

गीता कर्मयोगशास्त्र है। कर्म करने के लिये स्वधर्म पालन करना मुख्य आदेश है। ज्ञानमार्ग की दुर्गमताओं को बताते हुए स्वधर्म का अनुसरण करना तथा लौकिक और पारलौकिक दोनों जीवन का निःशंकरूप से अभ्युदय करना शास्त्र-सम्मति का निदर्शन है। शंकाओं के निवारण के लिए शास्त्रों और इतिहास से प्रमाण लिये गये हैं। धैर्य को बनाये रखने के लिये 'मन्मनाभव–आदि समर्पण बुद्धि को भी समझाया गया है। इस तरह सभी मार्गों का निदर्शन करते हुए अर्जुन के लिये अभीष्ट मार्ग का प्रतिपादन किया गया है। कर्मयोग को पुष्ट करने के लिए ही शास्त्र और ज्ञान को आधार और भक्ति को अवलम्ब बनाया गया है। गीता का स्वधर्म सामान्य कार्य नहीं है। उसके द्वारा उच्चतम पुरुषार्थ (मोक्ष) की प्राप्ति तक की व्यवस्था बनायी गयी है। मोक्ष बिना ज्ञान के सम्भव नहीं है। ज्ञानयोग भी गीता में प्रतिपादित है। इस तरह गीता में सभी मार्गों और सहायक साधनों का प्रतिपादन मिलता है। कर्तव्यनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा दोनों होने पर ही गीता के गूढ़ रहस्यों को समझा जा सकता है।

विज्ञान और दर्शन

विज्ञान से उस विषय का अर्थ लिया गया है, जो भौतिक पदार्थों का अध्ययन करता है। इसके अनुसार अध्ययन प्रयोग के अनुरूप होना चाहिए तथा यह प्रयोग दूसरे लोगों को भी दिखाया और समझाया जा सके। इन्द्रियगम्य पदार्थ ही इसके विषय हैं। दर्शन अलौकिक व इन्द्रियातीत बौद्धक विषयों का अध्ययन करने वाला शास्त्र है। इसके प्रयोगों को दूसरों को दिखाना या समझाना सामान्य अर्थ में सम्भव नहीं है। अपरा-परा, स्थूल-सूक्ष्म, लौकिक-अलौकिक आदि नामों से दोनों के क्षेत्र का भेद समझा जा सकता है। दोनों के क्षेत्र अलग-अलग हैं।

मानव से सम्बन्धित जितने शास्त्र हैं वे एक दूसरे से एकदम असम्बद्ध नहीं हो सकते हैं। जीवन धारण करना और उन्नति प्राप्त करना दो ही समस्याएँ हैं। सभी क्रियाओं और साधनाओं का समावेश धर्म में होता है। धर्म में अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की प्राप्ति होती है। अभ्युदय के लिए जीवित रहना आवश्यक है। विज्ञान इसमें सहायक है। निःश्रेयस् की प्राप्ति के लिए दर्शन के द्वारा प्रतिष्ठित सत्यों का निदिध्यासन अपेक्षित है। इस तरह विज्ञान और दर्शन का अध्ययन करते समय धर्म पर भी विचार करना परमावश्यक है।

आजकल विज्ञान और दर्शन दोनों का बड़ा प्रचार है। विज्ञान विकासोन्मुख है, ऐसा आकलन है। विज्ञान ने दर्शन के क्षेत्रों पर कब्जा कर लिया और दर्शन मे सूक्ष्म विषयों को छोड़कर विज्ञान का वर्चस्व दिखाई पड़ता है। दर्शन एक ग्राम्य शास्त्र के रूप में परिणत हो गया है, जब कि दर्शन ज्ञान से सम्बद्ध विषय है और ज्ञान मोक्ष विषयक होता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि विज्ञान और दर्शन दोनों धर्म के लिए सहायक है। एक से अभ्युदय और दूसरे से निःश्रेयस् की विधायें प्राप्त होती हैं। दोनों मिलकर रथ के दो चक्र की तरह दृढ़ता और गति में सहायक होते हैं। एक भी विकृत हुआ तो रथ और रथी सब की दुर्दशा हो जाती है। चाहे जहाँ विकृति हो दोषारोपण धर्म पर ही होता है। आजकल धर्म पर अनेक आक्षेप हैं। समृद्धि के बावजूद सुख शान्ति का अभाव है। समृद्धि ही रोग, शोक, वियोग और भय का कारण बनी हुई है। विज्ञान के प्रबल होने और दर्शन के अतिनिर्बल होने के कारण धर्म अस्थिर और गतिहीन हो गया है। प्रत्यक्ष में सभी को विश्वास है, अप्रत्यक्ष सत्यों की अवहेलना हो रही है। न्याय, त्याग, संतोष, मुदिता, करुणा आदि अप्रतिष्ठित हो चले हैं। विश्व की दुर्दशा का यही कारण है।

विज्ञान और दर्शन के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में अनेक विचार हैं। विज्ञान का उपनिवेश दर्शन है, विज्ञान दर्शन का अनुचर है, दर्शन विज्ञान पर अंकुश है, विज्ञान और दर्शन दोनों धर्म-रथ के दो चक्र हैं, दर्शन धर्म का अग्रज और विज्ञान धर्म का अनुचर है इत्यादि मान्यताएँ हैं। सभी मान्यतयें अपने-अपने स्थान पर सही है। समन्वय करने पर वास्तव में अविरोध है। सारे अध्ययन और अनुसंधान के केन्द्र में मनुष्य है। मनुष्य से अधिक महत्वपूर्ण कुछ नहीं है। धर्म मनुष्य के लिये है और धर्म के लिए ही विज्ञान और दर्शन है। विज्ञान से धर्म को आधार मिलता है और दर्शन से उसे गति मिलती है। विज्ञान या दर्शन कोई भी अकेले दोनों काम नहीं कर सकते हैं।

विश्व में सर्वत्र कार्य-कारण भाव है। जहाँ तक प्रत्यक्ष है वह विज्ञान का विषय है। जहाँ अप्रत्यक्ष है वहाँ कार्य-कारण भाव का आन्वेषण दर्शन करता है। यह सूक्ष्म और बुद्धि ग्राह्य विवेचन होता है। धर्म के हित में इस पर विश्वास किया जाता है। दर्शन का आधार प्रमाण और प्रातिभज्ञान है। धर्म का आधार विश्वास है। विज्ञान का आधार प्रयोग और प्रदर्शन है। कोई भी प्रमाण जब प्रत्यक्ष हो जाता है तो वह विज्ञान का विषय हो जाता है। विज्ञान का विषय न होने पर उस पर वैज्ञानिक का निर्णय हास्यास्पद है। ईश्वर है या नहीं इस पर प्रबुद्ध वैज्ञानिक चुप ही रहेगा, क्योंकि वह सिद्ध या असिद्ध कुछ नहीं कर सकता है। धर्म की माँग है कि बहुत अन्न पैदा हो जिससे अभाव न होने पाये ''तस्मादन्नं बहु कुर्वीत''। इस समस्या के समाधान के लिए विज्ञान और दर्शन दोनों सहयोग देंगे विज्ञान यूरिया खाद के प्रयोग द्वारा अन्न की उत्पत्ति बढ़ाने की राय देगा। परीक्षण करने पर यह मिलता है कि ऐसे अन्न से रोग बहुत होते हैं। धर्म की माँग यह भी है कि लोग नीरोग रहें और अन्न की कमी न हो। दर्शन भी इस विषय में हस्तक्षेप कर सकता है। जैसा अन्न वैसी प्रज्ञा अतः अन्न की शुद्धि आवश्यक है। शुद्ध अन्न खाने से मेधावी और विचारवान संतान होगी जिससे जनसंख्या की समस्या समाप्त हो जायेगी। अतः अन्न की कमी नहीं रह जायेगी। इसके अलावा युक्ताहार7विहार के द्वारा कम अन्न से भी काम चल जायेगा। इस विषय में तुरन्त के समाधान के लिए विज्ञान और दीर्घकालीन योजना के रूप में दर्शन की उपयोगिता है। धर्म दोनों के समन्वित फल पर निर्भर कर सकता है। ईशोपनिषद के अनुसार विद्या और अविद्या दोनों की आवश्यकता है। दर्शन विद्या है और विज्ञान अविद्या है। दोनों के सेवन से ही लक्ष्य सिद्धि सम्भव है।

———————

पुराणों की प्रासंगिकता

ऐसा विषय जो स्मृति में उपस्थित हो और जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती हो, वह प्रासंगिक कहलाता है। आधुनिक समाज में पुराण कितने स्मृत हैं तथा कहाँ तक अनुपेक्षणीय हैं, इस विषय पर निर्णय अभीष्ट है। इस प्रसंग में पुराण क्या है, क्यों बनाये गये, किसने बनाया, कब बनाया आदि बातें भी ज्ञातव्य है।

संस्कृत वाठमय में पुराण के रूप में विपुल साहित्य प्राप्त होता है। मुख्य पुराण अठारह हैं, जिन्हें वेदव्यास ने लिखा या सम्पादित किया। वेद और लोक एक दूसरे के पूरक हैं। विद्वान ब्राह्मणों के लिए श्रुतियों का सम्पादन करने के उपरान्त सामान्य लोगों के लिए पुराणों का सम्पादन करने पर ही महर्षि वेदव्यास कृतकार्य हुए। पुराणों से श्रुति की कल्पना की जाती है। इसीलिये श्रुति से विरोध होने पर यह अमान्य होगा। प्रत्यक्ष–वेदों का अर्थ समझने में पुराण सहायक होते हैं। वेद और पुराण एक दूसरे के उपकारक हैं। वेदों का रहस्य समझना कठिन है, इसके लिये परम्परा तथा ब्रह्मचर्य का सेवन अनिवार्य है। पुराणों में वेद की ही बातें सरल ढंग से दी गयी हैं। जिन्हें श्रद्धायुक्त होने पर सामान्य लोग भी समझ सकते हैं। विषय की दृष्टि से सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित यह पुराण के पाँच लक्षण हैं। विषयों की विविधता, गंभीरता तथा रोचकता के कारण जन-मानस में पुराणों का अमिट स्थान बन गय है। पुराण शब्द पुरातन का भी वाचक है। पुराणों की विषय-सामग्री पहले से लोक में उपलब्ध थी। द्वापर के अन्त में, आज से पाँच हजार वर्ष से अधिक पहले, लोगों की बौद्धिक क्षमता में ह्रास को देखते हुए, शक्ति के वर्चस्व हेतु पुराणों की रचना की गयी। बाद में पुराणों में राजाओं तथा सम्प्रदायों का संकीर्ण दृष्टिकोण भी प्रविष्ट हो गया। बहुत से स्थान बाद में जोड़ दिये गये। श्रुतियों की तरह पुराण पूर्ण शुद्ध नहीं रह पाये। लेकिन नीर-क्षीर विवेक सम्भव है। पुराणों की उपयोगिता अब भी साध्य है।

कालिदास के जमाने तक पुरातनता के प्रति अत्यन्त आकर्षण था। नवीनता की ओर आकृष्ट करने के लिए उन्हें लिखना पड़ा–''पुराणमित्येव न साधु सर्वम् ——।'' अब ठीक विपरीत स्थिति है। नवीन की चाह इतनी हो गयी कि प्राचीन उपेक्षणीय हो गया। यह सांस्कृतिक ह्रास का परिणाम है। प्राचीनता में ही संस्कृति का मूल है। संस्कृति का निर्माण युगों में होता है। एक

व्यक्ति या शासन की अवधि इसके निर्माण के लिए सर्वथा अपर्याप्त है। प्राचीनता को छोड़ने और नवीनता का आलिंगन करने पर, संस्कृति-विहीन समाज, अधःपतन की निम्नतम सीमा पर पहुँच सकता है। अतः पुराणों की प्रासंगिकता स्वीकार्य है। इस रहस्य को समझकर ही आधुनिक मनीषियों ने स्वीकार किया है कि "श्रुतिस्मृति द्वे नेत्रे पुराणं हृदयं स्मृतम् —।" आधुनिक समाज में जनमानस के सबसे निकट पुराण ही है। अतः यह समाज के लिए हृदय तुल्य है। इसके बिना समाज सुप्त एवं निष्प्राण हो जायेगा।

पुराणों की कथाओं के आधार पर ही आधुनिक भाषाओं में अनेक ग्रन्थ रचे गये हैं और नवीन रचनायें होती जा रही हैं। संस्कृत वाङ्मय में बड़े-बड़े महाकाव्य और नाटक पौराणिक कथाओं पर आधारित हैं। पुराण पहले से लेकर आज तक कवियों के उपजीव्य रहे हैं। गणित, जयोतिष, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, समाजशास्त्र तथा विविध विषयों पर प्रकीर्ण सामग्री पुराणों में उपलब्ध होती है। इन्हीं के आधार पर विश्वसनीय स्मृतियों और शास्त्रों का निर्माण किया गया है। पुराणों में पाप-पुण्य, कर्म-अकर्म, लोक-परलोक आदि की बातें रोचक ढंग से दी गयी हैं। कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनों का विषय विवेचन पुराणों में मिलता है। पौराणिक कथाएँ लोक में प्रचलित हैं। लोग समय-समय पर इन्हीं कथाओं की दुहाई देते हैं। इस तरह पुराण समाज की स्मृति में विद्यमान हैं–इस बात को इंकार नहीं किया जा सकता है।

स्मृत होने पर यह पुराण उपेक्षणीय हैं या नहीं, यह प्रश्न विवादास्पद है। पौराणिक कथाओं को लोग अविश्वसनीय मानते हैं। पुराणों में अतिरंजित कथाएँ दी गयी हैं। कुछ कथाओं की सम्भाव्यता भौतिक दृष्टि से अतर्क्य है। त्रिपुरदाह, समुद्रमंथन आदि कथाओं का बोध भौतिक विधि से नहीं होता है। किन्तु यह सब प्रकरण ही पुराणों को गंभीर बनाते हैं। जगत की रचना तथा कर्म की गति बहुत गूढ़ हैं। रहस्यों के अन्वेषण से ज्ञान सम्भव है। रहस्यात्मक प्रसंगों को श्रद्धा और धैर्यपूर्वक पढ़ा जा सकता है। विज्ञान के नये प्रयोगों से पुराण में निहित बहुत से प्रसग अब सम्भव लगने लगे हैं। पुराणों की विषय सामग्री विश्वसनीय सिद्ध होने पर उनकी उपेक्षा करने का प्रश्न नहीं होता है। यही इनकी प्रासंगिकता का रहस्य है।

इतिहास और पुराण में अन्तर है। इतिवृत्ति को बताना इतिहास का कार्य है। इतिहास तथा कल्पित कथाओं के आधार पर कार्याकार्य का विवेचन पुराण का विषय है। पुराण में इतिहास का गुण नहीं मिलता तो ऐसी अपेक्षा भी नहीं करनी चाहिए। पुराणों का मुख्य कार्य धर्म है। चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति का उपाय बताते हुए धर्म की प्रधानता तथा अनिवार्यता का प्रतिपादन पुराण करते हैं। पुराणों में आत्मज्ञान को ही सर्वोपरि माना गया है। सोपान के रूप में कर्म,

उपासना व ज्ञान का प्रतिपादन है। आख्यानों से साधन चतुष्टय और शमदमादि षटसम्पत्ति प्राप्ति करने का निर्देश मिलता है। अभ्यास और वैराग्य ही उत्थान के मार्ग है–यह पुराणों में बार-बार मिलता है। इस धर्म से अभ्युदय तथा निःश्रेयस की प्राप्ति कैसे हो, यह पुराणों का मुख्य विषय है। यह सब विषय वेद-निःसृत है, तथा उसी के आधार पर विस्तार प्राप्त है। अतः ये विश्वसनीय है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर पुराणों को प्रासंगिक मानना पड़ेगा। पुराणों को प्रासंगिक मानते हुए उसका अर्थ ''पुराऽपिनवः'' समीचीन लगता है। परम्परागत प्राचीन बातें भी जिसमें हो और नवीन रूप से (आकर्षक) दिखाई पड़े, वही पुराण है। इसी उद्देश्य से पुराणों के अध्ययन और प्रचार-प्रसार की आवश्यकता है। आजकल जाति व लिंग का भेद स्वीकार करना अवैधानिक है। मनुष्य की आयु कम है, अन्न तथा अन्य तत्व दूषित है। ऐसी स्थिति में सामान्य लोगों को वेद के स्थान पर पुराणों का ही सहारा लेना पड़ेगा। कर्मवाद, पाप-पुण्य, लोक-निर्माण, परोपकार आदि विषय धर्म की रीढ़ हैं। इनकी आवश्यकता अब पहले से भी अधिक है, क्योंकि धार्मिक ह्रास हो चला है। ''धर्मादर्थश्च कामश्च।'', ''परोपकारः पुणय पापाय परपीडनम् '' आदि संदेश अब अधिक प्रासंगिक है। घने अन्धकार में दीपक अधिक उपयोगी होता है। अतः पुराणों की प्रासंगिकता और बढ़ती जा रही है।

––––––

मनुस्मृति की व्यावहारिकता

धर्म की जिज्ञासा रखने वालों के लिये श्रुति ही परम प्रमाण है। वेद में कर्मकाण्ड ओर ज्ञानकाण्ड दो भाग स्पष्ट हैं। श्रुतियों का निगूढ़ार्थ समझना कठिन है। ज्ञानकाण्ड के लिए उपनिशदों के साथ योगवाशिष्ठ आदि ग्रन्थ उपकारक हैं। कर्मकाण्उ में, मीमांसा शास्त्र तथा धर्मशास्त्र, दो भाग हैं। मीमांसा वैदिक कर्मकाण्ड के लिए तथा धर्मशास्त्र लौकिक कर्मकाण्ड के लिए है। लौकिक कर्मकाण्ड स्मृतियों के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। इतिहास और पुराण ज्ञानकाण्ड तथा कर्मकाण्ड दोनों के उपवृंहण में सहायक होते हैं। धर्मशास्त्र व्यवहार का शास्त्र है। स्मृतियाँ वेदाधारित हैं, अतः उनमें शंका करना वेदों पर शंका करने के समान है। वेदों को अप्रामाणिक मानने वालों को नास्तिक कहा जाता है। अतः जो आस्तिक हैं वे स्मृतियों में विश्वास करते हैं, ऐसा सिद्ध होता है। स्मृतियाँ, व्यावहारिक हैं, ऐसी सम्भावना को मानकर विचार करना उचित है। कलियुग और वर्तमान सभ्यता के नाम से विचलित होकर, बिना विचार किये स्मृतियों को अव्यावहारिक मानना ठीक नहीं है।

मनुस्मृति तथा अन्य स्मृतियाँ आज भी व्यावहारिक हैं। इस सम्भावना को स्वीकार करने पर विचारणीय है कि वर्तमान समय में उनकी मान्यताओं की संगति कैसे बैठेगी। वर्तमान सामाजिक परिस्थिति तथा वैधानिक स्थिति एवं स्मृतियों के द्वारा प्रतिपादित आचार-संहिता की संगति बैठाना ही भारतीय संस्कृति के रक्षकों, चिंतकों की सामयिक उपलब्धि होगी। व्यवहार में संगति न बैठने पर शास्त्र तथा धर्मादेश अमान्य है। अतः मनुस्मृति को व्यावहारिक बनाना धर्म की प्रतिष्ठा है। हाँ, लौकिक और पारलौकिक दोनों विषयों पर प्रतिपादन के लिये स्थूल और सूक्ष्म दोनों तरह के प्रमाण, दृष्टि तथा प्रयोगों को अपनाने के लिए भी सक्षम होना आवश्यक है। यह कार्य व्यवहारविद् तत्त्व चिंतकों का है।

व्यवहार शब्द वि + अव् + हृ + धञ् के संयोग से बना है। 'वि' नानार्थक है, सन्देहार्थक, 'हृ' हरण के अर्थ में। परस्पर सम्बन्धों में नाना प्रकार के सन्देह (कलह) का निवारण करना व्यवहार शास्त्र का उद्देश्य है। इस व्यवहार के लिए सक्षम होने के लिए व्यक्तिगत आचरण के नियम भी इसी के अन्तर्गत आते हैं। समाज अभ्युदय पाता है जिसमें व्यक्ति निःश्रेयस सिद्ध करता है। व्यवहार (धर्म) में दोनों की व्यवस्था दी जाती है। मनुस्मृति में यही व्यवस्थायें दी गयी हैं। इनके पालन से लोक-परलोक दोनों सिद्ध होते हैं।

माना जाता है कि कृतयुग में मनुस्मृति के अनुसार, त्रेता में गौतम स्मृति के अनुसार, द्वापर में शंखस्मृति के अनुसार तथा कलि में पराशर स्मृति के अनुसार धर्म का निर्धारण होता है। पाराशर स्मृति और मनुस्मृति में मूलतः भेद नहीं है। मनुष्य की आयु, उसकी शारीरिक क्षमता आदि देखते हुए पाराशर स्मृति में कुछ सरल प्राविधान दिये गये हैं। सभी स्मृतियाँ मनुस्मृति के आधार पर ही हैं। मनुस्मृति में सभी विषयों का पूर्ण विवेचन है। अन्य स्मृतियों में आवश्यकतानुसार संशोधन है। इन स्मृतियों को काम, भय, लोभ तथा जीवन की इच्छा को छोड़कर, धर्म का साक्षात्कार करने वाले मनीषियों ने लिखा है। अतः देश काल के अनुसार जितना सम्भव है, इनका पालन करना ही धर्म है। समाज को निरोग बनाने के लिये यही दवा है। ठीक लिखा है कि–

'यन्मनुरवरदत् तद्भेषजम् भेषजतायाः।'

वेद, स्मृति, सदाचार तथा आत्मार्थ प्रिय यह धर्म के चार लक्षण हैं। वेदः, स्मृतिः, सदाचारः स्वस्थ च प्रियमात्मनः'', 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम् ——-'' आदि उल्लेखों से धर्म का लक्षण स्पष्ट है। मनुस्मृति के आरम्भ में ही है–

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिः नित्यमराग-द्वेषिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातः यो धर्मः तन्निबोधत।।

जो स्मृति सहस्त्रों वर्ष तक एक श्रेष्ठतम संस्कृति के लिए मेरुदण्ड रही है उसे शीघ्रता में, अज्ञानवश, कुतर्क से असिद्ध करना समीचीन नहीं है। यह संस्कृति की अवहेलना है। रहस्यों को समझना तथा अपनाना श्रेयस्कर है। एक दिन इसी प्रभाव से भारत पुनः जगद्गुरु हो सकता है। अन्य कोई उपाय नहीं है जिससे हम विश्व में अद्वितीय रह सकें।

मनुस्मृति में धर्म तथा व्यवहार सम्बन्धी अनेक विषयों का पतिपादन है। देश-काल के अनुसार जो सम्भव है, उसे करना या त्यागना चाहिए। मुख्य रूप से वर्णाश्रम व्यवस्था है जिस पर मनुस्मृति आधारित है। वर्णाश्रम व्यवस्था के साथ स्त्रियों की स्थिति भी आजकल एक महत्वपूर्ण विषय है। मन्दिरों में सभी जातियों का प्रवेश, अन्तर्जातीय विवाह, धार्मिक तथा सामाजिक मान्यताओं (गर्भपात, गोवध, सती प्रथा, कुमारी की शादी आदि) से सम्बन्धित नियम, सहभोज आदि विषयों पर मनुस्मृति के आधार पर निर्णय लिये जायं तो विवाद दूर हो सकता है। मनुस्मृति के आधार का अर्थ यह नहीं है कि यथावत उसे मान ही लिया जाय बल्कि धर्म के मर्मज्ञ लोग जहाँ तक संगति बैठा सकते हैं, वहाँ तक संशोधन कर दिया जाय और शासन उसे ही लागू करे। जहाँ देशकाल के अनुसार संशोधन के अलावा रास्ता नहीं है वहाँ आपद्धर्म में से लेकर वर्तमान के लिए आचरणीय स्वीकार किया जाय। चुनाव, राजनीति, जनसंख्या, औद्योगिक आन्दोलन अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति तथा आतंकवाद आदि सामयिक बातों को ध्यान

में रखते हुए मनुस्मृति का संशोधन वर्तमान देश-काल के अनुरूप हो सकता है। यह कार्य धर्म का साक्षात्कार करने वाले मनीषियों के द्वारा हो तो सर्वमान्य होगा। मनुस्मृति के वैज्ञानिक और प्रयोगात्मक होने के कारण यह सम्भव है। राजा ही काल का कारण है। शासन के न चाहने पर कुछ भी संभव नहीं है। परन्तु सक्षम महापुरुष के नियंत्रण में राजा और शासन सभी रहते हैं। ऐसे महापुरुष के पैदा होने का अवसर देना परमधर्म है। संस्कृति की रक्षा इसी कारण आवश्यक है। आजकल सामाजिक परिवर्तन बड़ी तीव्र गति से हो रहा है। वृत्ति और वर्ण का सांकर्य अत्यधिक हो गया है। वर्ण संकार्य से अस्थिरता की स्थिति पैदा हो गयी है। यह सब सामाजिक और मानवीय मूल्यों के पतन का परिणाम है। मूल्यों की स्थापना करने पर ही सामाजिक स्थिरता सम्भव है। मूल्य स्थिर तभी हो सकते हैं जब उनका पूर्वापर क्रम निर्धारित हो जाय। सभी व्यवसाय सबके लिए नहीं हो सकते हैं। पात्रता (योग्यता) के अनुसार ही कार्य करना चाहिये। गीता की मान्यता ''स्वधर्मे निघनं श्रेयः'' अब भी सही है। स्वधर्म पालन ही सही धर्म पालनहै। यह सामाजिक नियम के दृढ़ होने पर ही सम्भव है। मनुस्मृति एक व्यवहार-शास्त्र है, जो वैज्ञानिक है। इसकी प्रतिष्ठा से कर्म की प्रतिष्ठा, मूल्यों का स्तरीकरण, सामाजिक स्थिरता तथा सुख-शान्ति उपलब्ध हो सकते हैं।

मनुस्मृति में आपद् धर्म के द्वारा ऐसे नियमों के प्राविधान किये गये हैं जिनसे व्यक्ति जीवित रहते हुए अच्छे भविष्य को प्राप्त कर सकता ह। धार्मिक कट्टरता के कारण जीवन समाप्त करना या सामाजिक अव्यवस्था पैदा करना उचित नहीं है। प्रायश्चित्त का विधान भी बड़ा महत्वपूर्ण है। प्रायश्चित के द्वारा व्यक्ति अपने को स्वयं दण्ड देकर शुद्ध हो जाता है। राजकीय दण्ड से बचने के लिये अनेक उपाय किये जाते हैं। राजदण्ड को भोगने पर भी व्यक्ति शुद्ध होता है, किन्तु इसमें सामाजिक अप्रतिष्ठा का भय तथा दण्डाधिकारी पर शंका हो सकती है। प्रायश्चित स्वयं की प्रेरणा से किया जाता है। यह आत्मशुद्धि के लिये सर्वोत्तम उपाय है। बिना शुद्धि के व्यक्ति का जीवन अपने तथा समाज के लिए अहितकर रहता है। यह सब बातें कर्मवाद (जैसी करनी वैसी भरनी) तथा पुनर्जन्म को मानने पर ही प्रमाणित होती है। कर्मवाद और पुनर्जन्म विश्वसनीय है। ऋषियों ने सूक्ष्म दृष्टि से इन्हें सत्यापित कर रखा है। सूक्ष्मदृष्टि प्राप्त अलौकिक वैज्ञानिकों की बातें आधुनिक वैज्ञानिकों की बातों से भी अधिक विश्वसनीय हैं। आधुनिक वैज्ञानिकों के सिद्धान्त कटते और संशोधित होते रहते हैं किन्तु सूक्ष्म विज्ञान में परिवर्तन की संभावना नहीं है। अतः विज्ञान में विश्वास रखने वाले लोगों को भी मनुस्मृति में विश्वास रखना चाहिये। यही उनकी पूर्णता है।

मानव समाज में धर्म के दो रूप देखे जाते हैं–सामान्य और विशेष। सामान्य धर्म सभी सम्प्रदायों में एक ही है। सत्य, अहिंसा, दया, दान आदि सभी को धर्म के रूप में मान्य है। विशेष धर्म देश काल के अनुसार होता है। मनुस्मृति में सामान्य तथा विशेष दोनों धर्मों का प्रतिपादन है। सामान्य धर्मों का पालन करने पर हमारी बुद्धि शुद्ध होती है। उस समय विशेष धर्म का स्वरूप और महत्त्व समझ में आता है। इसीलिये मनुस्मृति में पहले सामान्य धर्मों का वर्णन है। यह निर्विवाद धर्म है। इन्हीं का पालन प्रारम्भ करें तो देश-काल के अनुसार विशेष धर्म को भी हम स्वीकार कर लेंगे। स्वदेश में विशेष धर्म का पालन करते हुए विदेश में सामान्य धर्म का प्रचार करना हमारा कर्त्तव्य है।

मनुस्मृति में ब्राह्मण के शूद्रत्व तथा शूद्र के ब्राह्मणत्व की प्राप्ति स्वीकार की गयी है। यह एक दिन में नहीं कई पीढ़ियों में सम्भव है। जाति के अनुसार गुण होते हैं ऐसा मनुस्मृति में माना गया है। गुण और कर्म के अनुसार वर्ण विभाजन माना गया है। वर्ण विभाजन विश्व की प्रत्येक संस्कृति में है। अन्यत्र केवल कर्म से ही वर्ण व्यवस्था है। गुण और कार्य दोनों पर आधारित होने के कारण मनुस्मृति की व्यवस्था अधिक वैज्ञानिक है। गुण और कर्म दोनों से मुख्य वर्ण होता है, केवल गुण के होने पर गौण वर्ण तथा केवल कर्म से औपाधिक वर्ण होता है। इस तरह मुख्य, गौण तथा औपाधिक तीन तरह के वर्ण बनते हैं। क्षत्रिय जाति में उत्पन्न उसी वर्ण के कार्य को करने वाला मुख्य क्षत्रिय है, क्षत्रिय जाति में उत्पन्न नौकरी करने वाला गौण क्षत्रिय है तथा अन्य जाति में उत्पन्न क्षत्रिय कार्य करने वाला औपाधिक क्षत्रिय है। सात पीढ़ियों में औपाधिक वर्ण मुख्य वर्ण हो सकता है तथा गौड़ वर्ण का भी परिवर्तन हो सकता है। मुख्य वर्ण सर्वोत्तम व विश्वसनीय रहेगा। अतः गुण कर्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था मानने वाला व्यक्ति पदच्युत नहीं होता है। वर्ण व्यवस्था में योग्यता ही प्रधान है। आकस्मिक योग्यता से वर्ण परिवर्तन नहीं होता है। दीर्घकालीन परीक्षण के उपरान्त ही यह स्वीकार किया जा सकता है । यह पूर्ण वैज्ञानिक नियम है।

वर्ण व्यवस्था में छोटे बड़े की मान्यता तो है किन्तु छोटा हेय और निन्दनीय नहीं माना जाता है। छोटा सहयोग और कृपा का पात्र होता है। बड़े के ऊपर अधिक जिम्मेदारी होती है। योग्यता (पात्रता) को क्रमशः बढ़ाने के लिए सभी को अवसर मिलना चाहिये। सभी मिलकर एक समाज बनाते हैं। अपने स्थान पर सबका महत्त्व है। स्थानभ्रष्ट होने पर किसी का महत्त्व नहीं है। स्वधर्म का पालन करते हुए वृद्धावस्था में या अगले जन्म में कर्म के उत्कर्ष को प्राप्त करना सबका लक्ष्य है। समाज में सुख-शान्ति, सहयोग तथा परस्पर सम्मान की भावना रहे यह अभीष्ट है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष–पुरुषार्थों को यथास्थान समझना उद्देश्य है। इसी में समाज और व्यक्ति का अभ्युदय तथा निःश्रेयस है। यही मनुस्मृति की व्यवस्था है। इसे व्यावहारिक बनाना हमारा कर्त्तव्य है।

———————

शिक्षा का उद्देश्य एवं स्वरूप

व्यक्ति क्रे निर्माण से ही समाज-निर्माण सम्भव है, अन्यथा समाज-निर्माण की चर्चा एक प्रवंचनात्मक प्रचार है। व्यक्ति के निर्माण के लिए संस्कार, शिक्षा तथा स्वधर्म तीन प्रमुख अंगों पर ध्यान देना अत्यावश्यक है। व्यक्ति के उत्थान के लिये शिक्षा प्राथमिक एवं अनिवार्य आवश्यकता है। शिक्षा की व्यवस्था ठीक रखना समाज, शासन एवं परिवार का परम कर्तव्य है। समाज के लिये योग तथा क्षेम दोनों की आवश्यकता है। क्षेम के लिए कानून व्यवस्था तथा योग के लिए शिक्षा प्रधान तत्व है। शिक्षा के द्वारा क्षेम का कार्य भी सरल हो जाता है। अतः शिक्षा का सर्वोपरि महत्त्व है। शिक्षा क्या है, इसका उद्देश्य क्या है, उद्देश्य की सिद्धि के लिये इसका क्या स्वरूप होना चाहिए, यह विचारणीय विषय है।

आचार्य गोविन्द पाद शंकर को, सुकरात प्लेटो को, रामकृष्ण परमहंस विवेकानन्द को पाकर कृत-कृत्य हो गये। आदि काल से ऋषियों ने शिक्षा को बहुत महत्त्व दिया, शिष्यों को बनाने में श्रम किया तथा विद्याओं का विकास किया। इसी माध्यम से राजा तथा समाज दोनों को नियंत्रित रखते हुए ऋषियों ने शासन किया। रामायण, महाभारत, बायबिल, कुरान सभी कहते हैं कि वह शासन अच्छा था। यह स्थिति शिक्षक और शिष्य की परम्परा से ही सम्भव है। शिक्षा के द्वारा मानव का बुद्धि वैभव एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक विशुद्ध रूप में पहुँचता है तथा अधिक विकसित होता है।

विद्याओं का फल पाना ही शिक्षा का उद्देश्य है। हमारे चार पुरुषार्थों में ज्ञान (मुक्ति) सर्वश्रेष्ठ है, अतः शिक्षा का भी उद्देश्य यही होना चाहिए। 'सा विद्या या विमुक्तये'–यह हमारी मान्यता है। साधन-साध्य के क्रम में अन्तिम उद्देश्य ज्ञान ही है। ज्ञान व्यक्तिनिष्ठ है। समाज में ज्ञान ही सदाचार के रूप में प्रकट होता है। सदाचार से ज्ञान और ज्ञान से सदाचार यह व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध की तरह अन्योन्याश्रित क्रम है। इस तरह शिक्षा के उद्देश्य के रूप में सदाचार और ज्ञान-प्राप्ति दोनों मान्य है। सदाचार एवं ज्ञान क्रमशः मुख्य रूप से, धर्म एवं मोक्ष पुरुषार्थों से सम्बद्ध है। इनके अलावा काम और अर्थ पुरुषार्थ भी है जिनमें भी शिक्षा की आवश्यकता है। काम-पुरुषार्थ की सिद्धि तभी स्वीकार की जायेगी यदि सुन्दर, स्वस्थ तथा सुशील पुत्र-कलत्र आदि प्राप्त हो। इसी तरह अर्थ की सिद्धि में प्रभूत धन, दान, लोकसंग्रह, यशकीर्ति

आवश्यक है। ऐसा न होने पर शूकर कूकर, मन्दक-मार्जार सभी के बराबर मनुष्य भी काम-अर्थ का सेवन कर ही सकता है। मानवोचित पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए धर्म, अर्थ, काम मोक्ष में से सभी के लिये सदाचार परम आवश्यक लगता है। अतः निश्चित रूप से सदाचार ही शिक्षा का उद्देश्य है। शासन, विज्ञान या अन्य शक्ति के साधन पर मानव का अधिकार हो दानव का नहीं। यह सदाचार से ही सम्भव है। शिक्षा का यही उद्देश्य है।

शिक्षा से गुरु, शिष्य तथा विद्या तीन सम्बद्ध हैं। इन्हें तीनों के स्वरूप से शिक्षा का स्वरूप निर्धारित किया जा सकता है। गुरु को स्वयं विज्ञ, संयमी, सदाचारी, संतोषी तथा निर्भय होना चाहिए। उसे अधिकारी शिष्य को ही विद्या-दान करना चाहिए। कौन किस विद्या का अधिकारी है, यह परखना गुरु का परम कर्तव्य है। सामान्य शिक्षा–अक्षरज्ञान, नैतिक-आचरण, व्यवहार आदि सभी को दी जा सकती है। विशेष शिक्षा के लिये विशेष योग्यता अपेक्षित है। गुरु कृत-कृत्य तभी होता जब अपनी विद्या को सुपात्र शिष्य को देने में सफल हो। सामान्य और विशेष दो भागों में बाँटने पर शिक्षा का स्वरूप अधिक स्पष्ट होता है। इस विभाजन को दृष्टि में रखते हुए अपने शिष्यों को योग्यतानुसार शिक्षा देना गुरु का कर्त्तव्य है। चतुर किसान क्षेत्र के अनुसार समय से बीज डालता है। तथैव कुशल आचार्य देश-काल को देखते हुए शिक्षा देता है। शिक्षा के तीन अंगों में से आचार्य (शिक्षक) सबसे महत्वपूर्ण अंग है। इसका स्वरूप ठीक होने पर अन्य अंगों को ठीक करना सरल है।

शिक्षार्थी को गुरु पर पूर्ण श्रद्धा एवम् विश्वास रखना आवश्यक है। आचार्य की शिक्षा के आधार पर ही वह विद्याओं को ग्रहण कर सकता है। उसके पास विद्या-व्यसन के अलावा अन्य कोई कार्य नहीं होना चाहिये। शिष्य की क्षमता एवं स्वभाव के अनुसार पुरुषार्थ का चयन करके गुरु बताता है। उसी के आदेश के अनुसार विद्या ग्रहण करने में तत्पर शिष्य उन्नति कर सकता है। शिक्षक, प्रशासक, औद्योगिक और साक्षर होने योग्य, चार कोटि के शिष्य होते हैं। पात्रतानुसार शिष्य को अपनी विद्या ग्रहण करना चाहिए।

संसार में अनेक विद्यायें एवं कलायें हैं। समाज को सबकी आवश्यकता है। विद्याओं का स्तरीकरण आवश्यक है। सभी विद्यायें समान महत्व की नहीं हैं। विद्यार्थी भी सभी समान क्षमता व रुचि के नहीं होते हैं। विशिष्ट विद्यार्थी को विशिष्ट विद्या मिलनी चाहिए तथा उसे समाज में विशिष्ट स्थान भी मिलना चहिए। इस विषय में समाजवाद नहीं लागू हो सकता है। विद्या-बल से अपार शक्ति एवं अमरत्व मिल सकता है। ऐसा बल दैवी सम्पदा वाले लोगों को ही मिलना चाहिए अन्यथा दानव ही अजेय हो जायेंगे। विद्या प्राप्त करके भ्रस्मासुर बनने के बजाय विद्या न प्राप्त करना श्रेयस्कर है। देशकाल के लिए उपयोगी

विद्याओं की शिक्षा देना उचित है। अणुशक्ति, आत्मज्ञान जैसी विद्याओं को अब भी गूढ़ रखना उचित है। कुपात्र में दी गयी विद्या का ही फल आजकल समाज में आतंकवाद तथा धर्म में पाखण्ड आदि रूपों में प्रकट हो रहा है। अतः शिक्षा में विद्याओं की गरिमा की ओर ध्यान देना आवश्यक है। इससे समाज में शान्ति एवं व्यवस्था रखना सम्भव होगा। उपर्युक्त सीमा के अंतर्गत विद्या का स्वरूप निर्धारित हो सकता है।

शिक्षा के विषय में विद्योपादान या अनुशासन दोनों अर्थ ग्राह्य हैं। अनुशासन के उपरान्त विद्या प्रदान करना शिक्षा का उद्देश्य है। शब्दानुशासन तथा धर्मानुशासन प्रत्येक विद्यार्थी के लिये आवश्यक होना चाहिये। विज्ञान, गणित, कला, दर्शन आदि कोई विषय पढ़ना हो, अनुशासन मानना आवश्यक है। समाज में विषयों का सामंजस्य अनुशासन के माध्यम से ही होता है। वर्तमान समय की शिक्षा प्रणाली सदोष है। इस तथ्य को सभी स्वीकार कर रहे है।। इसे ठीक करने के वर्तमान उपाय भी सदोष हैं। विद्याओं की महत्ता के लिये व्यावहारिक घटकों का पुनर्मूल्यांकन एवं स्तरीकरण आवश्यक है। मूल्यों की स्थापना के उपरान्त ही शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित हो सकता है। समाज के सामने सबसे बड़ी समस्या मूल्यांकन की ही है। शिक्षा का उद्देश्य निश्चित होने पर स्वरूप निर्धारित हो सकता है। विद्यालयों में गुरुकुल पद्धति अब भी लागू हो सकती है। शिक्षक तथा विद्यार्थी के पास कोई अन्य व्यवसाय या कार्य नहीं होना चाहिए, शिक्षा निःशुल्क हो, शुल्क के स्थान पर अन्य सामाजिक कार्य स्नातक से लिया जा सकता है। पढ़ते समय ही विद्यार्थी को पढ़ाने का भी अनुभव होना चाहिये। उसकी व्यवस्था विद्यालय में आसानी से हो सकती है। सहशिक्षा नहीं होनी चाहिए, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी असहशिक्षा हितकर है। नारी शिक्षा आवश्यक है किन्तु उस शिक्षा के द्वारा उन्हें आदर्श गृहिणी भी बनाया जना चाहिए। विद्यालयों में यूनियन जैसी संस्था हास्यास्पद लगती है। विद्यार्थी और शिक्षक के बीच तनाव का प्रश्न ही नहीं होना चाहिए। यूनियन भी बने तो अभिभावकों का ही, जिससे विद्यालयों में सुधार हो सके। विद्यालयों में भ्रष्टाचार हो नहीं सकता यदि मूलभूत सुधार कर दिये जायँ। राजनैतिक हस्तक्षेप शिक्षा में कम से कम रहना चाहिए। विश्वविद्यालय स्वायत्त हों। विश्वविद्यालय का आकलन वहाँ के विद्यार्थियों के सामाजिक व्यवहार से किया जाय। परीक्षा पद्धति में विशेष सुधार की आवश्यकता है। यह भी सम्भव है कि कोई परीक्षा न ली जाय न तो कोई उपाधि दी जाय। जीवन क्षेत्र में योग्य साबित होने के लिये शिक्षा देकर स्नातक को बाहर भेजा जाय। देश-काल की कसौटी पर समाज ही उपाधि निर्धारित करेगा। पद पर चयन के लिये परीक्षा उसी समय ली जा सकती है।

मनुष्य जीवनभर शिक्षार्थी रहता है। विद्या का चतुर्थांश शिक्षा प्राप्त करने से, चतुर्थांश शिक्षण कार्य करने से, चतुर्थांश आचरण से तथा शेष चतुर्थांश समय से मिलता है। मनुष्य का औपचारिक संस्कार समय-समय से होता है। शिक्षा के द्वारा नित्य संस्कार होता रहता है। मनुष्य एक विशिष्ट प्राणी है। उसकी शिक्षा भी विशिष्ट होती है। स्वभाव को बदलना मनष्य के ही बस का है। यही उत्कृष्ट पुरुषार्थ है। शिक्षा के द्वारा स्वभाव को परमपुरुषार्थ के योग्य बनाना अंतिम उद्देश्य है। अपरा-विद्या की प्राप्ति के अनन्तर भी संतुष्ट न होने पर परा-विद्या की शिक्षा के लिये उत्कंठा होती है। उस समय नये गुरु और नयी शिक्षा अपेक्षित है। इस तरह निरंतर शिक्षा की आवश्यकता होती है। चरित्र-निर्माण, जीविका, लोकसंग्रह तथा परलोक यह चारों शिक्षा से ही प्राप्त होते हैं। शिक्षा प्राप्त करने में कष्ट होता है। यह तपस्या है किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति इस तपस्या को करते ही हैं। इससे अंत में सुख मिलता है।

विदुर नीति कहती है–

दिवसेनैव तत्कुर्यात येन सायं सुखं वतेत् ।
अष्टमासेन तत्कुर्यात् येन वर्षा सुखं वसेत् ।।
पूर्वे वयसि तत्कुर्यात् येन अन्ते सुखं वसेत् ।
इहलोके च तत्कुर्यात् परलोके सुखं वसेत् ।।

शिक्षा का महत्व, उसका उद्देश्य तथा स्वरूप संक्षेप में ऊपर रखा गया है। कार्यान्वित करने के लिए इसका विस्तार इसी आधार पर हो सकता है। आधुनिक शिक्षा-पद्धति में समूल परिवर्तन इसलिए भी आवश्यक है, कि वर्तमान शिक्षा भारतीय स्वभाव व संस्कृति के अनुरूप नहीं है। विदेशों की नकल यहाँ नहीं चल सकती है, क्योंकि यहाँ के स्वभाव में बुद्धि, नैतिकता, त्याग, तपस्या आदि की पराकाष्ठा कहीं-कहीं है तो आलस्य, अनैतिकता और पराश्रयता का बाहुल्य है। पाश्चात्य देशों में स्वभाव से कर्मठ व ईमानदार लोग अधिक मिलते हैं। यहाँ वर्तमान प्रणाली को कायम रखने पर समस्यायें बढ़ेंगी ही और एक दिन लौटकर हमें सुधार करना पड़ेगा। 'शुभस्य शीघ्रम' को स्वीकार करते हुए अपने बच्चों को अनुशासन, मूल्य-बोध नैतिकता तथा स्वधर्म की शिक्षा देना परिवार का कर्तव्य है। आगे की शिक्षा योग्य आचार्य से प्राप्त हो सके इसकी व्यवस्था समाज एवं शासन को करना होगा। केवल विज्ञान तथा सैन्यबल सम्बन्धी शिक्षा विदेशों से ग्राह्य है। अन्य विद्यायें अपने देश में ही अधिक प्रौढ़ हैं। विदेशी विद्या पर स्वदेशी विद्या का नियंत्रण आवश्यक है। शिक्षा से उच्चतर मूल्यों की अवाप्ति हो सके इसके लिए आचार्य, स्नातक तथा विद्या को आदर की दृष्टि से देखना हमारा कर्तव्य है। इस प्रकार से शिक्षा-प्रणाली का पुनर्गठन किया गया, तो यह देश विश्व शक्ति तथा मानव के उच्च मूल्यों के लिए जगदगुरु हो सकता है।

स्वधर्म

प्रत्यक्षेणानुमत्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता।

समस्त धर्मों का मूल वेद है। प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणें से हमें सांसारिक व्यवहारों का ज्ञान होता है। किन्तु बहुत सी गूढ़ बाते तथा अलौकिक ज्ञान इन प्रमाणों से परे हैं। जहाँ कोई उपाय नहीं है, वहाँ ज्ञान का एकमात्र साधन वेद ही होता है। मोक्ष ज्ञान से ही संभव है और यह अलौकिक ज्ञान वेद से मिलता है। अन्य कोई प्रमाण इस ज्ञान को नहीं दे सकता। वेद में कर्म और भक्ति के साधन भी बताये गए हैं। इसे प्रत्यक्ष और अनुमान के आधार पर ऊहन के द्वारा मनुष्य प्राप्त करता है। लक्ष्य निर्धारित होने पर पथभ्रष्ट होने का भय नहीं रहता। प्रत्यक्ष और अनुमान में भ्रम हो सकता है, जिसका निवारण वेद के अलौकिक ज्ञान के साधन से निर्धारित लक्ष्य के द्वारा होता है। इसीलिए कर्म का मूल वेद ही माना जाता है। कर्म का सूक्ष्म फल ही धर्म है। व्यवहार में दोनों समानार्थक हो जाते हैं। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर धर्म का बड़ा ही व्यापक अर्थ है। इसमें कर्म, भक्ति, ज्ञान सभी आ जाते हैं। वेद में धर्मो की राशि निहित है। अभ्युदय तथा निःश्रेयस के लिए अनेक रास्ते हैं। रूचि और क्षमता के अनुसार व्यक्ति अपना पथ निर्धारित करता है। अनेक तरह के धर्मों में से व्यक्ति विशेष के लिए उपयोगी अंश ही उसका धर्म है। इसी को ''स्वधर्म'' कहते हैं। कोई भी व्यक्ति बाजार में अपने लिए उपयोगी सामग्री का ही क्रय करता है। पूरी बाजार कोई नहीं खरीदता है, न किसी की क्ष्ज्ञमता है न ही उपयोगिता। इसी तरह सभी धर्मों का पालन न कोई कर सकता है न ही इसकी उपयोगिता है। धर्म पालन का अर्थ है ''स्वधर्म'' पालन। अतएव स्वधर्म का ज्ञान और उसका पालन व्यक्ति के लिए महत्वपूर्ण है।

आजकल धर्म के नाम पर बहुत से कार्य हो रहे हैं। धर्म-निरपेक्ष राज्य में कुछ भी करने में कोई बाधा नहीं है। जितनी धार्मिक संस्थायें इस समय कार्य कर रही है शायद पहले कभी नहीं थी, किन्तु धर्म का फल नहीं मिल रहा है। स्वतन्त्रता के स्थान पर भय और चिन्ता, संगठन के स्थान पर विघटन आदि फल मिल रहे हैं। इसका कारण स्पष्ट है, स्वधर्म का पालन कोई नहीं कर रहा है। प्रदर्शन, मनोरंजन या अन्य ही उद्देश्यों से धर्म का आचरण होता है। परधर्म को ही लोग धर्म कहते हैं, जबकि परधर्म से बड़ा अधर्म नहीं है।

इस स्थिति से निवृत्ति पाने के लिए स्वधर्म का ज्ञान और आचरण परम श्रेयस्कर है।

गीता में ''स्व'-स्व कर्मण्यभिरतो संसिद्धिम् लभते नरः'' ''स्वधर्मे निघनं श्रेयो परधर्मो भयावहः'' आदि वाक्य स्वधर्म'' की प्रतिष्ठा में बहुत प्रचलित हैं। कृष्ण ने स्वधर्म की प्रतिष्ठा के लिए ही मुख्य उपदेश दिया है। अपने कल्याण के साथ-साथ लोक संग्रह के निमित्त भी स्वधर्म ही श्रेयस्कर है। परधर्म अधर्म ही है, धर्म तो स्वधर्म ही होता है। व्यक्ति की ही तरह संगठन और समाज भी एक इकाई के रूप में होता हैं। ऐसी इकाई का भी देशकाल के अनुसार स्वधर्म होता है। ''स्वधर्म'' को छोड़कर परधर्म का आचरण करने वाला संगठन या समाज विलीन हो जाता है।

उपर्युक्त विवरण से स्वधर्म का महत्व समझ में आता है। इसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होने पर जिज्ञासु व्यक्ति ''स्वधर्म'' का अर्थ, उसके निर्धारण की विधि तथा मापदण्ड को जानना चाहेगा।

धर्म की परिभाषा और व्याख्या अनेकधा हो चुकी है। ''स्वधर्म'' को जानने के लिए धर्म के साथ स्व का अर्थ समझना आवश्यक है। स्व शब्द के चार अर्थ बताए गए हैं- आत्मा, आत्मीय, जाति और घन। इन चारों अर्थो में स्व का प्रयोग होता है। किन्तु यहाँ पर हम मुख्य रूप से स्व को आत्मीय के अर्थ में लेते हैं। आत्मीय का अर्थ है जिस पर अपना स्वत्व या अधिकार हो, जो अपने से सन्निकट हो, जो अपने स्वभाव के अनुकूल हो। यह आत्मीयता देश-कालजाति-कुल, वर्णाश्रम, स्वभाव, अधिकार तथा पद से प्राप्त होती है। इस आत्मीयता की आशा परम्परागत एवं योग्यता द्वारा अर्जित स्थिति के कारण व्यक्ति और समाज से की जाती है। दूसरो की आशा व अपनी योग्यता के अनुरूप आचरण करना स्वधर्म'' पालन है। उसी कार्य में कुशलता को योग कहा गया है- ''योगः कर्मसु कौशलर्म्''। दूसरे हमसे क्या आश करते हैं, यह परम्परा से स्थापित है। हमारी क्या योग्यता है, इसका आकलन बुद्धि तथा गुरूजनों की सहायता से करना पड़ता है। कार्यक्षेत्र में हमारी कहाँ स्थिति है, किस उद्देश्य से नियोजित है, क्या क्षमता है, यह सब निश्चित होने पर उन्ही उद्देश्यों की पूर्ति करना तथा उन्हीं में आत्म-तुष्टि पाना ''स्वधर्म'' और उसका फल है। ''स्वधर्म'' की व्यवस्था में शास्त्रों को ही प्रमाण माना गया है।। ''स्वधर्म'' में सुनिश्चित थोड़े से कर्म होते है। परधर्म की संख्या बहुत अधिक है। व्यवसायात्मिका बुद्धि धर्म का निश्चय करती है। अव्यवस्थित बुद्धि अनेक परधर्मो में भटकती रहती है। जीवन एक मूल्य है। दूसरों की सहायता से अन्य अनेक मूल्य प्राप्त होते हैं। जीवन के मूल्यों को निर्धारित करना प्राथमिक आवश्यकता है। ''स्वधर्म'' के द्वारा मूल्य निर्धारण भी होता है और तदनुसार

आचरण भी होता है। इसके आश्रय में रहने पर भय, मोह, शोक आदि के लिए कोई स्थान ही नही रहता है। ''स्वधर्मरत'' व्यक्ति स्वभाव से विनम्र, शीलवान तथा एकाग्रचित होता है। स्वधर्म वह है जिससे सुखी एवं उन्नति शील जीवन सम्भव होता है। उपर्युक्त लक्षणों से ''स्वधर्म'' का ज्ञान किया जा सकता है।

धर्मों की राशि में ''स्वधर्म'' की पहचान और उसका वरण करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य आवश्यकता है। इस ज्ञान के लिए परम्परा एवं योग्यता को आधार बताया जा चुका है। अधर्म का ज्ञान होने पर धर्म से विचलन होने की सम्भावना कम हो जाती है। अधर्म पाँच प्रकार के हैं-विधर्म, आभास, उपमा, छल, परधर्म अधर्म है। ''स्वधर्म'' में विधर्म, आभास, उपमा तथा छल के रूप में अधर्म का प्रवेश सम्भव है। : मनसा, वाचा, कर्मणा साधु पुरूष एवं शास्त्रों के द्वारा अनुमोदित ''स्वधर्म'' का पालन ही धर्म (हितकर) है। आभास, उपमा या छल आत्म प्रवंचना है।

व्यक्ति की जहाँ तक सत्ता है उसका स्वतत्व वहाँ तक है। पूरे प्रजा में सत्ता होने से राजधर्म प्रजा में व्याप्त रहता है। पूरे विश्व में सत्ता होने से मोक्षधर्म विश्व में व्याप्त होता है। यह सत्ता अधिकारी के अनुसार वृहत्तर होती जाती है। 'स्वधर्म' पालन में पालक ही अधिकारी है और 'स्वधर्म' ही कर्तव्य है। इसकी विभिन्न दृष्टियों से विवेचना वांछित है-

अधिकारी में तीन गुण आवश्यक हैं-अर्थित्व, सामर्थ्य, विद्वत्ता। कार्य करने की इच्छा हो, उसकी सामर्थ्य हो और उसका ज्ञान हो। ऐसा व्यक्ति ही कर्तव्य पालन कर सकता है। अर्थी, समर्थ और विद्वान् अधिकारी 'स्वधर्म' में नैपुण्य (योग) को प्राप्त करता है। अधिकार शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है-स्वत्व और योग्यता। स्वत्व और योग्यता तीन प्रकार के होते हैं- स्वाभाविक, अधिगृहीत और प्रदत्त। प्रदत्त और अधिगृहीत अधिकारों में कर्तव्य और अधिकार के सन्तुलन के बिगड़ने का भय होता है। पात्रता (स्वाभाविक योग्यता) के होने पर ही अधिग्रहण एवं प्रदान का फल मिलता है। पात्रता होने पर अधीकार की परिणति (स्वधर्म) कर्तव्य रूप में होती है। यह अधिकार दैवी सम्पत्ति है। पात्रता न होने पर अधिकार आसुरी सम्पत्ति है, जिससे विधर्म और परधर्म आदि का सम्पादन होता है। अधिकार स्वत्व पर आधारित होता है। स्वत्व से शक्ति मिलती है।

शक्ति का प्रयोग निग्रह तथा अनुग्रह दोनों के लिए होता है। सुपात्र अधिकारी अपनी शक्ति का प्रयोग दुष्टों के निग्रह तथा सज्जनों के अनुग्रह के लिए करता है। कुपात्र अधिकारी विपरींत ढङ्ग से प्रयोग करता है। इसलिए

अधिकार में सत्व और योग्यता (पात्रता) का साथ-साथ होना हितकर है। बिना शक्ति पात्रता निष्प्राण है, बिना पात्रता के शक्ति आसुरी (अनर्थकारी) है।

''कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्'' कहते हुये गीता में अधिकार और कर्त्तव्य का ठीक स्थान निर्धारित किया गया है। अधिकार की गति कर्तव्य पालन पर्यन्त है। कर्तव्य वही है जिसे करने का अधिकार है। कर्तव्य पालन के अलावा अधिकार का अन्य उपयोग नहीं है। कर्म-फल में अधिकार न होने के कारण उसके लिए व्यग्रता पाने वाले व्यक्ति को अयुक्त, अज्ञानी या मूर्ख कहा जाता है। कर्म-फल में केवल ईश्वर का अधिकार है। अनधिकृत ईश्वरत्व का आरोप अपने ऊपर करना मूर्खता है। फल में अधिकार न होने के कारण यदि कर्म ही छोड़ दिया जाय तो भी मूर्खता ही है। कर्तव्य छोड़ने से अधिकार अपने आप छूट जाता है। अधिकाररहित व्यक्ति का कोई स्वत्व नहीं होता, उसका पतन हो जाता है। अतः अधिकार की रक्षा के लिए कर्तव्य और कर्तव्य पालन के लिए अधिकार की आवश्यकता है, यही समझना चाहिए। कर्त्तव्य के अलावा अन्यत्र प्रयोग करने पर अधिकार का दुरूपयोग होता है और पतन होता है। यही 'स्वधर्म का सिद्धान्त है।

अधिकार की रक्षा करना मनुष्य का कर्त्तव्य है। साध्य तत्व कर्त्तव्य (स्वधर्म) है, और अधिकार उसका निर्धारक और सहायक है। अधिकार की रक्षा स्वयं या शासन या समाज के द्वारा होती है। अपनी शक्ति (स्ववीर्य) को श्रेष्ठ माना गया है। भगवान् मनु ने कहा है, ''स्व वीर्याद्राजवीर्याच्च, स्ववीर्य बलवत्तरम् '' अतः स्व वीर्य (स्वधर्म से प्राप्त शक्ति) के द्वारा अधिकारों की रक्षा करनी चाहिये। स्वधर्म की गंगा के दो किनारे हैं- अधिकार एवं कर्त्तव्य। दोनों किनारे पवित्र एवं अनविार्य है। दोनों के माध्यम से स्वधर्म की मन्दाकिनी प्रवाहित होती है, जो भुक्ति मुक्ति प्रदायिनी होती है। सुलभ सुरसरि को छोड़कर कर्मनासा में कौन स्नान करेगा? लेकिन बालिश कर ही रहे हैं। परधर्म को त्याग कर, स्वधर्म में अनुरक्त होने पर व्यक्ति और समाज की समस्याएँ समाप्त हो जायेगी। 'निज-निज धर्म निरत श्रुति रीती' वाला रामराज्य स्वधर्म पालन ही है। इसी में अभ्युदय और निःश्रेयस है।

आध्यात्मिक शक्ति

किसी भी क्रिया के करने की सामर्थ्य को शक्ति कहते है। यह प्रत्यक्ष तथा प्रछन्न दो अवस्थाओं में होती है। निगुर्ण-निराकार, नित्य, शुद्धबुद्ध मुक्त, समरस, व्यापक, सच्चिदानन्द, कारण ब्रह्म में कोई क्रिया नहीं है अतः वहाँ शक्ति तथा शत्तिमान में अभेद है। कार्य जगत में शक्ति तथा शक्तिमान का द्वैत दिखाई पड़ता है। यहाँ कार्य जगत के परिप्रक्ष्य में ही शक्ति की चर्चा है।

पदार्थ की सार्थकता उसकी शक्ति से ही होती है। बिना जल के समुद्र नहीं हो सकता हे। गुणों के आश्रय से क्रिया-शक्ति प्रत्यक्ष होती है, अन्यथा प्रच्छन्न रहती है। गुण ही शक्ति के आधार है। बिना शक्ति के गुणों की भी पहचान नही होती। इस तरह अन्योन्यश्रय है। प्रकृति के तीन गुण-सत,रज,तम सुविदित है। इन्ही तीनों के आलोक में शक्ति भी तीन तरह की दिखाई पड़ती है। शक्ति को उसके स्रोत तथा उपयोग की दृष्टि से आधिभौतिक, अधिदैविक तथा आध्यात्मिक -तीन भागों में बाटना अधिक वैज्ञानिक है। त्रिवृत्करण का सिद्धान्त यहा भी लागू होता है। अतः शुद्ध रूप मेंएक कोटि की शक्ति न होने पर भी अधिकांश के आधार पर उसकी कोटि निर्धारित की जाती है। अधिभौतिक शक्ति तामसी, आधिदैविक शक्ति राजसी तथा आध्यात्मिक शक्ति सात्विक होती है। साधना की दृष्टि से सत, रज, तम में श्रेष्ठाता का क्रम माना जाता हैं, किन्तु जगत्प्रपच के लिए सभी गुणों का समान महत्व है। इसी तरह प्रत्येक तरह की शक्ति का महत्व है, अन्योन्याश्रय तथा अनिवार्यता है। विशिष्ट उद्देश्य के लिये विशिष्ट शक्ति की आवश्यकता होती है। उसके अवाप्ति के विशिष्ट साधन होते है। हमें समझना है कि आध्यात्मिक शक्ति क्या है ? किस प्रयोजन के लिए है उसे कौन कैसे प्राप्त कर सकता है?

आध्यात्मिक शक्ति की परिभाषा निषेध के द्वारा देना सरल हैं। जो आधिभौतिक था आधिदैविक नहीं है, वह शक्ति आध्यात्मिक है। इन दोनों को समझना आसान हे। पंचभौतिक पदार्थो के माध्यम से उत्पन्न शक्ति आधिभौमिक है। अन्न-जन अग्नि,वायु, खनिज, विद्युत, अणु आदि की शक्तियां भौतिक है। लौकिक साधनों में विवधि देवता (ईश्वर) की उपसना से प्राप्त शक्ति आधिदैविक हैं। आसुरी शक्ति भी इसी कोटि में है। शक्ति की प्राप्ति तथा उपयोग के आधार पर दैवी या आसुरी शब्द हे। दोनों आधिदैविक शक्ति के अन्तर्गत है। इन दोनो कोटियों से सूक्ष्म, आत्मनिष्ठ, स्वभाव-जन्य,आध्यत्मिक शक्ति होती है। आत्मा के पंचकोश बताए गये है-अन्नयमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय।

इन पांचों कोशों में आत्म-तत्व का अनुभव होता है। इन्ही की उपासना से प्राप्त शक्ति आध्यात्मिक कोटि की होती है। आध्यात्मिक शक्ति की प्राप्ति के लिए शरीर, प्राण तथा अन्तः करण (मन,बुद्धि, चित्त अहंकार) यही साधन हैं तथा यही शक्ति के अधिष्ठान भी है। प्राण की शक्ति ही वाणी के रूप में जानी जाती है। इस तरह शारीरिक, मानसिक और वाचिक तीन विधा से आध्यात्मिक शक्ति का प्राकट्य होता है। इस विषय में शंका का स्थान है- अधिभौतिक तथा आविदैविक शक्तियां भी शरीर,वाणी तथा मन के द्वारा प्रकट होती हे जैसे औषधि तथा देवोपासनासे प्राप्त शक्तियां। अतः सन्देहापनोदन हेतु शक्तियों का वर्गीकरण उनकी प्राप्ति के साधन के आधार पर किया गया है। आध्यात्मिक शक्ति की प्राप्ति के लिए पंचकोशों के अतिरिक्त किसी वाह्य पदार्थ की अपेक्षा नहीं है। यह साधन व्यक्ति के अत्यन्त सन्निकट, सूक्ष्म तथा स्वाभाविक है। यह प्रत्येक अवस्था में सुलभ है। इससे प्राप्त शक्ति सूक्ष्म होती है तथा स्वाभाविक रूप से कार्यविधायिका होती है। आधिभौतिक शक्ति स्थूल है। इससे दैविक या आत्मिक शक्ति के स्थान पर कार्य नही लिया जा सकता। दैविक शक्ति अलौकिक अवश्य है किन्त सहज, आत्मनिष्ठ नहीं है। अतः प्रत्येक अवस्था में प्राप्त नहीं रहती है। आध्यत्मिक शक्ति पिछले दोनों के स्थान पर भी तथा उनसे अधिक कार्यो के लिए सक्षम है। यह शक्ति अपरिमित है। इसके द्वारा पिण्ड में ब्रह्माण्ड की शक्ति आ जाती है। इसकी सम्भावना अनन्त हे जबकि अन्य शक्तियां परिमित मात्रा में ही सम्भव है। भूमा सुख के लिए, अभयपद के लिए, सर्वदा अजेय होने के लिये, त्रिविघ शान्ति आदि की प्राप्ति के लिये आध्यात्मिक शक्ति ही अभीष्ठ है।

जो व्यक्ति परलोक तथा मुक्ति में विश्वास करता है, आप्तवाक्यों में आस्था रखता है, निर्भय तथा अपराजेय होना चाहता, है स्वाभिमान की पराकाष्ठा तक पहुँचाना चाहता है, उसे आध्यात्मिक शक्ति की आवश्यकता है। अधम कोटि से जीवन-यापन आधिभौतिक शक्ति से भी हो सकता है। सामान्य जीवन अधिदैविक शक्ति से सम्भव है। उत्तम जीवन तथा मरणोत्तर सुगति की ध्रुव प्राप्ति के लिये आध्यात्मिक शक्ति अपेक्षित है। वर्तमान समय में मान्यता की विडम्बना है। ठीक उलटा दिखाई पड़ता है। समाज में सुख,शान्ति एवं व्यवस्था की स्थिति को देखते हुए मानना पड़ेगा कि पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता है। जीवन का मूल्य बदलजाने के कारण जगत के प्रति टृष्टि बदल गई है। राग-द्वेष से आविष्ट बुद्धि के कारण ऐसा होता है। तत्व ज्ञान होने पर परलोक और मोक्ष जैसे विषयों की ओर आकर्षण होता है। उस समय आध्यात्मिक शक्ति की अनिवार्यता का अनुभव होता है। सात्विक प्रकृति का मनुष्य आध्यात्मिक़ शक्ति के लिये प्रयास करता है।

अब आध्यात्मिक शक्ति की प्राप्ति के साधन पर विचार करना है। ''शरीर-माद्यं खलु धर्म साधनम्'' यह उक्ति आध्यात्मिक शक्ति की प्राप्ति के विषय में भी सत्य है। साधना की प्रारम्भिक अवस्था में स्वस्थ्य शरीर की आवश्यकता सभी को होती है। भौतिक और देविक शक्ति की साधना में शरीर की आवश्यकता कभी समाप्त नही होती है। किन्तु आध्यात्मि साधना में शरीर की उपयोगिता अन्त में सामाप्त हो जाती है। प्रारम्भिक साधक को, अन्नमय कोश को ब्रम्ह (आत्मा) समझना चाहिये।शरीर पुष्ट और स्वच्छ रखने के लिये आहार-विहार के नियमों का पालन करना चाहिये। ब्रह्मचर्य ब्रत तथा सत्संग का सेवन करना चाहिये, जिससे शरीर में विकार न आने पाये। अन्न से आत्मभाव होने पर अन्न का अभाव नहीं होता, अर्थात शरीर पूर्ण स्वस्थ रहता है। शरीर में तामस और राजस गुणों का प्रकोप नहीं होता है। सात्विक गुणों के भाव से निद्रा, जागरण, मलत्याग, रस-परिपाक आदि क्रियाये सम्यक् होती है। इस कोश की सिद्धि के उपरान्त आगे-सूक्ष्मतर कोश टृष्टिगत होता है जो अन्नमय कोश की आत्मा है। इसे प्राणमय कोश कहते हैं प्राणमय कोश पुरूषाकार ही शरीर में अविस्थित होता है। यह सूक्ष्मतर है। प्राण की ब्रह्म (आत्मा) भाव से उपसमना करने पर पूर्णायु प्राप्त होती है। समय ही तो साधना का मुख्य साधन है। अतः आध्यात्मिक शक्ति की प्राप्ति के लिए शतायु होने की कामना करनी चाहिए। प्राणों की ब्रह्म भाव से उपासना करने पर जीवन-शक्ति मिलती है। इस प्राणमय कोश से सूक्ष्मतर, उसकी आत्मा मनोमय कोश है। मन को ब्रह्म रूप से उपासना करने पर पुरुष निर्भय हो जाता है। मन की जहां तक गति है वहां तक भय नहीं रह जाता है। इस मनोमय कोश से सूक्ष्मतर, उसकी आत्मा विज्ञानमय कोश है। विज्ञाानयम कोश की ब्रह्म रूप से उपासना करने पर समस्त कामताओं की पूतिं हो जाती है, एक साथ सभी भोगों की अनुभूति हो जाती है, तृप्ति हो जाती है। फिर कर्तव्य अवशिष्ट नही रहता है। इस विज्ञानयम कोश से सूक्ष्मतर, उसकी आत्मा आनान्दमय कोष है। इसकी ब्रह्म रूप से उपासनासे पुरुष की सत्य मे प्रतिष्ठा हो जाता है। अमरत्व मिल जाता है। इन पाँचों उपासनाओं की सिद्धि होने पर पुरूष में अपार शक्ति आ जाती है। जीवन धारण करना आवश्यक नही रह जाता है। पुरूष जीवन मुक्त की तरह रह सकता है या शुद्ध आत्म तत्व (ब्रह्मभाव) को प्राप्त कर सकता है। यह विवरण तैत्तिरीयोनिषद् के आधार पर किया गया है। अपने में यह पूर्ण है किन्तु गूढ़ होने के कारण दूसरी भाषा में स्पष्टीकरण वांछित है।

स्वस्थ शरीर, सबल प्राण तथा शतायु आधिभौतिक एवं आधिदैविक शक्तियों से भी मिल सकती है। आचरण की शुद्धता होने पर, यम-नियम का पालन करने पर भौतिक और दैविक शक्तियाँ फलवती होती है। ''अक्केचेन्मधु

विन्देत् किमर्थ काननं ब्रजेत्-को याद करना चाहिये, तो आध्यात्मिक शक्ति की क्या आवश्यकता है? किन्तु आवश्कता है क्योंकि शरीर और आयु ही सब कुछ नहीं है। अपने अधिकार क्षेत्र का अतिकमण करके कोई उदार (दानी) नही बन सकता। भौतिक और दैविक शक्तियों की सीमा है, वे देश-काल वस्तु से बाधित है। अभय पद, आप्तकात्व और सच्चिदानन्द स्वरूप की प्राप्ति के लिये बलहीन नहीं समर्थ है। उसके लिये निरपेक्ष्य आध्यात्मिक बल ही अभीष्ट है। दश इन्द्रियों तथा उभयात्मक मन की सहायतासे जो वस्तुनिष्ठ शक्ति अर्जित की जाती है वह स्थूल, लौकिक, भौतिक है। दैवी शक्ति की प्राप्ति में इनके अलावा अन्तःकरण भी साधक हे। किन्तु बाह्म पदार्थ की साधना होने के कारण वह भी देशकाल, वस्तुसे वाधित है। वह अलौकिक है किन्तु अबाध नही है। आध्यात्मिक शक्ति आन्तरिक हे अतः अबाध एवं धनीभूत ब्रह्माण्ड की शक्ति है। इस शक्ति के द्वारा अन्य शक्तियों का भी कोई कार्य लिया जा सकता है जैसे वशिष्ठ आदि ऋषियों ने करके दिखाया था। किन्तु सामान्यतया इसका सदुपयोग आध्यात्मिक उत्कर्ष में है।

रथ के रूपक से साधना को समझने में सुविधा है। आत्मा (अहं) रथी है बुद्धि सारथी है, मन निग्रह रश्मि है, इन्द्रियाँ घोड़े है तथा शरीर रथ हे। मुख्य प्रयोजन रथी का है। उसी के लिये सब कुछ है। गतिमान होने के लिये रथ की आवश्यकता है।स्थित होने के लिए रथ तथा अन्य सभी अवश्य अनुपयोगी है। गति और स्थिति दो दशाएँ है। स्थिति की दशा व्यापक तथा अवर्णनीय है। गति में बुद्धि, मन,इन्द्रियां और शरीर महत्वपूर्ण है। रथी की शक्ति उपकरणों से होती है, अतः आत्म-शक्ति के लिए शरीर, इन्द्रियां मन तथा बुद्धि का सशक्त होना आवश्यक है। इन्ही की साधना से आत्म-शक्ति मिलती है। इनकी शक्ति के द्वारा कृतकायं होने पर अहं सबको छोड़ देता है। ''येन व्यजसि तंत्यज'' के आदर्श के अनुसार सब त्याग कर अहं ही ब्रह्म भाव को प्राप्त करके सर्वविध अनन्त हो जाता है। यही स्थिति की दशा है।

योगशास्त्र में अष्टांग मार्ग से आध्यात्मिक शक्ति के लिए वैज्ञानिक विधि बताई गयी है। आचरण, शरीर तथा प्रण की साधना इसका बहिरग है । अन्तरंग में अन्तःकरण की साधना है। बहिरंग अन्य तरह की शक्तियों की प्राप्ति में भी उपयोगी है किन्तु अन्तरंग साधना (धारणा, ध्यान समाधि) योग शास्त्र की विशेष शिक्षा है। यह साधना आध्यात्मिक शक्ति-ऋद्धि-सिद्धि तथा उसके आगे निर्विकल्प समाधि तक पहुॅचाती है। नाथ पंथ में इसी के सदृश षडंग योग की शिक्षा है। इस मार्ग से सिद्धियों की प्राप्ति पर विचलित न होने पर समाधना से अनन्त शक्ति मिलती है।

भक्ति के द्वारा भी आप्तकाम होते हुए पुरूषों को देखा गया है। यह सधाना मन के द्वारा होती है। अजय संसार-रिपु को जीतने की शक्ति भक्ति से प्राप्त होती है। 'भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते''- भक्ति को सही-सही अर्थ में समझना आवश्यक है। इसके स्थान पर अंधभक्ति से कोई फल नहीं है। भक्ति से मन की एकग्रता और शक्तिस्रोत का सान्निध्य दोनों मिलता है। जिससे साधक सशक्त हो जाता है।

कर्म-मार्ग भी आध्यात्मिक शक्ति का साधन है। कर्म से भौतिक व दैविक शक्ति तो मिलती ही है उसी से वैराग्य की प्राप्ति भी होती है। आध्यात्मिक शक्ति के लिये भौतिकता से वैराग्य अपेक्षित हे। यह वेराग्य सम्यक् सम्पादित कर्मो से मिलता है। अभ्यास और वैराग्य को मनोनिग्रह का उपाय बताया गया है। अतः स्वधर्म पालन का महत्व लोक तथा परलोक दोनो के लिए है। इससे अधिदैविक, आधिभौतिक शक्तियाँ मिलती है तथा मन को वश में करने का मार्ग प्रशस्त होता है।

ज्ञान मार्ग के द्वारा आध्यात्मिक शक्ति के प्राप्ति की सर्वाधिक चर्चा है। यह साधना बुद्धि के द्वारा होती है। इसे विचार-मार्ग भी कहते है। श्रवण-मनन निदिध्यासन इसके अंग है। सात्विक बुद्धि से विवेक मिलता है। सदसद का ज्ञान होने पर सत्य की अनुभूति के लिए अभ्यास करना पड़ता है। साधन-चतुष्टय तथा षट्-सम्पत्ति का वरण करना पड़ता है।शास्त्रोंक्त विधि से अभ्यास करने पर बुद्धिगुहा में शक्ति के परस्रोत आत्मतत्व का सक्षात्कार होता है। इससे बड़ी कोई शक्ति नहीं है। यह परम उपलब्धि है। अद्वैत की सिद्धि होने पर ईश्वरत्व और ब्रह्म भाव तक की प्राप्ति सम्भव है।

आध्यात्मिक शक्ति के यावत् मार्ग बताये गये है, सब में मन को एकग्र करने पर बल दिया गया है। यह अनिवार्य साधना है। मन का बड़ा महत्व है। ''मन एव हि लोकानां कारणं बन्ध मोक्षयों.'' जितंजगत्केन- मनों कि येन'' ''यस्मान्न ऋृते किंचन कर्मक्रियते'' आदि वाक्यों से मन का महत्व प्रमाणित है। अतः बहुत लोग मन को एकाग्र करने को ही परम सिद्धि मानते है। व्रतोपवास, प्राणायाम, रूप और नाम (शब्द) के द्वारा मन एकाग्र होता है। प्राण और मन का सीधा सम्बन्ध है। एक के रूकने पर दूसरा भी रुक जाता है। सात्विकता की सहायता से मन सन्मार्ग पर एकाग्र होता है। मनन से मन की एकाग्रता होती है। इसी को भक्ति भी कहते है। अभ्यास ओर वैराग्य इसमें सहायक है। अब यह निर्णय करना है कि साधकतम किस तहर की साधना है।

''आत्माग्नेः इन्धना बुद्धि.''-ऐसा माना गया है। ईधन से शक्ति मिलती है। आत्मा की अग्नि को प्रज्वलित करने के लिये बुद्धि ही ईधन है। अतः आध्यात्मिक शक्ति के लिए प्रमुख साधन बुद्धि को स्वीकार किया जाना उचित

है। मन को एकाग्र करने के कई साधन है। किन्तु उसे एकाग्र एवं वश में करने का साधन बुद्धि ही है। तामस विषय पर एकाग्रता का परिणाम तामसी शक्ति है। ऐसी शक्ति संचित नहीं रह सकती है तथा पतन का कारण उपस्थित होता है। बुद्धि के माध्यम से सात्विक विषय पर एकाग्र मन से सात्विक शक्ति उत्पन्न होती है। यह शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ सकती है, क्योकि साधाना, में पतन का भय नहीं होता है। शम-दम की सिद्धि बुद्धि द्वारा एकग्र किये गये मन से ही होती है। मन केवल बुद्धि के वश में रह सकता है। अन्य कोई इसका नियन्ता नही है। अभ्यास ओर वैराग्य का साधन बुद्धि ही मन को देती है। अतः मूल उपकारक बुद्धि है।मन की शक्ति बुद्धि से है अतः बुद्धि की शक्ति को शक्ति कहते है। गायत्री मन्त्रका महत्व सर्वोपरि है, क्योंकि इससे बुद्धि मिलती है। इसके जप में सभी साधनों का एक साथ उपयोग होता है। इसीलिये ''याज्ञानां जपयस्मि '' कहा गाया है। इसमें शरीर, वाणी, मन तथा बुद्धि सभी के द्वारा एक साथ साधना होती है। आध्यात्मिक शक्ति का साधन इससे अच्छा कोई नही है। जप का मन्त्र, देवता, छंद जानना चाहियें। शास्त्र एवं गुरू के आदेश के अनुसार किया गया जप ही उत्तम फल देता हे। ब्रह्म वर्चस्व की कामना होने पर गायत्री मन्त्र का जप अमोघ है। मन्त्रों से उनके देवता के अनुसार शक्ति प्राप्त होती है।

आध्यात्मिक शक्ति के लिये अंगोपांग के साथ सहस्त्रों उपाय है। स्वभाव के आनुसार मनुष्य अपने लिये चुनता है। चित्त की प्रसन्नता से यह लोक बनता है तथा आध्यात्मिक शक्ति के लिए पात्रता आती है। इसके लिये उपाय है-

एकान्तवासो लघु भोजनानि।
मौनं निरीहा करणावरोधः॥
मुनेरसोः संयमनं षडेते।
चितं प्रसादं जनयन्ति सद्यः॥

योग वाशिष्ट में संतोष, सत्संग, विचार और शम चार का महत्व बताया गया है।

संतोषः परमों लाभः।
सत्संगः परमा गतिः ॥
विचारः परमं ज्ञानं।
शमः परमं सुखम्॥

महाभारत में प्रज्ञा (बुद्धि) ही सब कुछ है-

प्रज्ञा प्रतिष्ठ भूतानां प्रज्ञा लाभः परोमतः।
प्रज्ञा निःश्रेयसी लोके प्रज्ञा स्वर्गो मतः सताम्।।

इसी तरह जितने शास्त्र है सब मुें कुछ न कुछ नई बात मिलती है। समन्वय करने पर सबका तात्पर्य एक है। आध्यात्मिक शक्ति की साधना बुद्धि, त्याग व तपस्या पर आधारित है। संग्रह व भोग इसके विपरीत है। अतः इस मार्ग में प्रतियोगिता द्वेष-कलह नहीं है। सभी लोग इसके लिए एक साथ प्रयास कर सकते है। गाँधी जी ने थोड़ी सी आध्यात्मिक शक्ति अर्जित किया और एक महान पुरूष हो गये। वर्तमान समय में भी इस शक्ति की सम्भवाना और उसके महत्व में श्रद्धा रखना सर्वथा उचित है।

उपसंहार करते हुए निष्कर्ष यह पाते है कि मनुष्य जीवन की सार्थकता के लिए श्रेष्ठ पुरूषार्थ को लक्ष्य बनाना पड़ता है। लक्ष्य की सिद्धि क़े लिये आध्यात्मिक शक्ति से सम्पन्न होना आवश्यक है। आध्यात्मिक शक्ति के लिये स्वास्थ्य एवं दीर्घायु होने की कामना करते हुए अन्तःकरण की साधना करनी चाहिये। मन की एकाग्रता परमावश्यक है। इससे चित को प्रसन्नता मिल जाती है। उत्पन्न शक्ति को पुनः शक्ति संचय में लगाना बुद्धि से ही सम्भव है। लक्ष्य भेद करने की शक्ति हो जाने पर पुरूष कृतकार्य हो जाता है। यही परम पुरूषार्थ है। साध्यरूपा आध्यात्मिक शक्ति इसी परम पुरूषार्थ के लिए साधन है।

श्रद्धा और शक्ति

श्रद्धा और शक्ति का विवेचन सामाजिक, धार्मिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। किसी वस्तु का संग्रह या त्याग उसे भली-भाँति जानने के उपरान्त ही करना बुद्धिमानी है। बिना श्रद्धा के कोई पुरूष नहीं है। शक्ति, अधिक या कम, सब में होती है। अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि को ध्यान में रखते हुए श्रद्धा और शक्ति में सन्तुलन कैसे बने, यह विचारणीय है। लाभ-हानि, गुण-दोष आदि द्वन्द्व श्रद्धा और शक्ति में भी अन्तर्निहित है। इनसे शिवत्व की प्राप्ति की विधि ढूढ़ना अभीष्ट है।

सत् यानी सत्ता (स्वरूप की स्थिति) को धारण करने के भाव को वहन करने वाला शब्द है-श्रद्धा। श्रद्धा एक मनोभाव है, जिससे पुरूष के स्वरूप का आकलन होता है। श्रद्धा के अनुसार कर्म होता है, अतः कर्मेच्छा को श्रद्धा कहते है। जन्म-जन्मान्तर की वासनाएँ प्रेरक तत्व है। वासनाजन्य रूचि को श्रद्धा कहते हैं। यह सात्विक, राजस या तामस हो सकती है। उपकार की दृष्टि से सात्विक श्रद्धा वरणीय है। इसी अर्थ में आचार्य भगवान् शंङ्कर ने कहा- '' श्रद्धा नाम आस्तिक्यबुद्धिः'' गुरूजन तथा शास्त्रों में आदर-भाव भी इसी अर्थ में श्रद्धा है।

शक्ति (शक् + क्तिन्) कार्य के सम्पादन की सामर्थ्य को कहते हैं। शक्ति का प्रत्यक्ष क्रिया से होता है। अनुमान के अनेक साधन हैं। शक्ति का कई प्रकार से वर्गीकरण हो सकता हैं। श्रद्धानुगामिनी होने पर शक्ति को भी सात्विक, राजस व तामस तीन भाग में बांट सकने हैं। अन्य विधि से- आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीन तरह की शक्ति मानी जाती हैं। प्राण क्रिया से लेकर जितनी क्रियाएँ हैं, सब शक्ति से सम्पन्न होती हैं। शक्ति के बिना शिव भी अशक्त हो जाते है। निर्विवाद है कि शक्ति सबके लिए आवश्यक और अनिवार्य है।

श्रद्धा पुरूष का स्वरूप ही है। शक्ति के बिना कोई श्वास तक नही ले सकता है। श्रद्धा और शक्ति दोनों स्वाभाविक देन के रूप में प्राप्त लगती है। यह प्रकृति की सहज शक्तियाँ हैं, जिनसे सभी अप्लावित हैं। ऐसी स्थिति में नियतवादी की कुछ सोचने समझने तथा करने की आवश्यकता ही नही है। किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति पुरूषार्थ का सहारा लेकर विधि खोजता है। विधि पुरूषार्थ- सिद्धि में सहायक होती है। श्रद्धा और शक्ति के स्वरूप, मात्रा, सम्बन्ध आदि का निर्धारण विधि से होता है। संयोजन के बिना कोई निर्माण

नही होता है। पुरूषार्थ की सिद्धि अभीष्ट है। इस सिद्धि की पूर्वगामिनी श्रद्धा है, तथा सहायिका शक्ति है। विधिपूर्वक संयोजन होने पर श्रद्धा और शक्ति परस्पर सहायता से उत्तरोत्तर बढ़ती हैं तथा परमशक्ति मिलने पर परम पुरूषार्थ भी सिद्ध हो जाता है।

शक्ति का साधन तप है। प्रभाव, उत्साह और मन्त्र तीन साधनों से किया हुआ शरीर, वाणी और मन से सम्बन्धित तप ही शक्ति के रूप में परिणत होता है। शक्ति का उपयोग अभीष्ट की प्राप्ति के लिए होता है। अभीष्ट, श्रद्धा के अनुसार निर्धारित होता है। इस तरह शक्ति साधन और श्रद्धा साध्य है। किन्तु दूसरी दिशा से विचार करने से पहले श्रद्धा होती है। तदनुरूप तपस्या का अनुष्ठान किया जाता है। व्यवहार में शक्ति और श्रद्धा में अन्योन्याश्रय है। परमपुरूषार्थ भी श्रद्धा के अनुरूप ही होता है, अतः परम साध्य श्रद्धा ही है। प्रबल श्रद्धा होने पर शक्ति मिल जाती है किन्तु प्रबल शक्ति के होने पर भी श्रद्धा (सात्विक) का मिलना निश्चित नही है। इसलिए श्रद्धा की बड़ी महिमा स्वीकार की गई है। ''श्रद्धामयोऽयं पुरूषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः'', ''श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम् '' आदि वाक्य श्रद्धा को सर्वोपरि महत्व का बताते हैं। बिना श्रद्धा के किया हुआ हवन, तप, दान तथा सारी क्रियाऐं व्यर्थ हो जाती हैं। इस तरह शक्ति निरर्थक चली जाती है। श्रद्धा के अभाव में सारी क्रियाऐं मिथ्याचर हो जाती हैं अतः श्रद्धा अनिवार्य तत्व है।

शक्ति के अभाव में श्रद्धा के अनुसार सफलता नहीं मिलती है। यज्ञ करने की श्रद्धा होने पर भी निर्धन होने पर यज्ञ सम्भव नही है। यज्ञ में धन आवश्यक है। अदक्षिणा या अल्पदक्षिणा देने पर यज्ञ विपरीत फल देता है। ऐसी हालत में पहले शक्ति (धन) संग्रह की श्रद्धा होनी चाहिए। असफलता होने पर श्रद्धा में कमी आती है।शक्ति के अभाव में असफलता मिलती है। अतः शक्ति के लिए तपस्या में श्रद्धा रखना प्रथम अपेक्षा है। फल में श्रद्धा रखने वाला और तपस्या (शक्ति) में अश्रद्धधान व्यक्ति हास्यपद हो जाता है और बाद में नास्तिक हो जाता है। अतः श्रद्धा कहाँ, कब, किसके प्रति किया जाय, इसका विवेक होना चाहिए। 'तत्वपक्षपातो हि स्वभावोधियाम् '। बुद्धि ही इस निर्णय में सहायक होती है। श्रद्धा मनोभाव है। बुद्धि से संस्तुत मनोभाव ही उपकारक होता है।

पुरूष का स्वरूप यथाक्रतु माना जाता है। संकल्प श्रद्धा के अनुरूप ही होता है। अतः जैसी श्रद्धा है, वैसा ही पुरूष का परिचय होता है। बिना श्रद्धा के कोई व्यक्ति नही होता है। सात्विक, राजस और तामस कोटि में से किसी न किसी तरह से श्रद्धा सब में होती है। सभी तरह की श्रद्धा में शक्ति की आवश्यकता होती है। तपस्या के द्वारा किसी भी तरह की श्रद्धा का पुरूष शक्तिशाली हो सकता है। शक्ति ही रक्षा और संहार दोनों का कारण है।

आसुरी शक्ति से आत्मबन्धन तथा विश्वसंहार होता है, एवम् दैवी शक्ति से आत्मानन्द एवं विश्वकल्याण । अतः सात्विक श्रद्धा एवं तज्जन्य दैवी तथा आध्यात्मिक शक्ति के लिए पुरूषार्थ करना ही जीवन की सफलता है। आध्यात्मिक शक्ति से ही अभयपद मिलता है। यही परमलाभ है, यही सत्य की प्रतिष्ठा है।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ।।

यजुर्वेद का यह मन्त्र श्रद्धा को ही सत्य (परमपद) की प्राप्ति का हेतु बताता है। यह श्रद्धा सहज नही है। इसके लिए विधि बताई गई है। व्रत (तप-संकल्प) से दीक्षा (धर्म संस्कार), दीक्षा से दक्षिणा, दान, (पारिश्रमिक) दक्षिणा से श्रद्धा और श्रद्धा से सत्य (पुरूषार्थ) प्राप्त होते हैं। विश्वास ही सत्य है। यह श्रद्धा के दृढ़ होने पर मिलता है। व्रत शक्ति से तथा शक्ति की साधना के लिए किया जाता है। पूर्व सञ्चित शक्ति का होना तथा उसे बढ़ाने की इच्छा रखना दोनों आवश्यक है। पूर्व सञ्चित शक्ति सब के पास है। मनुष्य में अनन्त सम्भावनायें हैं, जिन्हें जाग्रत करना, प्रकट करना पुरूषार्थ साध्य है। पूर्व सञ्चित शक्ति को व्रत (सात्विक संकल्प) में लगाना मूल उपदेश है। यही सध जाने पर दीक्षा, दक्षिणा तथा श्रद्धा क्रमशः मिलते हैं। दक्षिणा ही प्रत्यक्ष सफलता है। इससे श्रद्धा बढ़ती है, श्रद्धा होने पर सत्य की प्राप्ति होती है।

सामयिक परिस्थिति का निदर्शन अप्रासंगिक नही है। हमारे यहाँ धर्म और संस्कृति की जितनी चर्चा चल रही है उतनी पहले नही थी, किन्तु धार्मिक और सांस्कृतिक मूल्यो में ह्रास प्रत्यक्ष है। इसका कारण है, मिथ्याचार, जिससे शक्ति मिलने के बजाय नष्ट होती है। श्रद्धा के अनुसार फल सब नहीं पा रहा है। सभी भयग्रस्त तथा असहाय हैं। आस्तिकता की निम्नतम सीमा पर पहुँचकर, सभी लगभग नास्तिक हो जाते हैं। भगवान् बचाएगा यही एक सन्तोष की बात सभी के मुँह पर है, ऐसी स्थिति शक्ति के अभाव में है। शक्ति के सात्विक साधन यज्ञ, तप, त्याग, संयम आदि में श्रद्धा नहीं, किन्तु इन साधनों से उत्पन्न शक्ति से प्राप्तव्य फलों को सभी चाहते हैं, जो असम्भव है। शक्ति के सात्विक साधनों में श्रद्धा तथा उन साधनों से शक्ति संचय इस समय परमावश्यक है। इसके बिना धर्म और संस्कृति की रक्षा का कोई मार्ग नहीं है। अथवा धर्म और संस्कृति का नाम छोड़कर भौतिक शक्ति और भौतिक सुखों में ही राजसी श्रद्धा रक्खे। हम लोग ऐसी स्थिति में हैं, जिसमें दुविधा में दोऊ गए...।

प्रत्येक देश का एक विशिष्ट गुण होता है। स्थान का गुण कोई नष्ट नही कर सकता है। भारत देश धर्म- प्राण रहा है, इसीलिए विश्व की प्राचीनतम संस्कृति यहाँ अब ही जीवित है। अन्य संस्कृतियाँ समाप्त हो गई । धर्म में

श्रद्धा इस देश में स्वाभाविक है। इसे छोड़ना भी असम्भव लगता है। ऐसी स्थिति मे धर्म के सात्विक तत्वों को समझना और उनमें श्रद्धा रखना आवश्यक है। शक्ति संचय अनिवार्य है। शक्ति को सात्विक श्रद्धा के अधीन ही रक्खा जाय, जिससे लोक-कल्याण हो सके। अतः सात्विक श्रद्धा सम्पन्न लोगों को सात्विक विधि से शक्ति की साधना करना युग की माँग है।

विश्वास

विश्वास शब्द बडा ही लोक-प्रचलित है। दैनिक व्यवहार, नीति, धर्म, समाज शास्त्र, मनोविज्ञान सभी में विश्वास का बडा महत्व है। कहा जाता है कि आजकल विश्वास का संकट हैः इसीलिए सामाजिक विघटन हो रहा है। कहीं विश्वास से ही सारे फलों की प्राप्ति लिखी है तो कहीं विश्वस करने से रोका गया है। कहीं पूर्ण विश्वास की अनिवार्यता है तो कहीं विश्वस्ते नाति विश्वसेत्'' भी लिखा है। इससे यह सिद्ध होता है की विश्वास एक जटिल विषय है और स्वभावतः अनिवार्य भी है अतः इसके विषय में सम्यक जानकारी आवश्यक है। संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने।''

विश्वास शब्द की व्युत्पत्ति वि उपसर्गपूर्वक श्वस् धातु मे धञ् प्रत्यय लगाने से होती है। वि विशिष्ट अर्थ में है। श्वस् धातु का अर्थ श्वसन क्रिया के रूप विख्यात है। निरुक्तकार ने लिखा है समौ विश्रम्भ विश्वासौं। श्रम्भु धातु विश्वास के अर्थ में है। धञ् प्रत्यय से विश्रम्भ बनता है। इसका अर्थ है निःशङ्क होना, निर्भय होना तथा पूरी तरह से स्वीकार करना, भरोसा करना, आश्रय लेना। इस तरह सन्देह तथा तर्क से परे विश्वास की स्थिति बनती है। यह अन्तः करण का धर्म है।

अन्तः करण के धर्मो में विश्वास से ही सम्बद्ध है श्रद्धा, आशा, भय, विभ्रम, और अन्धविश्वास। इसके अलावा बाह्म रूप से तर्क, सन्देह, प्रमाण, तथा विज्ञान भी सम्बद्ध है। इन सबको अलग-अलग जानने से विश्वास के विषय में स्पष्ट ज्ञान होता है। सभी का प्रभाव क्रिया पर पड़ता है। फल दो तरह के होते हैं – दृष्ट-अद्घष्ट। अद्घष्ट फल के लिए विश्वास ही साधन है ओर शास्त्र ही प्रमाण है। लोक में भी अद्घष्ट फल की प्राप्त देखी जाती हैं, जो भाग्य (कर्म) के नाम से जानी जाती है। द्घष्ट फल वाले कर्मो में सभी का प्रभाव अलग-अलग स्पष्ट होता है। विश्वास के कारण ही लोगों का दैनिक व्यवहार चल रहा है। यह विश्वास का सर्वोपरि द्घष्टफल है।

विश्वास का आधार विषय-वस्तु होती है। यह बाह्म या आन्तरिक हो सकती है इसी के अनुसार विश्वास और आत्म-विश्वास शब्दों का प्रयोग होता है। जिसमें आत्मविश्वास होता है वही विश्वास भी कर सकता हैं। 'यस्य यावांश्च विश्वासःतस्य सिद्धिस्तु ताबती', विश्वासः फलदायकः आदि आप्तवाक्यों में विश्वास को बड़ा महत्व दिया गया हैं। यह विश्वास तभी सम्भव है जब आत्मविश्वास हो। अपनी बुद्धि, स्मृति, धैर्य, बल इत्यादि पर आत्मविश्वास

होने पर परत्र भी विश्वास होता है। सदाचार और निर्मल बुद्धि ही इसमें सहायक है। आत्मविश्वास ही अपना स्वरूप है यही अहं तत्व हैः यही स्वभाव है। सदाचार और ज्ञान की सहायता से आत्मविश्वास को बनाये रखना प्राथमिक कर्तव्य हैं।

धारणायें दो तरह की होती है एक अनुकूल दूसरी प्रतिकूल। सन्देह होने पर कोई धारणा नहीं बनती है; यह अनिश्चय की स्थिति है। तर्क और प्रमाण के आधार पर सन्देह दूर किया जाता हैं। तब धारणा बनती है। यह निश्चयात्मक है किन्तु निश्चयात्मक होने से ही निर्भय स्थिति नहीं मिलती है। अनुकूल स्थिति का निश्चय होने पर ही निरापद 'विश्वास' प्राप्त होता हैं। तब अन्य प्रबन्ध की आवश्यकता नहीं होती है। प्रतिकूल स्थिति का निश्चय होने पर निराशा एवं भय ग्रस्त करते हैं या अन्य क्रिया करने के लिए प्रेरणा मिलती हैं। यह अविश्वास की स्थिति है। इस तरह निश्चयात्मक धारणा का बनना, उसकी अनुकूलता तथा उससे निर्भयता की स्थिति को प्राप्त करना विश्वास की स्थिति के अङ्ग है। विश्वास तो स्वयं (अहम्) शिव है। इसीलिए भवानी शङ्करौ वन्दे श्रद्ध विश्वास रूपिणौ कहकर कवि ने प्रार्थना की है।

विश्वास के दो क्षेत्र है- लोक एवं परलोक। लोक में पूर्ण विश्वासनीयता कहीं नहीं है। लौकिम विषयों में पूर्ण विश्वास करने से रोका गया है। यही नीति है कि लोक में विश्वस्त जैसा आचरण करना चाहिए किन्तु पूर्ण रूपेण फल प्राप्ति के लिए आशान्वित नहीं होना चाहिए। परलोक विषयक क्षेत्र में पूर्ण विश्वास करना चाहिए। उसका अदृष्ट फल आवश्यम्भावी है, यह मानना चाहिए। पारलैकिक विषय के विश्वास में ही पूर्ण निर्भयता सम्भव है। लौकिक विषय में पूर्ण समर्थन तथा अभयपद की कल्पना आत्म-प्रबंचना है।

विश्वासघात को महापातक कहा गया है। इसके विपरीत विश्वसनीयता महापुण्य हैं। 'विश्वासयेच्चापिपंर तत्वभूतेन हेतुना' (अग्निपुराण) शास्त्रादेश है। विश्वास सत्य के आधार पर पैदा होता है। दूसरे पर अतिविश्वास नहीं करना चाहिए, किन्तु व्यवहार विश्वास के साथ ही करना उचित है। दूसरो के प्रति पूर्ण विश्वसनीय होना चाहिए यही धर्म है। जो विश्वसनीय है, वही विश्वास भी करना जानता है। विश्वास सत्य के आश्रय से होता है, सत्य ज्ञान से प्रकाशिन होता है। अतः ज्ञानपूर्वक (बुद्धि से परीक्षित) विश्वास ही अभीष्ट है। अज्ञान के आधार पर अन्धविश्वास या आत्मप्रबचना होती है। प्रमाद और आलस्यवश किया विश्वास सन्देहास्पद होता है। अज्ञानमूलक होने के कारण यह सही अर्थ में विश्वास नहीं है। इसका फल निश्चय ही बुरा है। विश्वास का फल बुरा होने का प्रश्न ही नहीं हैं। सत्य के आधार पर विश्वसनीय होना तो निश्चय ही महापुण्य है।

विश्वास को फल से जोड़ना स्वाभविक है। यादि फल अभीष्ट नहीं है तो विश्वास में विचलन होता है। इसीलिए आजकल लोक विश्वास के स्थान पर विज्ञान को महत्व देते है। विज्ञान में प्रयोग और फल का सम्बन्ध अनिवार्य है। किन्तु विज्ञान से सम्पूर्ण मानवीय क्रियाओं का क्षेत्र नियन्त्रित नहीं हो सकता। अद्दष्ट फल वाले कर्मो में विज्ञान का हस्तक्षेप सम्भव नहीं हैं। इसके अलावा द्दष्ट फल में भी उन्हीं कर्मो में विज्ञान का प्रयोग सम्भव है जो भौतिक तत्वों से सम्बद्ध है अतः विज्ञान का क्षेत्र बहुत सीमित है अन्यत्र तो विश्वास की आवश्यकता अनिवार्य है। लौकिक विषयों में प्रयोग ओर फल के आधार पर विश्वासों में परिवर्तन करना बुद्धिमानी है। यह तो पहले ही स्वीकार किया गया है कि लोक में पूर्ण विश्वास नहीं करना चाहिए। यहाँ अद्यतन उपलब्ध ज्ञान राशि के आधार पर उत्पन्न विश्वास से काम चलाना चाहिए तथा विश्वास में परिवर्तन की सम्भावना को भी स्वीकार करना चाहिए।

प्रमाण और तर्क विश्वास के विरोधी नहीं है। इनसें विश्वास होने में सहायता मिलती है। निश्चय हो जाने पर या तो विश्वास हो जाता है या अविश्वास। सन्देह के अपनोदन से ही विश्वास सम्भव है। संशय भी विश्वास का विरोधी नहीं है। यह विश्वास के पहले की स्थिति है। यह स्थिति अभीष्ट नहीं है। विश्वास का विरोधी अविश्वास है। अविश्वास की स्थिति निश्चय मूलक है किन्तु भयप्रद है। लौकिक द्यष्टि से अविश्वास की भी आवश्यकता पड़ती हैं। क्योकि इसी के करण विश्वसनीय की खोज होती हैं। पारमार्थिक द्यष्टि से अविश्वास घातक है, क्योकि विश्वास के अभाव में निराधार होने पर अनेक व्याधियाँ आक्रान्त कर लेती है। अन्धविश्वास सर्वत्र सन्देहास्पद है। अलौकिक विषयों में ज्ञानमूलक विश्वास अनिवार्यतत्व है। विश्वास ही एकमात्र आधार है। विश्वास के बिना व्यक्ति को सूक्ष्य जगत् (अलौकिक क्षेत्र) अज्ञात ही रहा जाता है और जीवन पशुवत एकांगी हो जाता है।

आशा और श्रद्धा शब्द विश्वास के इतने सन्निकट हैं कि बहुधा इनका प्रयोग एक दूसरे के अर्थ में कर दिया जाता है। यह भी अन्तःकरण के धर्म है आशा तर्क व बुद्धि की देन है यह सम्भावना-मूलक होती है जबकि विश्वास निश्चयमूलक होता है। आशा नदी है तो विश्वास समुद्र। सभी विश्वसनीय श्रद्धेय नहीं होते किन्तु सभी श्रद्धेय विश्वसनीय होते है। विश्वास का क्षेत्र बड़ा है। श्रद्धा पुरूष के कियात्मक जगत का स्परूप है जबकि विश्वास स्थिति का स्परूप हैं। यह इतने मिले-जूले है, कि शिव-पार्वती की तरह अलग-अलग नहीं हो सकते। श्रद्धा की परिणति विश्वास में और विश्वास की परिणति श्रद्धा में दिखाई पड़ती है। श्रद्धा जल है तो विश्वास तृप्ति है, श्रद्धा किया है तो विश्वाास उसका फल है। अभयपद आशा व श्रद्धा में नहीं वरन् इनसे आगे विश्वास में ही सम्भव है। इस अर्थ में विश्वास सर्वोपरि है।

अन्तःकरण में स्थान निर्धरित करने के प्रयास किया जाय तो श्रद्धा का स्थान मन, आशा का स्थान बुद्धि तथा विश्वास अहंकार है। मन 'अह' तत्व से उत्पन्न होता है। अह के पोषण के लिये ही मन की कियाओं होती है। श्रद्धा भी विश्वाास के लिए होती है। और उसी मे मिल जाती है। विश्वास से श्रद्धा का उद्गम होता हैं। बुद्धि अह तत्व के पोषण, परिवर्धन एवं परिवर्तन के लिए होती है। बुद्धि से उत्पन्न 'अहं' बुद्धि को पार करने में अपनी सफलता पाता हैं। आशा के पूर्ण होने पर विश्वास हो जाता हैं। आशा की किरण उत्पन्न करना बुद्धि का ही धर्म है। पारमार्थिक विषयों में पूर्ण विश्वास होने पर अहं तत्व बुद्धि को पार करके श्रद्धा विश्वास के साथ शुद्ध अहं के रूप में प्रकट हो जाता हैं। यही मोक्ष या कैवल्य है। यह अन्तःकरण की व्याख्या है जिसे इदमित्थं कहना असम्भव है।

आजकल समाज में विश्वास का संकट है। वैज्ञानिक तथ्यों पर भी रूढ़िवादी लोग विश्वास नहीं करते है। वैज्ञानिक अपने प्रयोगो को ही विश्वसनीय मानते हैं। अन्यत्र उन्हें अविश्वास है। दोनों स्थिति असङ्गत है। व्यवहार में परस्पर विश्वास की कमी है। सदाचार के अभाव में आत्म-विश्वास नहीं है। अतः अन्यत्र भी विश्वास नहीं होता हैं। विश्वास सत्य के आधार पर ही श्रेयस्कर है जबकि असत्य के प्रयोग से विश्वास प्राप्त काने का प्रयास किया जा रहा है। इस स्थिति में परिवर्तन के लिए सदाचार, सत्य और ज्ञान का आश्रय लेना ही उपाय है। लोक के साथ परलोक में भी विश्वास रखना श्रेयस्कर है। शास्त्र, सत्संग और ईश्वर अब भी पूर्ण विश्वसनीय है। जीवन भर के अनुभवों से जो निश्चय नहीं बन पाता वह आप्त वाक्य में विश्वास करने पर क्षण भर में हो जात है। विश्वास करने पर सभी व्याक्ति तथा सभी अनुभव अपने ही हो जाते है। ऐसे विश्वास के सहारे जिसने लोक वपरलोक को सिद्ध नहीं किया वह बिना नाव के समुद्र पार करने की इच्छा वालाःदुस्साहसी वालिश कहा जाता है। विश्वास का आश्रय लेना ही बुद्धिमानी है।

____

दान

दान केवल एक धार्मिक विषय नहीं है। इसके आध्यात्मिक, सामाजिक, मनो-वैज्ञानिक एवं नैतिक पक्ष भी समान रूप से महत्त्वपूर्ण है। वर्तमान परिस्थितियों में दान की सङ्गति को जानने के लिए इस विषय को भली-भांति समझना आवश्यक है। हिन्दू धर्म में ज्ञान, तप, यज्ञ, दान चार धर्म के चरण माने गये हैं। गीता में लिखा है ''यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्'' यज्ञ, दान व तप सदैव करना चाहिए यह शास्त्रादेश है। इस्लाम में धर्म के पांच अङ्ग है- तौहीद, नमाज, जकात, रोजा और हज। जकात (दान) उसमें भी मुख्य अङ्ग है। ईसाई धर्म दान व परोपकार (चैरिटी) पर आधारित है। इसी तहर सभी प्रमुख धर्मों में दान का विशेष स्थान है। धार्मिक दृष्टि से तो दान का महत्त्व सुस्थापित है, किन्तु यदि इस दृष्टि को दकियानूसी करार किया जाता है तो अन्य दृष्टियों से भी यह विषय स्वीकार करने के लिए प्रबुद्ध प्राणी को अभिभूत कर लेता है। जिस व्यक्ति, धर्म, समाज ने इसकी बवहेलना किया उसकी सत्ता ही समाप्त हो गई। अतः अस्तित्व के लिए भी दान के विषय में ज्ञान ओर इसमें आस्था आवश्यक है।

दान, द्रव्य, विद्या और भावना (कायिक, वाचिक, मानसिक) तीन पदार्थों का किया जाता है। द्रव्य में ही कन्या, गौ आदि विशिष्ट पदार्थ भी है। विद्या-दान गुरू-शिष्य परम्परा में दिया जाता है। शुल्क देने पर विद्या, दान नहीं बल्कि विद्या विकय कहा जायगा। भावनाओं में काम, स्नेह, भय-अभय आदि पदार्थ है। दान की परिभाषा में स्वत्व निवृत्ति पूर्वक पर'स्वत्वोत्पादन-उक्ति स्थापित की जाती है। इसी दृष्टि से यहां पर दान का मुख्यार्थ द्रव्य-दान ही अभिप्रेत है।

वेद, उपनिषद्, इतिहास, पुराण स्मृति तथा धर्मशास्त्रों में दान के महत्त्व पर बहुत विषद् साहित्य उपलब्ध होता है। 'व्यक्तेन भुज्जीथाः' यह यजुर्वेद का निर्देश है। देहि में ददामिते निमे धेहि नितेदधे-वेद की वाणी है।' 'नास्ति दानात्परं मित्रम् इह लोके परेऽपि वा' 'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्' 'यत्किचिदपि दातथ्यं याचिक्तेनानुसूययाः' ऐसे वाक्यों की गणना नहीं की जा सकती है। तैतिरीयोप-निषद् में विशेष रूप से दान पर बल दिया है। 'श्रद्धया देयम्'। अश्रद्धयाऽदेयम्। श्रियादेयम्। ह्रियादेयम्। भियादेयम्। संविदादेयम्।। प्रजापति ने उपदेश में 'द' अक्षर कहा था जिसका अर्थ मनुष्य के लिए दान ही लिया गया। लौकिक साहित्य में भी 'पानी बाढ़ै नाव में-धर में बाढ़ै दाम कोऊ

हाथ उलचिए'' आदि उक्तियां उपलब्ध हैं। मनुष्य के लिए दान से बड़ाा धर्म या मित्र नहीं है। केवल संचय से अनेक सकट आते हैं। देते रहने पर धन व मन दोनों की शुद्ध होते रहते है। दान के महत्त्व को बहुत कहना आवश्यक नहीं है। सभी जानते हैं। जानने के साथ मानना आवश्यक है।

दान द्रव्य की प्रथम गति है। भोग, नाश अन्य गतियां हैं। शक्ति का साधन देना या साक्षात् शक्तिपात भी दान की विधाएँ हैं। इसमें भी स्वत्व निवृत्ति होती है। इसके लिए ग्रहीता की पात्रता अत्यन्त परीक्षणीय होती है। उत्तम दान में दाता और ग्रहीता दोनों महान होते हैं, बलि और बामन दोनों की महत्ता है। दाता, प्रति ग्रहीता, दान की विधि, देय वस्तु, देश, काल यह छः अङ्ग दान के विषय में ज्ञातव्य हैं। इन अङ्गों के पूर्ण होने पर उत्तम दान होता है। गीता में सात्त्विक, राजस, तामस तीन कोटि के दान कहे गए हैं। उत्तम, मध्यम्, अधम तीन कोटि के दानों की चर्चा बहुत शास्त्रों में है। उत्तम दान आध्यात्मिक और धार्मिक फल से सम्बद्ध है। मध्यम या अद्यम दान का महत्त्व सामाजिक मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक कारणों से ही है। विभिन्न उद्देश्यों से विभिन्न कोटि के दानों का प्राविधान है। कुछ ऐसे भी दान हैं जो निषिद्ध हैं। छः अङ्गों में से सभी के दूषित होने पर दान का विपरीत प्रभाव पड़ता है। किसी उद्देश्य की पूर्ति न होने और विपरीत सामाजिक प्रभाव का भय होने पर बन्दर के हाथ में चाकू की भांति निषिद्ध दान नहीं करना चाहिए। किन्तु यदि किसी एक उद्देश्य की पूर्ति होती है तो राजस व तामस दान भी करना शास्त्र सम्मत है। आजकल धर्मिक और आध्यात्मिक पक्ष समाप्त प्राय हैं; नैतिक, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक पक्षों पर भी लोगों की दृष्टि नहीं जाती हे। यह दान का अवमूल्यन है जो समाज के लिए घातक है। दान देने में श्रद्धा और शक्ति दो कारण होते है। श्रद्धा के बिना या शक्ति के अभाव में दान देना संभव नही है। दान के फल दो तरह के हैं- लौकिक एवं पारलौकिक (दृष्ट, अदृष्ट)। कुछ फल तुरन्त मिलते हैं, कुछ जन्मान्तर तक में मिलते रहते हैं। दान चार कोटि का होता है-नित्य, नैमित्तिक, काम्य, निषिद्ध। दान में देय वस्तु तीन श्रेणी में विभाजित हैं-शुक्ल, शवल अधम। स्वधर्म से न्यायोपार्जित धन शुक्ल होता है, जिसके दान का अधिक महत्त्व है। दाता के लिए प्रिय तथा ग्रहीता के लिए अभीष्ट वस्तु के दान से अक्षय पुण्य होता है। दान साध्य और साधन दोनों हैं। दान अपने में ही एक सिद्धि है। इससे उत्पन्न प्रभाव सभी कार्यों को सिद्ध करता है। पूर्ण अपरिग्रह समाज में संभव नहीं है; लेना और देना जीवन की सार्थकता के अङ्ग है। देवता और ऋषि भी 'दान' लेते हैं तथा उसके बदले में कुछ देते हैं।

यज्ञ, तप, दान तीन विशिष्ट कर्म माने गए हैं। यज्ञ में लेना और देना तप में लेना तथा दान में देना यही प्रधान है। समाज की स्थिति तथा गति दोनों

के लिए इनकी आवश्यकता है। काम की प्राप्ति में अर्थ सहायक होता हें। अर्थ-दान से काम की प्राप्ति हो जाय तो यह सर्वोत्तम है। अर्थ-दान से सुख शान्ति मिलती है। यदि दान से अहङ्कार उत्पन्न हो तो विपरीत स्थिति है। दान की क्रिया का उचित मूल्य प्राप्त करना बुद्धिमानी हैं प्रदर्शन या अहङ्कार के लिए दान देना मूर्खता है। 'त्यागाय संभृतार्थानाम्'-अर्थ संग्रह के बाद त्याग की भावना बनी रहे यही मनोवैज्ञानिक स्थिति अभीष्ट है।

वर्तमान समय में देने की भावना के साथ ही लेने की भावना का भी अभाव है। लोग चोरी या डकैती कर सकते हैं किन्तु दान नहीं लेना चाहते हैं। अपनी अन्तरात्मा की आवाज से या अहङ्करवश लोग अपने को दान लेने का पात्र नहीं स्वीकार करते हैं। इसी स्थिति का फल है कि समाज में दहेजप्रथा एक समस्या हो गई है। कन्यादान जैसा पुण्य कर्म भी अब अपात्रों के कारण (बलात् दहेज लेने से) दान नहीं, ऋण की वापसी जैसा रूप धारण कर लिए है। देने व लेने की भावना के अभाव का यह स्पष्ट उदाहरण है।

दान एक नीति भी है-साम, दाम, दण्ड, भेद यह चार नीतियाँ बताई गई हैं। ''नीचमल्पप्रदानेन समम् युध्येन तोषयेत्'' यह नीति है। पात्र को दान देने के तो अनेक फल है। नीच को भी दान दे देने से बड़ी विपत्ति तुरन्त टल जाती हे। त्याग भी एक तरह का दान है, इसमें फल मिलता है। महाभारत में कुररी पक्षी का प्रसंग है। उसके मुख में आमिष होने के कारण सभी पक्षी उसे मारने लगे। आमिष को छोड़ देने पर उसकी सारी विपत्ति दूर हो गई 'आमिषस्य परित्यागात् कुररी सुख मेधते'। लौकिक सफलता के लिए नीति के रूप में दान कर्म को स्वीकार करना हितकर हैं। ''येन केन विधि दीन्हे दान करे कल्याण' यह मान्य है।

धार्मिक दृष्टि से दान का बड़ा गूढ़ रहस्य है। मनुष्य जन्म से ही तीन ऋणों से बँधा होता है। यह पितृऋण, देव ऋण, ऋषि ऋण देने से ही समाप्त होते है। द्रव्य, भावना व विद्या के दान के द्वारा इन ऋणों से मुक्ति होती है। ऋण मुक्त होने पर मोक्ष की साधना में मन लगता है-अधिकार मिलता है। इस निमित्त किए गए दान के विषय में छः अंगो (देश, काल, पात्र अदि) का शोधन आवश्यक है। पात्र (पातृच्) शब्द का अर्थ ही है जो देने वाले की रक्षा करे। पात्र की सामर्थ्य पर दान की सार्थकता निर्भर करती है। भावना से भी पात्रता अरोपित करके काम चलाया जाता है। विद्वत्ता, तप, वृत्त (सदाचार) यह पात्रता के लक्षण है। धेनु और पन्नग में अन्तर न करने से जो अनिष्ट होगा वही पात्र-अपात्र में अन्तर न करने का फल है। देश के निर्णय में तीर्थ तथा तपःपूत स्थान स्वीकार्य बताए गए है। काल का निर्णय चन्द्र कला के अनुसार होता है। उत्तरायण, दक्षिणयन सूर्य का भी महत्व है। न्यायोपार्जित पदार्थ ही शुद्ध देय

है। सविधि तथा श्रद्धा के साथ देना यह दो अङ्ग भी अवधेय हैं। इस तरह छः अंगों पर दृष्टि रखते हुए दान देने से मनुष्य इस लोक तथा परलोक के सभी बन्धनों को काटते हुए परमगति पाता है। ऋणापनोदन की भावना से दिया गया दान अहंकार नहीं पैदा करता है। इतिहास-पुराण में दान के विषय में विशद विवरण तथा लम्बे आख्यान मिलते हैं। महाभारत दान पर्व अपने में ही एक ग्रन्थ है। स्कन्द पुराण के माहेश्वर खण्ड में दान का रोचक विश्लेषण मिलता है। एक ही श्लोक में सूत्ररूप में सभी बातें बताई गई हैं।

द्वि हेतुं षडधिष्ठानं षडङ्गं च द्विपाकयुत्।
चतुः प्रकारं त्रिविधं त्रिनाशं दानमुच्यते॥

दान के दो हेतु हैं- श्रद्धा, शक्ति, छः अधिष्ठान है धर्म, अर्थ, काम, कीडा, हर्ष व भय; छः अंग हैं- दाता, प्रतग्रहीता, शुद्धि, देय शुद्धि, देश व काल, दो परिणाम है- लौकिक व पारलौकिक, चार प्रकार है-ध्रुव, त्रिक, नैमित्यिक व काम्य), तीन विधि है- उत्तम, मध्यम, अधम, (सात्विक, राजस तामस); तीन नाश है- पश्चाताप, अश्रद्धा, आक्रोश, उपर्युक्त सातों विषयों को सम्यक् समझने पर दान के विषय में पूर्ण जानकारी मिल जाती है। आख्यानों के पढ़ने से श्रद्धा बढ़ती है। लोक व परलोक (जीवन व मुक्ति) दोनों की साधना के लिए दान को सविस्तार जानना आवश्यक है। इसका थोड़ा भी अंश आचरण मैं स्वीकार करना कल्याण मार्ग का द्वार अनावृत करता है।

हमारे इतिहास में बलि, शिवि, दवीचि, हरिश्चन्द्र, रघु कर्ण आदि के प्रेरक प्रसंग दान के विषय में उपलब्ध होते हैं। देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य तथा प्रणिमात्र को नित्य कुछ देते रहने के लिए ही पंच महायज्ञों का विधान है। धर्म के चार अंगों में एक तथा इस युग में प्रधान 'दान' धर्म को स्वीकार किया गया है। सभी दृष्टियों से दान का जो महत्व पहले था, वह अब भी है। संचय से होने वाले अनिष्ट को देखते हुए तथा समाजवाद की स्थापना की दृष्टि से भी दान का महत्व स्वीकार्य है। लौकिक तथा पारलौकिक दोनों सिद्धियों के लिए दान-धर्म वरणीय है। दान का फल सद्यः तथा अनन्तकाल तक मिलता है। पूरे मानव समाज में, प्रत्येक देशकाल में इसका महत्त्व एक जैसा बना है। यह सार्वभौम तथा सार्वकालिक धर्म है। स्थूल का त्याग और सूक्ष्म का संचय सम्भव होने के कारण दान से मानसिक तनाव में कमी तथा प्रसन्नता की प्राप्ति होती है। यही एक धर्म है जो सभी देश-जाति में मनौवैज्ञानिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक व आध्यात्मिक उपलब्धि के लिए समर्थ स्वीकार्य है।

'सर्वे भवन्तु सुखिनः' से लेकर 'प्रेत्यानन्त सुखाय च' तक की समाज तथा व्यक्ति की आकांक्षा की पूर्ति के लिए दान धर्म ही सक्षम है।

वैदिक धर्मः उसके मूल स्तम्भ

विश्व में सभी धर्मों की अपनी पहचान है। वेष-भूषा, खानपान, रीति-रिवाज, भाषा, सामाजिक - व्यवहार तथा तात्विक व आध्यात्मिक मान्यताओं के आधार पर उनका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। संस्कृति व सभ्यता के निर्माण में भी वह सब तत्त्व सहायक है। अतः संस्कृति व सभ्यता भी धर्म से प्रभावित होती है तथा इनसे भी धर्म की पहचान होती है, यह स्वीकार्य है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, आर्थिक स्थिति तथा भौगोलिक वातावरण किसी देश के धर्म के स्वरूप के निर्धारण में अहं भूमिका रखते हैं। उपलब्ध साहित्य तथा उसके प्रति जन-मानस में निहित श्रद्धा व विश्वास धर्म के प्राण है। शासन चाहे जैसा हो, किन्तु समाज धर्म - सापेक्ष्य रहा है और रहेगा। शासन को अपने अस्तित्व के लिये समाज की आकांक्षाओं को पूरा करना पड़ेगा। अतः वर्तमान समय में धर्म- निरपेक्षता के उद्देश्य के बावजूद भी व्यवहार में धर्म सापेक्ष ही सर्वत्र है। इस तरह धर्म सर्वातिशायी है। अपने देश में वैदिक धर्म ही प्रधान है। उर्पयुक्त तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए वैदिक धर्म के स्वरूप का ही निरूपण किया जायेगा। स्तम्भों के आश्रय पर ही निर्माण का कार्य होता है। निर्माण अपने में ही एक विशिष्ट पहचान है। अतः वैदिक धर्म की पहचान के लिये उसके मूल स्तम्भों का वर्णन अभिप्रेत है।

वैदिक धर्म किसे कहते है यह ज्ञानव्य है। वेद ज्ञान की वह सनातन राशि है जिसे ब्रह्मा ने ऋषियों के माध्यम से मानव को दिया है। इस ज्ञान के आधार पर अभ्यु-दय और निःश्रेयस के जो मार्ग बताये गये हैं वह सब वैदिक धर्म के अन्तर्गत हैं। ''वेदोऽखिलं धर्ममूलम्'', यह मनु का वाक्य है। इसके साथ ही वेद के आधार पर बनी स्मृतियो, महापुरूषों का इतिहास, वैदिक धर्म का आचरण करने वालों के अन्तः करण की वाणी भी वैदिक धर्म के स्त्रोत हैं। इस तरह वैदिक धर्म का उद्गम (मूल) स्थान वेद है तथा तीन अन्य स्त्रोत भी हैं, जो व्यावहार में इस कार्य को पूर्णता प्रदान करते है। वैदिक धर्म के अनेक सम्प्रदाय हो गये हैं। देश, काल के अनुसार स्मृतियों में भेद हैं। वेद की अनेक शाखायें हैं। इस तरह के कारणों से सम्प्रदायों का बाहुल्य है, किन्तु इनमें मौलिक भेद नहीं है। सभी सम्प्रदायों का उद्देश्य समान ही है। धर्म के मूल स्तम्भ सभी सम्प्रदायों में यथावत है। भारतवर्ष में जितने सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ है उनमें से कुछ वेद को मानने वाले नहीं हैं। चार्वाक, बौद्ध व जैन सम्प्रदाय वेद-विरूद्ध हैं। यह वैदिक धर्म के अन्तर्गत तो नहीं है किन्तु इनका

भी आधार वेद या वेद-विरोध ही हैं। वैदिक धर्म के अनेक मूल स्तम्भों को, चार्वाकों को छोड़कर, सभी ने स्वीकार किया है। चार्वाक दर्शन तथा सम्प्रदाय केवल तर्क पर आधारित होने के कारण अप्रतिष्ठित है। जहाँ तक बौद्ध व जैन-दर्शन तथा सम्प्रदाय की बात है, ये वेद के कर्म-काण्ड का विरोध किये हैं किन्तु ज्ञान व उपासना काण्ड, वेद से ही लिये हैं। इन सम्प्रदायों के प्राणभूत सिद्धान्त वेद में ही है। कर्म-काण्ड के अभाव में वह वैदिक धर्म से हीन कोटि के हैं तथा धर्म न होकर समप्रदाय मात्र रह गये हैं। मानव समाज के लिये समग्रता वैदिका धर्म ही है, जिसमें कर्मकाणड, ज्ञानकाण्ड और उपासना काण्ड तीनों है तथा मूल से सम्बद्ध शतशः शाखायें सम्प्रदायों के रूप में विद्यमान हैं।

वैदिक धर्म भारतवर्ष, नेपाल तथा कुछ द्वीपों में ही अपने स्वरूप में रह गया है। इस बात के साक्ष्य हैं कि पहले यह धर्म भूमण्डल के बहुत विस्तृत क्षेत्र में प्रतिष्ठित था। इसी से सम्प्रदाय के रूप में अलग होकर अनेक धर्म बनते गये। विरोध, सुधार, अनुकूलन आदि उद्देश्यों से परिवर्तन किये गये हैं। इस समय भी यह क्रिया चल रही हैं। सिक्ख धर्म तो कुछ ही शताब्दियों के अन्तर्गत अलग अस्तित्व बनाने लगा है। वैदिक धर्म के मूल शाखा के अनुयायियों को हिन्दू या सनातनी वैदिक कहा जाता है। मूल शाखा में वैदिक धर्म के सम्पूर्ण अंगों को मान्यता अब भी है, भले ही कुछ अंग केवल प्रतीकों से ही जाने जाते है। उनका विस्तार लुप्त हो गया है। इस तरह वैदिक धर्म संकुचित होता जा रहा है। किन्तु इस धर्म के स्तम्भ बहुत सुदृढ़ है तथा इसकी संजीवनी शक्ति प्रबल है। अतः किसी समय वह पूर्ण विकसित और व्यापक धर्म हो सकता है।

किसी भी धर्म में दीक्षित होने के लिये मनुष्य बनना आवश्यक है। मनुष्य को ही विशेष साधन उपलब्ध कराये जाते है, जिससे वह पूर्णत्व प्रास करता है। इसीलिये प्रत्येक धर्म में दो प्रकार के सिद्धान्त पाये जाते हैं, एक सार्वभौम दूसरा विशेष। सार्व-भौम तत्व सभी धर्मों में ग्राह्य होते है। उनका आचरण न करने वाला भी सिद्धान्तों का विरोध नहीं करता है। विशेष धर्म में मूल्य बोध के अनुसार विशिष्ट बातें निर्धारित की जाती हैं। इसमें रहस्यों को भी स्थान मिलता है। इस अंश में ही धार्मिक टकराव पैदा होते हैं। सार्वभौम धर्म की प्रतिष्ठिा होने पर धार्मिक कट्टरता तथा विवाद को स्थान नहीं मिलता है। उसके निर्बल होने पर ही धर्म का विशेष अंश विवादास्पद तथा निःशक्त हो जाता हैं। वैदिक धर्म में सार्वभोम तत्त्व बहुत सुदृढ़ हैं। ''वसुधैव कुटुम्बकम्, सर्वे भवन्तु सुखिन'' आदि की उदात्त भावनायें सार्वभौम धर्म की ही देन है। सार्वभौम धर्म के कारण ही वह प्राचीनतम धर्म जीवित है तथा अनेक सम्प्रदायों को आत्मासात करके एवं अनके सम्प्रदायों को जन्म देकर अपने मूल रूप से अविछिन्न बना है। धर्म बड़ा व्यापक अर्थ रखता है। जहाँ धर्म का दूसरा भाग (विशेष सिद्धान्त) ही सब

कुछ है और सार्वभौम तत्त्व गौड़ होता है वहाँ धर्म नहीं सम्प्रदाय शब्द ही प्रयोग करने योग्य है। मूल वैदिक धर्म में दोनों भागों पर समान बल है। वास्तविक अर्थ में वही धर्म है। तथा इससे निरपेक्ष कोई समाज सम्भव नहीं है। इसमे विशेष सिद्धान्तों के अत्यन्त गूढ़ सुविकसित और अनुभूत होने पर भी सार्वभौम सिद्धान्तों को प्राथमिकता दी जाती है। वैदिक धर्म की यही संजीवनी शक्ति है। यही सार्वभौम धर्म विशेष धर्म कें लिये आधार शिला है।

वैदिक धर्म का भूल स्तम्भ ईश्वर है। गीता का उद्घोष है ''धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे।'' धर्म की स्थापना के लिये मूर्त रूप में नहीं वेद के रूप में ईश्वर ही अवतरित होता है। वेद ही सृष्टि का व्यवस्थापक है। इसी से लीकिक और पारलौकिक सिद्धियौ प्राप्त होती है। वेद से उपवृहण करके स्मृतियों, धर्मशास्त्र, इतिहास, पुराण व अन्य शास्त्र लिखे नये हैं। वेदाविरूद्ध होने पर वह सब वेद ही है। ईश्वर उन्हीं के माध्यम से धर्म की प्रतिष्ठा करता है तथा इन्हीं हो लुप्त करके संहार कर देता है। ईश्वर और वैदिक साहित्य इस धर्म के मूल हैं।

वैदिक धर्म का दूसरा स्तम्भ संस्कृत भाषा है। यह देववाणी है। इसके उच्चारण मात्र से पुण्य मिलता है। ज्ञान की प्राप्ति के लिये विदेशियों ने भी इसमें श्रम किया और वे भी अमर हो गये। सभी संस्कार तथा पुण्य कार्य संस्कृत कें ही माध्यम से होते है। इस भाषा में अर्थ को मूतं रूप देने की शक्ति है। इसमें विषय को स्थायित्व प्रदान करने की क्षमता है। सौभाग्य है कि संस्कृत भाषा का देश भर में कही विरोध नहीं है। विरोध स्वाभाविक भी नहीं है क्योंकि सभी भाषओं की जननी वहीं हैं।

वेदिक धर्म में यम-नियम, विश्‍व-बन्धुत्व, क्षमा, दया, दान, परोपकार, अनासक्त कर्म (त्यक्तेन भुञ्जीथाः), त्याग तथा तत्सदृश गुण सार्वभौम धर्म स्वीकार किये गये हैं। अहिंया, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह-यम कहे जाते हैं। शौच, सग्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्राणिधान-नियम कहे जाते हैं। वैदिक धर्म के प्रत्येक शाखा में इन सार्वभौम धर्मो को अत्यधिक महत्व दिया गया है। इन धर्मों के पालन से विश्‍वशान्ति तथा बन्धुत्व की भावना स्थापित होती है। इनमें कहीं विरोध की सम्भावना नहीं हैं। इन्हीं धर्मों के बल पर वैदिक धर्म महान रहा है और भविष्य में भी इन्हीं के आचरण से ही उन्नति की आशा की जा सकती है। यह वैदिक धर्म के मूलभूत सिद्धान्त है। यही विशिष्ट धर्म की संरचना के हेतु स्तम्भ स्वरूप है। बहुत से सम्प्रदायों ने इन्हीं सार्वभौम धर्मो में से एक-दो को अपना स्तम्भ स्वीकार किया है। वैदिक धर्म ने अपनी सुद्‌दृढ़ संरचना हेतु समस्त सार्वभौम धर्मो को आधार स्तम्भ स्वीकार किया है। वैदिक धर्म का पालन, इसी कारण से कठिन लगता है। किग्तु पूर्ण फल के लिये

सम्यक् प्रयास अपेक्षित है। देध-काल अनन्त है, अतः अवकाश या समय की कमी नहीं हैं। पूर्णता के लिये प्रयास करना ही श्रेयस्कर है। श्रेय मार्ग के लिये वैदिक धर्म ही वरणीय है।

इस संसार में चार पुरूषार्थ हैं- धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। इनकी प्राप्ति के लिये विशेष धर्म का पालन आवश्यक है। सार्वभौम धर्म और विशेष धर्म एक दूसरे के पूरक हैं। अकारण तो मूर्ख भी कोई चेष्टा नहीं करता है। विशेष धर्म के न होने पर सार्वभौग धर्म का भी अस्तित्व नहीं रहेगा। पुरूषार्थों में मोक्ष चरम स्थान रखता है। इसलिए निःश्रेयस् की प्राप्ति के लिए सार्वभीम धर्म के आचरण पर आरूढ़ होना अनिवार्य है। अर्थ, काम की उपासना करने वाला भी वैदिक धर्मावलत्बी है। किन्तु उसका अग्रिम उद्देश्य धर्म व मोक्ष भी होना आवश्यक है। जिसके लिये अर्थ, काम ही सर्वस्व है वह वैदिक धर्म को नहीं जानता है। पुरूषाथों की कमशः सिद्धि तथा अन्तमें निःश्रेयस् की प्राप्ति के लिये प्रयास करना यह वैदिक धर्म की मान्यता है। यह मान्यता भी एक स्तम्भ है।

पुरूषार्थों की सिद्धि के लिये ही वैदिक धर्म में वर्ण और आश्रम व्यवस्था बनाई गयी है। यह व्यवस्था इस धर्म की मेरूदण्ड है। चार वर्ण और चार आश्रम में समस्त मानव जाति की समस्त कियायें समाहित हैं। गुण, कर्म एवं स्वभाव कें अनुसार स्वधर्म का पालन करते हुए व्यक्ति आगे बढ़ता है। वर्णाश्रम व्यवस्था स्वधर्म के निर्धारण की वैज्ञानिक विधि है। स्वधर्म को न जानने वाला दिग्भ्रान्त तथा सदैव असफल रहता है। सबके धर्म (कार्य) विभिन्न हैं। स्वधर्म ही वास्तविक धर्म है। परधर्म भयदायक तथा निरर्थक होता है। अतः स्वधर्म का निर्धारण करना इस व्यवस्या का प्राथमिक उद्देश्य है। वैदिक धर्म में इस उद्देश्य की पूतिं करने के करण वर्णाश्रम व्यवस्या इस धर्म का मूल स्तम्भ है। इस व्यवस्था की धुरी ब्राह्मण है। इसीलिये वैदिक धर्म को ब्राह्मण धर्म भी कहते हैं। ब्राह्मण (वास्तविक अर्थ में) कें प्रतिष्ठत होने पर वैदिक धर्म प्रतिष्ठित रहता है।

वेद शब्द का अर्थ ज्ञान है। ज्ञान का प्रत्यक्ष ऋषियों को होता है। उनके अनुभव, उनकी वाणी तथा उन्हीं की परम्पराओं को वैदिक धर्म स्वीकार करता है। प्रत्यक्ष से सम्बद्ध होने के कारण इसमें अन्धविश्वास और मिथ्याचार के लिए स्थान नहीं है। ब्राह्मण ही धर्म का व्यवस्थापक होता है। वह ज्ञानी होता है। स्वाध्याय से ज्ञान तथा तप से शक्ति प्राप्त करके ब्राह्मण दोनों का प्रयोग यज्ञ में करता है। यज्ञ से लोक-कल्याण होता है। ज्ञान की प्राथमिकता के कारण वैदिक धर्म में दूसरे धर्मों से भी गुणों को ग्रहण करने की भावना रही है। गुण-ग्राहकता के लिये सहिष्णुता आवश्य गुण है। वह भी वैदिक धर्म में है। सहिष्णुता तथा गुण ग्राहकता के कारण ही वैदिक धर्म नित्य नवीन हैं। देश,

काल के प्रभाव से यह धर्म पराभूत नहीं हो सकता है। इमर्सन, शापेनहावर, मैक्समूलर, यालब्रण्टन आदि विदेशियों ने भी इस धर्म के ज्ञानकाण्ड की भूयो-भयो प्रशंसा की है। जब तक मनुष्य में ज्ञान के प्रति आदर तथा विवेकजन्य मूल्य-बोध है तब तक यह धर्म अमर है। योग, ध्यान तथा समाधि के द्वारा मानव-जीवन के रहस्य को समझना सर्वोपरि उपलब्धि है। यह उपलब्धि वैदिक धर्म में ही सम्भव है। सहिष्णुता, गुण-ग्राहकता तथा ज्ञान के आधरभूत स्तम्भों पर प्रतिष्ठित वैदिक धर्म ही मानव-जाति के सर्वङ्गीण विकास का मार्ग है। यह मानना उचित है।

वैदिक धर्म समता के सिद्धान्त का पोषक है। व्यवहार में असमानता तात्कालिक उद्देश्य से मान्य है। परमार्थतः सभी प्राणी समान है। यह तात्विक दृष्टि है। यही दृष्टि वेद की है। तात्विक दृष्टि तथा व्यवहार दोनों का समन्वय करना ही वैदिक धर्म की विशेषता है। वैदिक धर्म में नारी को जो स्थान दिया गया है, विश्व के किसी धर्म में नहीं है। ''यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः'' यह मनु का वाक्य है। मनुस्मृति के प्रति आजकल भ्रान्तियाँ हैं। भ्रान्ति - अज्ञान से ही आती है। ज्ञान स्वाध्याय तथा सत्संग से होता है। प्रयास किया जाय तो मनु अब भी प्रासंगिक है, यह समझ में आ सकता है। नारी का सम्मान, सामाजिक व्यवस्था के लिये कितना आवश्यक है, मनु पहले ही लिख चुक हैं। लोग अब बाध्यतावश, इसका अनुभव कर रहे हैं। इसी तरह सामा-जिक और वैयक्तिक आचरण के लिये जितने नियम आवश्यक है, सबका निरूपण मनु-स्मृति में मिलेगा। मनुस्मृति में जो संशोधन आवश्यक है वह परशर स्मृति आदि में कर दिया गया है। इन स्मृतियों में वैदिक धर्म का व्यावहारिक पक्ष सुस्पष्ट है। यह स्मृतियां व्यवहार के लिये माप दण्ड स्थापित करती है। वैदिक धर्म के लिये यह आचार सहिता भी प्रमुख आधार है।

प्रकृति अपना संस्कार अनवरत करती रहती है। दिन-रात, पक्ष-मास, ऋतु तथा सम्बत्सर के माध्यम से प्रकृति के संस्कार होते रहते हैं। फिर भी पंचभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) को मनुष्य प्रदूषित कर देता है। इस प्रदूषण के बचाने के लिये वैदिक धर्म में विधान बनाये गये हैं। यज्ञ के धुएँ से आकाश तक को प्रदूषण-रहित बनाना इसी धर्म की विशेषता है। यह तो प्रकृति से सम्बन्धित संस्कार है। मनुष्य के लिये गर्भ से लेकर मृत्यु के उपरान्त तक के लिये संस्कारों का विचार है। सन्ध्या, पंचयज्ञ दैनिक संस्कार है। पर्व और ऋतु से सम्बद्ध संस्कार तथा सामयिक सोलह या चालीय संस्कारों का भी विधान है। इस संस्कारों से लौकिक तथा पारलौकिक दोनों तरह की उपलब्वियाँ होती हैं। इतने वैज्ञानिक संस्कार अन्य धर्मों में नहीं है। वैदिक धर्माविलम्बियों के लिये यह संस्कार सोपान के समान आधार प्रदान करते हैं।

वाह्याचार के रूप में वैदिक धर्म के प्रसिद्ध विधानों मे व्रत, पर्व, तीर्थ, देवालय तथा दान का स्थान है। शिखा-सूत्र का वारणा करना संस्कार और व्रत का ही अंग है। पर्व के कारण धर्म सदैव जाग्रत रहता है। तीर्थ और देवालय पुण्य के साधन हैं। इन स्थानों पर धर्मिक ज्ञान तथा मन को शान्ति मिलती हैं। पर्वों पर तथा तीर्थ व देवा-लयों में दान का महत्व स्थापित किया गया है। इन सबको मिलाकर एक सुद्दढ़ सामाजिक संरचना हो जाती है जो विधर्मियों द्वारा अभेद्य है। इन विघानों से कर्म के प्रति श्रद्धा होती है। श्रद्धा से ही विश्वास होता है। विश्वास ही धर्म का प्राण है। धर्म के स्तम्भभूत वाह्याचारों का भी वैदिक धर्म में उचित स्थान हैं।

वैदिक धर्म की कुछ मान्यतायें अत्यन्त गूढ़ है। पुनर्जन्म तथा कर्मवाद के सिद्धांत इस धर्म की प्रमुख विशिष्टतायें हैं। यह सिद्धान्त जीवन व जगत के प्रति तथा देश व काल के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण प्रदान करते है। यह स्वभाव तथा आचरण दोनों को प्रभावित करते हैं। आध्यात्मिक जीवन की ओर उन्मुख होने के लिये यह दोनों मान्यतायें प्रेरित करती हैं। इन मान्यताओं की तरह ही तीन ऋण (ऋषि, देव ऋृण, पितृ ऋण) तथा श्राद्ध कर्म की व्यवस्था भी गूढ़ है। तीन ऋणों से मुक्ति के लिये नित्य तथा विशेष अवसर पर कर्मों का विधान हैं। बिना उऋण हुये व्यक्ति आध्यात्मिक जगत का अधिकारी नहीं होता है। इसी तरह श्राद्ध कर्म का विधान भी अनिवार्य है।इससे सांसारिक उपलब्धियाँ मिलती है तथा आमुष्मिक लाभ के लिये पात्रता प्राप्त होती है। पूनर्जन्मवाद, कर्मवाद, त्रिऋण तथा श्राद्ध इन चारों को स्वीकार करने के लिये धर्म में विश्वास की आवश्यकता है। यह गूढ़ रहस्य है। अनुभव के द्वारा यह सिद्ध है, किन्तु तर्क से नहीं समझा जा सकते है। यह वैदिक धर्म कें गूढ. स्तम्भ है।

स्कन्द पुराण में पृथ्वी को धारण करने के लिये सात विभूतियों को गिनाया गया है। यही सातो वैदिक धर्म के स्तम्भ के रूप में भी स्वीकार किये जा सकते है। लिखा है-

गोभिर्विप्रैश्चवेदैश्च सतीभिः संत्यवादिभिः।
अलुब्धैः दानशीनलैश्च सप्तभिर्वायते मही।।

इन सातों में से गो, विप्र वेद और दान चार तो यज्ञ से सम्बन्धित है। सत्य, सतीत्व और निर्लोभत्व यह बहुत श्लाध्य गुण हैं। यज्ञ और सत्व गुण की उपासना वैदिक धर्म के स्तम्भ हैं यह प्रतिपादिता होता है।

इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था, वाह्याचार, भाषा, साहित्य तथा आध्यात्मिक गूढ.मान्यताओं की दृष्टि से वैदिक धर्म के आधरभूत तथ्यों और सिद्धान्तों का विवेचन प्रस्तुत किया गया। जीवन की सर्वाङ्गीण साथंकता के लिये सम्पूर्ण बातों को सविस्तार स्वीकार करना पड़ेगा। कुछ अंशो को स्वीकार करते हुए

वैदिक धर्म में श्रद्धा रखना भी उत्तरोत्तर प्रगति में सहायक हो सकता है। ईश्वर ने प्रत्येक देश के लिए उसके अनुकूल धर्म दिया है। भारतवर्ष कं लिये अनुकूल वैदिक धर्म ही है। इसे जानना और आचरण करना ही बुद्धिसम्मत है। इसके सार्वभौम सिद्धान्तों का प्रचार करना लोक-कल्याण है।

जाति व्यवस्था की प्रासंगिकता

ऋषि-प्रवर पतंजलि ने योग-सूत्र में प्रतिपादित किया है ' सतिमूलेतद्विपाकोजात्यायुर्भोगाः''। कर्माशयरूप मूल के कारण जाति, आयु और भोग प्राप्त होते हैं। अनन्त जन्मों के कर्मों का संस्कार लिये हुए जीव उद्भिज, स्वेदज, अण्डज और जरारयुग चार कोटि में से किसी योनि को प्राप्त करके विशेष अविधि तक भोगों को भोगता है। उत्पन्न होना (जाति) प्रकृति के अधीन (परवश) है। जीव की उपर्युक्त चार जातियाँ अत्यन्त स्थूल कोटि की है। जातियों में अनेक उपजातियाँ हैं। मनूष्य भी एक उपजाति है। सृष्टि की सर्वोत्कृष्ट रचना होने के कारण मनुष्य जाति अत्यन्त महत्वपूर्ण है। मनुष्य भी प्रत्यक्षतः कई उप जातियों में विभाजित देखा जाता है। काले, गोरे, पीले तथा मिश्रित जाति के मनुष्य देशकाल के अनुसार उत्पन्न होते हैं। उत्पत्ति के विषय में भी मनुष्य परवश है। राष्ट्रीयता तथा घर्म के आधार पर भी मनुष्य की जाति होती है। जाति का अन्तिम विभाजन वंश तथा व्यक्ति विशेष (माता-पिता) के आधार पर होता है। यहाँ तक जायमान की परवशता है। मुक्ति पर्यन्त जीव को जन्म लेना ही पड़ेगा और दैवाधीन जाति को प्राप्त करना पड़ेगा। ठीक कहा है—''दैवाधीनं कुले जन्म, मदायत्तं तु पौरूषम्''। दैवाधीन को स्वीकार करते हुए पौरूष से भविष्य को बनाना मनुष्य जैसे बुद्धि सम्पन्न जीव का धर्म है। भविष्य का ही निर्माण मनुष्य के वश में है, भूत का नहीं। जाति भूत पर आश्रित है अतः उसके विषय में सोचना मूर्खता है। पूर्व जन्म के प्रभाव से योगभ्रष्ट आत्मायें वैसा ही वातावरण पुनः पाती है। ''शुचीनां श्रीमतां गेहेयोगभ्रष्टोऽभिजायते'' यह गीता की मान्यता है। भविष्य को बनाना स्ववश है। जाति ही सब कुछ नहीं है गुण और कर्मपुरूषार्थ से साध्य है। पुरूषार्थ के द्वारा भविष्य में अनुकूल जाति प्राप्त करना सम्भव है। वर्तमान जाति पूर्व जन्मों के पूरूषार्थ का फल है अतः यह परवश है। जाति अनिर्वचनीय प्रकृति की देन है। ''या देवी सर्वभूतेष जातिरूपेण संस्थिता'' ऐसी मान्यता है। इसकी प्रासंगिकता के विषय में शंका करना निष्फल प्रयास -है। सूर्य तो रहेगा ही, उसकी प्रासंगिकता पर विचार नहीं हो सकता। हाँ अधिक धूप है तो छाते ही व्यवस्था सार्थक है। व्यवस्था मानवीय बुद्धि से भी होती है। अतः जाति व्यवस्था पर विचार करना प्रासंगिक है। सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक तथा राजनैतिक दृष्टियों से इस विषय पर विचार करना उपादेय है।

जाति व्यवस्था भारतीय संस्कृति की एक विशिष्टता है। इस व्यवस्था की चार बाध्यतायें हैं- व्यवसाय, कर्मकाण्ड, स्थान विशेष (स्टेटस) तथा विवाह। जन्म ग्रहण करते ही इन चारों की एक सीमा बन जाती है, जिसके बाहर जाना सम्भव नहीं है। आजकल इन बाध्यताओं में से चौथी (विवाह) ही प्रभावी रह गयी है। अन्य शिथिल है। विचारकों ने यह पाया है कि प्रत्येक राष्ट्र व संस्कृति की अपनी विशिष्ट मनोवृत्ति होती है। डा. राधा कृष्णन ने भी इसे स्वीकार किया है। इसी मनोवृत्ति का फल है जाति-व्यवस्था जो सर्वांगीण रूप से केवल भारतवर्ष में हैं। जाति व्यवस्था को भारत में शास्त्रीय व धार्मिक दृष्टिकोण से अपनाया गया है, किन्तु इसका सामाजिक पहलू भी कम महत्वूपर्ण नहीं है। इसके सामाजिक पहलू से आकृष्ट होकर बहुत से गुणग्राही विदेशी विद्वानों ने इसके अध्ययन में श्रम किया। फ्रांसीसी विद्वान एल. डुमा ने बड़ा ही शास्त्रीय विवेचन किया है। हटन ने यह स्वीकारकिया है कि जाति व्यवस्था भारतवर्ष के धरती की विशिष्टता है, यहां की एक विशिष्ट मनोवृत्ति हैं। धरती की विशिष्टता के कारण ही यहां पर आकर रहने वाले अन्य संस्कृतियों के लोग मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि भी जाति व्यवस्था के कुछ अंशों को अपना लिये। यह हटन महोदय की खोज है जो प्रत्यक्षतः मान्य लगती है। सिडनी लो, आवेटुबोआ आदि विद्वानों ने यह स्वीकार किया कि जाति-व्यवस्था ही एक मात्र कारण है जिससे भारतीय संस्कृति, अनेको विप्लवों के बावजूद, अब तक स्थिर है। हम भारतीयों ने इस विषय पर वर्तमान समय में, केवल राजनैतिक दृष्टिकोण से विचार किया। लेकिन विदेशी विचारकों के लिए जाति व्यवस्था एक गम्भीर अध्ययन का विषय है। यह भारतीय सामाजिक एवं सांस्कृकित व्यवस्था के मेरूदण्ड के रूप में मान्य है।

सामाजिक संरचना दो तरह की होती है।- क्षैतिज व उर्ध्वरेखीय। पाश्चातय देशों में (एजाइल सोसायटी) क्षैतिज व्यवस्था है। पाश्चात्य के अनुकरण में अन्यत्र भी उसी के लिए प्रयास हो रहे हैं। इस व्यवस्था में कोई भी व्यक्ति किसी व्यवसाय, पद या प्रतिष्ठा का अधिकारी हो सकता है। द्वितीय कोटि की व्यवस्था में, सामाजिक बन्धनों तथा जाति वंश के कारण व्यवसाय, पद, विवाह आदि पर प्रतिबन्ध होता है। यह व्यवस्था परम्परा और रूढ़ियों को भी प्रश्रय देती है। इन दोनों व्यवस्थाओं में गुण-अवगुण दोनों है। एक में वर्ग बनता है दूसरी में जाति। वर्ग-संघर्ष, जाति संघर्ष से भी भयानक है। वर्गों का हित एक दूसरे के विपरीत होता है, जबकि जातियों का हित एक दूसरे का पूरक। भारतवर्ष में दोनों व्यवस्थाओं में ही संघर्ष चल रहा है। फलतः राजनैतिक दृष्टि से उलटी व्यवस्था (रिवर्स हाइराकीं की) मान्य है तथा जाति व वर्ग (कास्ट व क्लास) के मिश्रण से जातिवर्ग (क्लास्ट) की उत्पत्ति हो रही है। जाति संघर्ष

स्वाभाविक नहीं है, यह बाह्य प्रयास से होता है। वर्ग-संघर्ष स्वाभाविक है। जाति वर्ग का अन्तः संघर्ष बड़ा ही स्वाभाविक है, जिसे रोकने के लिये दो में से एक का विलय आवश्यक है। प्रबल ही बचेगा निर्बल का विलय होगा किन्तु संक्रमण काल का कष्ट अवश्यम्भावी है। जैसा ऊपर माना गया है कि जाति व्यवस्था यहां स्वाभाविक है और सर्वविदित है-''स्वभावो दुरतिक्रमः'', अतः प्रबल होने के कारण, जाति व्यवस्था वर्गों को अपने में क्लिीन कर सकती है। यह एक आकलन है।

जाति व्यवस्था के साथ वर्ण व्यवस्था का अध्ययन परमावश्यक है, क्योंकि जाति व्यवस्था अपने आप में पूर्ण नहीं है। सामाजिक रचना के लिये वर्ण व्यवस्था ही आवश्यक तत्व है और इसी तत्व की पूर्ति के लिये जाति व्यवस्था है। भारतीय संस्कृति में जातियां 3000 से अधिक हैं किन्तु वर्ण चार ही है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। सत् रज, तम तीन गुण हैं। प्रकृति के इन्हीं तीन गुणों के आधार पर ब्राम्हण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ण है। किसी भी गुण के प्रतिष्ठित न होने पर, किन्तु सामाजिक अंग होने के कारण चतुर्थ वर्ण शूद्र है। यह वर्ण निर्धारण स्वाभाविक है। प्लेटो आदि विचारकों ने भी इस स्वीकार किया है। स्वभाव पर ही बल देते हुए गीता में कहा हैः-

ब्राम्हण क्षत्रिय विशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणिप्रविभक्तानि स्वभाव प्रभवैर्गुणैः।।

इसका स्पष्ट अर्थ है कि स्वभाव मूल है, गुण उससे पैदा होते हैं तथा कर्म गुण के अनुसार होते हैं। पुनः गीता में है-''चातुवर्ण्य मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः''। यहाँ भी वर्ण व्यवस्था के ईश्वरकृत होने, उसके लिए गुणाधारित कर्मों का विभाग होने की बात स्पष्ट है। विराट पुरूष के मुख,बाहु, उदर, पैर क्रमशः ब्राम्हण, क्षत्रिय , वैश्य, शूद्र है। वेद की वाणी है-

ब्राम्हणोऽस्य मुखामासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरूतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।।

यहां भी प्रतीकात्मक रूप से गुण-कर्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था को अनादि माना गया है। यह निर्विवाद है कि वर्ण व्यवस्था समाज के लिये स्वाभाविक रूप से हितकर है, अतः मान्य है। अब यह विषय विचारणीय है कि वर्ण व्यवस्था के लिए जाति व्यवस्था की क्या उपयोगिता है?

पदार्थ विज्ञान में जाति और गुण शत-प्रतिशत निश्चित सम्बन्ध रखते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश अपने गुणों को कभी नहीं छोड़ते हैं। इन्हीं के मिश्रण से बने अनेक भौतिक पदार्थ में गुण-विशिष्ट होते हैं। मनुष्य शुद्ध भौतिक पदार्थ नहीं है। इसमें वुद्धि तत्व का एक विशेष स्थान है। अतः मनुष्य में जाति और गुण का शत-प्रतिशत सम्बन्ध नहीं है। इसीलिये केवल

जाति को गुण और कर्म का नियामक नहीं माना जा सकता है। हमारे शास्त्रों ने भी जातिमात्र से प्राप्त किसी पद या अधिकार की निन्दा किया है। लेकिन इसके बावजूद भी जाति को वर्ण-निर्धारण में प्रमुख तत्व माना गया है। इसका कारण हैं। जाति से गुणों की सम्भावना बहुत प्रबल है। सम्भवना दो कारणों से होती है, एक पुनर्जन्म के सिद्धन्त से दूसरा आनुवंशिकी प्रभाव से।पुनर्जन्म के विषय में तथा जाति के विषय में जीव की विवशता को लेकर पहले ही प्रतिपादन किया है। इसमें शास्त्र तथा आधुनिक अन्वेषण भी प्रमाण हैं। अनुवंशिकी प्रभाव वैज्ञानिक ढंग से सिद्ध किया गया है। सामाजीकरण का प्रभाव अस्थाई होता है तथा पचास प्रतिशत ही स्वीकार्य है। पचार प्रतिशत आनुवंशिकी प्रभाव होता है तथा उपयुक्त सामाजिक परिवेश में शत-प्रतिशत विकसित होता है। अतः जाति और गुण का सम्बन्ध मनुष्य के लिये भी स्वीकार्य है। धनी-गरीब, मूर्ख-विद्वान, सात्विक, राजस, तामस आदि भेद जन्मजात है, यह ज्योतिष शास्त्र भी प्रतिपादित करता है। गुण के कारण ही वर्ण-निर्धारण होता है और गुण के निर्धारण में जाति सहायक है। अतः जाति को वर्ण-निर्धारण का तत्व मानना उचित है। इस सिद्धान्त में विचलन भी देखे जाते हैं, किन्तु विचलन से सामान्य सिद्धान्त नहीं बदलते हैं। उन विचलनों के लिये विशेष व्यवस्था देनी पड़ती है। जाति-व्यवस्था में विचलनों के लिये शास्त्रों में व्यवस्था स्पष्ट रूप से से दी गयी हैं।

देखें-

विद्यातपश्चयोनिश्च एतद्ब्राम्हण कारणम्।
विद्यातपोभ्यां यो हीनः जातिब्राम्हण एव सः

जाति ब्राम्हण निन्दनीय है। इस विषय में शास्त्रीय व्यवस्थायें ही मान्य है। विचलनों को दृष्टि में रखते हुए यह निर्विवाद है कि केवल जाति को ही वर्ण मानना संगत नहीं है। भारतीय समाज में इस समय यह विसंगति है, जिसका निराकरण राजनीतिक सहयोग से सम्भव है।

वर्ण व्यवस्था के लिये सत, रज और तम गुणों के अलावा पुरूषार्थों का स्थान भी महत्पूर्ण है। गुण स्वाभाविक होते है। पुरूषार्थ स्वाभाविक क्षमता के आधार पर इस जन्म की उपलब्धि है। पुरूषार्थ चार है।-काम, अर्थ, धर्म, मोक्ष। मोक्ष का उपासक ब्राम्हण है। वह निष्काम (परमार्थ) लोकसंग्रह करता है। धर्म का उपासक क्षत्रिय है। वह लोकसंग्रह की कामना से धर्म का सेवन करता है। अर्थ का उपासक वैश्य है। वह धर्म के निमित्त अर्थ का अर्जन करता है। काम का उपासक शूद्र है। वह अर्थ का विनियोग काम के लिए करता है। यद्यपि व्यवहार में मिश्रण दिखाई देता है, किन्तु मूल उद्देश्य का प्रत्यक्ष सर्वदा सम्भव है। इस दृष्टि से हम क्या हैं, इसका आकलन हम सभी कर सकते हैं।

जो वर्ण अभीष्ट हो उसके अनुसार पुरूषार्थ का चयन और तदनुसार ही आचरण अभीष्ट है। गीता में भी इसी अनुसार कर्म-विभाजन है। जाति के स्वाभाविक गुणों के कारण पुरूषार्थ के चयन में सरलता रहती है तथा सिद्धि की सम्भावना भी अधिक रहती है। इस दृष्टि से भी जाति का महत्व है। विशिष्ट योग्यता (स्पेशलाइजेशन) के इस युग में जाति का महत्व और बढ़ गया है।

वर्ण निर्धारण में गुण, कर्म, जाति, स्वभाव यह चार तत्व विचार-दृष्टि में आते हैं। गीता में 'गुण कर्म विभागशः' वर्ण व्यवस्था एक जगह है, तो दूसरी जगह 'कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुम्णैः' भी है। अन्यत्र 'विद्या तपश्च योनिश्च एतद्ब्राम्हण कारणम्' से जाति भी वर्ण निर्धारक है। स्वभाव से सम्बद्ध होने के कारण भी जाति की मान्यता है। इन चार तथ्यों में से गुण और कर्म चर कोटि के हैं। स्वभाव और जाति स्थिर कोटि के हैं। स्वभाव सूक्ष्म तत्व है जिसका आकलन कठिन है। अतः जाति ही एक स्पष्ट और स्थिर तत्व बचता है, जिससे वर्ण व्यवस्था में सहायता ली जा सकती है। सभी तत्वों पर समान बल देने पर अनवस्था दोष आता है। इस दृष्टि से भी वर्ण व्यवस्था में जाति का प्रमुख स्थान है।

दार्शनिक दृष्टि से जाति का कोई महत्व नहीं है। अद्वैत और सर्वात्मभाव में जाति सम्भव नहीं है। गौड़पादाचार्य ने अजातिवाद के सिद्धान्त से सृष्टि को ही नकार दिया है। किन्तु यह दृष्टि व्यवहारिक नहीं है। सृष्टि के चिन्तन में व्यावहारिक दृष्टि अपेक्षित है। आरम्भ में एक ही जाति 'हंस' थी। धर्म ग्रंथों से पता चलता है कि जब एक जाति थी, तो धर्म के द्वारा ऋषियों का शासन चलता था। राजा और दण्ड की आवश्यकता नहीं थी। पुरूषार्थों का भी बाहुल्य नहीं था। उस समय सभी ब्राम्हण थे। अगर इस समय भी एक ही जाति बनाना हो तो सभी शूद्र हो जायेंगे, क्योंकि सबका ब्राम्हण बनना असम्भव है। यह समाज के लिये परम अहितकर होगा। अतः वर्ण व्यवस्था के अनुसार अनेक जाति ही श्रेयस्कर है। विश्व में अल्प मात्रा में भी ब्राम्हण रह जायँ तो भी समाज के लिए हितकर है। उनके सर्वथा अभाव से तमाक्रान्त सृष्टि का ही नाश हो जायेगा। धार्मिक और शास्त्रीय दृष्टि से वर्ण व्यवस्था और जाति-व्यवस्था के विषय में बहुत लिखना भी अपर्याप्त है। इस विषय में स्मृति, पुराण, धर्मग्रंथ, इतिहास, तथा अर्वाचीन ग्रंथों का भण्डार उपलब्ध है। सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति इन्हीं ग्रंथों और मान्यताओं पर आधारित है। आधारशिला तुल्य इन शास्त्रों को अमान्य करते ही सारी संस्कृति का महल धराशायी हो जायेगा। ईश्वर या ऋषि कल्प मनुष्य ही इस विषय में कुशलता से हस्तक्षेप कर सकता है। वैज्ञानिक विधि से खोजने पर शास्त्रीय सिद्धान्त कहीं गलत नहीं पाये गये। अतः इन्हें स्वीकार करना बुद्धिसम्मत लगता है।

सामाजिक दृष्टि से देखना आवश्यक हैं। जाति व्यवस्था सामाजशास्त्रियों द्वारा मान्यता प्राप्त है। जैसा पहले लिखा जा चुका है, दो तरह की समाजिक व्यवस्थाओं में यह एक है। इसके आधार पर उर्ध्वरेखीय समाज की रचना होती है। कोई भी व्यवस्था अपने आप में पूर्ण नहीं होती है। गुण-अवगुण सभी में होते है। देश काल के अनुसार उपयुक्त होना ही उपादेयता का प्रमाण है। भारतीय मानसिकता के लिए किस तरह का समाज अनुकूल है, यह शोध का विषय नहीं है। क्योंकि कितना भी शोध करें कोई व्यवस्था यहां लादी नहीं जा सकती है। जो स्वाभाविक है,वही रहेगी। जो अव्यवस्था दिखाई पड़ रही है वह सामाजिक शिथिलता तथा वाह्य प्रभाव से संघर्ष के कारण है। सामाजिक चेतना के विकास व वाह्य प्रभाव के शैथिल्य से हमारी वर्तमान व्यवस्था ही हितकारिणी सिद्ध होगी। हमारी संस्कृति, संस्कार, संस्थायें तथा व्यवस्थायें विदेशियों के लिये भी आकर्षण एवं प्रशंसा के विषय है। हम इसका अवमूल्यन स्वयं करें तो हमारी महान भूल है। सामाजिक संगठन के लिए वर्ण और जाति व्यवस्था से अधिक उपयोगी कोई अन्य व्यवस्था नही है। समाज की सुख समृद्धि के साथ व्यक्ति की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि का अवसर इस व्यवस्था में मिलता है। जो स्थान ब्राम्हण को मिल सकता है वही स्थान शूद्र को भी सुलभ है। सत्यकाम जाबालि, विश्वामित्र, तुकाराम, रविदास, नानक, कबीर, गाँधी आदि को किस ब्राम्हण से कम सम्मान मिला? इस व्यवस्था में गुणों का प्रकाशित होना स्वाभाविक है। इसी व्यवस्था में भारत के इतिहास में अनेक स्वर्ण युग आये। आत्मविश्वास की कमी और पराधीनता की मनोवृत्ति के कारण अब इसमें दोष दिखायी पड़ने लगे, यह ठीक नहीं है। जब जाति और वर्ग के संघर्षो से समाज को मुक्ति मिलेगी तब पुनः वही व्यवस्था आयेगी। समाजशास्त्री अपनी जगह स्पष्ट हैं। शासन को उनकी राय माननी चाहिए। भारतीय समाज में वर्ण और जाति व्यवस्था अनिवार्य है।

राजनैतिक दृष्टि से जाति व्यवस्था पर विचार करते समय शासक, शासित (जनता), धरती (राज्य) तीनों को अलग-अलग देखना पड़ेगा। शासक जाति-धर्म की सीमा के परे रहता है। उसका सम्बन्ध न्याय से होता है, जिसके लिये शान्ति व्यवस्था स्थापित करना शासक का धर्म है। जहाँ कई धर्म और जातियां हैं, वहां शासक का निष्पक्ष रहना आवश्यक है। कर्तव्य भावना से, निर्भय होकर, न्याय की प्रतिष्ठा ही शासक का परम धर्म है। जनता और धरती, जाति और धर्म से सम्बद्ध होते हैं। इन्हीं के ऊपर शासन किया जाता है। जहाँ जाति और धर्म समाज की संजीवनी शक्ति हैं, इन्हें मिटाने वाला शासक स्वदेशी नहीं कहा जा सकता है, वहाँ शासक को जाति तथा धर्म की प्रतिष्ठा का उपाय करना चाहिए। अपने देश में वर्तमान समय में जाति व्यवस्था

को समाप्त करने का प्रयास किया जा रहा है, किन्तु जातिवाद को पूर्ण प्रोत्साहन मिल रहा है। यह विपरीत स्थिति है, जिसके लिये राजनीति ही जिम्मेदार है। इस समस्या का नग्नरूप सभी देख रहे हैं, अतः विशष विवेचन की आवश्यकता नहीं है। अस्पपृश्यता, जातिसंघर्ष आदि समस्यायें वास्तव में सामाजिक नहीं है। इसका मूल राजनीति की गन्दी नाली में है। अगर राजनीति सही दिशा में जाना चाहे, तो उसे भारतीय संस्कृति के अनुरूप, यहां की धरती की मनोवृत्ति के अनुकूल, जनता की आकाक्षांओ को पूर्ण करना चाहिए। राजनैतिक लोग निष्पक्ष, निर्लोभ और निर्भय रहें तो वे अवश्य ही जाति-व्यवस्था को स्थापित एवं जातिवाद का मूलोच्छेद कर सकते हैं। 'राजा कालस्य कारणम्' सिद्धन्त है। वर्तमान दुर्दशा के लिये शासन ही उत्तरदायी है। शासन के कारण समाज का प्रत्येक अंग विकृत हो गया है। शासन प्रबलतम शक्ति है। राजनीतिज्ञों से आशा की जा सकती है कि वे शासन को सुधारेंगे और भारतीय संस्कृति की रक्षा पूर्वक शान्ति और व्यवस्था स्थापित करेंगे। इसी प्रक्रिया में पुनः जाति व्यवस्था स्थापित हो सकती है। राजनैतिक दृष्टि से भी जाति-व्यवस्था प्रासंगिक है।

जाति व्यवस्था में विघटन के कारण इस समय वर्णसंकरत्व व्याप्त है। सामाजिक नियन्त्रण के अभाव में अब जाति-बहिष्कार सम्भव नहीं है। नई उप जातियां नहीं बन रही है, किन्तु संकरत्व बढ़ता जा रहा है। वर्ण संकरत्व विवाह तथा वृत्ति के संकरत्व से उत्पन्न होता है। यह वर्ण व्यवस्था के विरूद्ध है। गीता का मत है 'संकरो नरकायैव कुलध्नानांकुलस्य च। पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्त पिण्डोदकक्रियाः ।। क्या गीता आदि हमारे धर्म शास्त्र बेमानी हो गये हैं? नहीं; तो क्यों न माना जाय कि वर्तमान सामाजिक विप्लव और हमारी दीन-हीन दशा का कारण पितरों और देवताओं का कोप है, जो हमारे कृत्यों का फल है। गीता में कहा है 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मों भयावहः। स्वधर्म का निर्धारण जाति, वर्ण के ही आधार पर शास्त्रोक्त है। वैकल्पिक व्यवस्था की असम्भावना में सहज पूर्व व्यवस्था को प्रतिष्ठित रखना श्रेयस्कर है।

अपनी रक्षा के लिए हमें समाज के संगठन पर ध्यान देना होगा। सामाजिक संगठन के लिये संस्कृति और धर्म की रक्षा अनिवार्य है। धरती के विशिष्ट गुणों का आदर करना हमारी बुद्धिमानी है। इन सभी मूल्यों की उपलब्धियों के लिये जाति व्यवस्था प्रासंगिक है।

दैव और पुरूषार्थ

प्रस्तुत विषय जितना बहुचर्चित है उतना ही विवादास्पद भी है। दैव प्रबल है या पुरूषार्थ, इनमें से किसका आश्रय लेकर सुखी, निश्चिन्त और निर्भय बना जा सकता है, किसको स्वीकार करने में बनुष्य बुद्धिमान समझा जायेगा- ऐसे प्रश्न उठते हैं। जहाँ अर्थ और काम ही पुरूषार्थ (साध्य) हैं, वहाँ भाग्य पर विचार करना अनावश्यक है, किन्तु जहाँ धर्म और मोक्ष भी पुरूषार्थ माने जाते हैं वहाँ दैवायत्तता की सीमा का आकलन अनिवार्य है। दिष्ट और ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करने वाले को आस्तिक कहते हैं। हमारी संस्कृति में चारों पुरूषार्थ स्वीकार्य है तथा आस्तिकता इसका प्रधान गुण है। अतः यहाँ पर दैव और पुरूषार्थ की सीमाओं का सम्यक्-ज्ञान अत्यावश्यक है। फल-प्राप्ति में दैव तथा पुरूषार्थ दो करण है। निःश्रेयस की प्राप्ति के लिये, विषय का शास्त्र सम्मत तथा अनुभव व तर्क से सिद्ध ज्ञान प्राप्त करना उपादेय है। आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विचारों के माध्यम से पारमार्थिक सत्य की खोज में दैव और पुरूषार्थ दोनों की यथास्थान सहायता अपेक्षित है। ग्राम्य-लौकिक उपलब्धियों के लिये पुरूषार्थ मात्र ही पर विचार पर्याप्त है। आध्यात्मिकता तथा दार्शनिकता से अनुस्यूत हमारी संस्कृति के लिये दोनों प्रश्नों पर विचार एक अनिवार्यता है। व्यक्ति की ही तरह परिवार, जाति, देश, समुदाय, समाज, विश्व तथा ब्रम्हाण्ड भी चेतन इकाई है। इन इकाइयों के विषय में भी गूढ़ रूप से दैव और पुरूषार्थ से सम्बन्धित सिद्धान्त घटित होते हैं। व्यक्तियों के आधार पर ऊहन के द्वारा यह प्रक्रिया ज्ञातव्य है।

जीव के यावन्मात्र कर्म है, सबका कुछ न कुछ फल होता है। जिस कर्म का फल निर्धारित अवधि में तथा निर्धारित मात्रा में मिल जाता है पुरूषार्थ कहा जाता है। पुरूषार्थ इष्ट या अनिष्ट दो रूपों में प्रकट होता है। पुरूषार्थ के लिये इन्द्रियाँ (वाह्यकरण) तथा अन्तःकरण साधन है। पूर्वजन्म तथा इस जन्म के जिन कर्मों का फलोदय अपेक्षित समय या मात्रा में नहीं होता है, ऐसे कर्म भाग्य की श्रेणी में माने जाते हैं। यह निष्फल नहीं जाते है किन्तु काल का व्यवधान पड़ता है। यह काल निर्णय मनुष्य की बुद्धि से परे चला जाता है। इसका निर्णायक ईश्वर ही होता है। कर्म, भाग्य, दिष्ट, दैव, नियति आदि शब्द पर्यायवाची है जो ऊपर दिये गये अर्थ में घटित होते हैं। कर्म नहीं बल्कि कर्म का फल भाग्य है किन्तु सम्पृक्त होने के कारण कार्य को भी भाग्य कहते हैं। इसी तरह धर्म अर्थ, काम, मोक्ष रूपक पुरूषार्थों के लिये किये गये प्रयत्न

को भी पुरूषार्थ कहते हैं। भाग्य और संयोग (आकस्मिकता) दोनों में अत्यन्त भेद नही है। भाग्य नियोजित घटना है जबकि संयोग अनियोजित (अकारण) माना जाता है। सृष्टि का कर्ता अन्धीसृष्टि नहीं किये हैं। इस सृष्टि में ही वह अनुप्रविष्ट है। अतः कोई भी घटना अकारण नहीं होती है। अनियोजित भी भाग्य का ही फल है। दैवाधीन और ईश्वरादीन में अन्तर है। ईश्वराधीन व्यक्ति परमपुरूषार्थी होता है। वह अर्थ, काम के लिये ऐसा नहीं बनता है। अर्थ, काम के लिये ईश्वराधीन होना दैवाधीनता के तुल्य है। परमहंस रामकृष्ण ने कहा कि राजा से मित्रता करके कोई शाक-भाजी नहीं मॉगता। ईश्वराधीन होने पर उच्च पुरूषार्थ की कामना स्वाभाविक है। ईश्वराधीन होने पर दैव भी अनुकूल हो जाता है।

उपर्युक्त विवरण में स्पष्ट है कि भाग्य को समझने व मानने के लिये जननान्तर वाद, कर्मवाद, कार्य-कारण सम्बन्ध तथा ईश्वर (तज्जलान्) चारों को समझना व मानना पड़ेगा। हमारे दर्शनों में इन विषयों की विशद् चर्चा है। प्रमाणों से चारों की सिद्धि की गयी है। दर्शनशास्त्र के आधार पर चारों में विश्वास होने के उपरान्त भाग्य और पुरूषार्थ के सम्बन्ध तथा क्षेत्र को समझना सरल एवं उपयोगी होगा। दार्शनिक आधार के बिना शंकालु व्यक्ति निश्चय पर नहीं पहुँच सकता है।

किसी भी घटना के पीछे भाग्य तथा पुरूषार्थ में से एक कारण होता है। जब कर्म और फल का सम्बन्ध दृष्ट (प्रत्यक्ष) है तो पुरूषार्थ अन्यथा दैव ही कारण है। कर्म जड़ होता है अतःफल के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित करने वाला तत्व ईश्वर है। भगवान रमण ने कहा है :

कर्तुराज्ञया प्राप्यते फलम् ।
कर्म किं परं कर्म तज्जडम् ।।

बिना कारण के कार्य सम्भव नहीं है। अदृष्ट कारण होने पर पूर्वकृत कर्म को ही कारण मानना तर्क व शास्त्र से सम्मत है। जैसा कार्य होता है वैसा ही फल मिलता है। पूर्वजन्मों के भी कर्मों का फल वर्तमान में मिलता है। यह सब मान्यतायें सुस्थापित है। जाति, आयु और भोग पूर्वजन्मों की कर्मज-वासना के फल है - योगशास्त्र इसे स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है। अतः पुरूषार्थ और दैव में तात्विक अन्तर नहीं है। दोनों कर्म ही है। दृष्ट-अदृष्ट, स्वतन्त्र-परतन्त्र तथा कालक्रमी या कालक्रमावच्छिन्न होना ही अन्तर है। यह अन्तर प्रतिभासिक है। देशकाल के रहस्य को जानने वाला संयमी पुरूषदैव और पुरूषार्थ को समान रूप से देखता है।

कर्मों का विभाजन तीन श्रेणियों में किया जाता है - संचित, प्रारब्ध, क्रियमाण। पूर्वकृत कर्मों में जिनका फलोदय नहीं हुआ है वह संचित राशि में

है। अनन्त जन्मों की अनन्त संचित राशि जीव के साथ होती है। प्रारब्ध वह कर्म है जिसका फलोदय वर्तमान जीवन में आरम्भ हो गया है। इसी को मुख्य रूप से भाग्य कहते है। क्रिममाण कर्मसद्यः फल देगा या भविष्य में संचित अथवा प्रारब्ध बनेगा। बिना फल दिये कर्म क्षीण नहीं होता। भोगने के उपरान्त भी वासना छोड़ जाता है, जिससे उसी तरह के कर्म करने की प्रवृत्ति होती है। यह संस्कार कहा जाता है। मोक्षशास्त्र में संस्कारों के नाश की विधि बतायी गयी है। यहाँ का विषय नहीं है। कर्म के सिद्धान्त से ही भाग्य की व्याख्या सम्भव हैं। संचित राशि में जो अंशफलोन्मुख होता है वही प्रारब्ध है। प्रारब्ध ईश्वरेच्छा है। ईश्वर में वैषम्य आदि दोष नहीं है। न्याय, धर्म, ज्ञान आदि की पूर्ण प्रतिष्ठा ईश्वर में है। ईश्वरेच्छा अपरिहार्य है अतः प्रारब्ध भी दुर्निवार्य होता है। ईश्वर प्रणिधान एक विशिष्ट कर्म है जिसके द्वारा ईश्वर अपनी इच्छा में परिवर्तन स्वयं कर सकता है। यह जटिल विज्ञान है, जो चिन्तन से ही ज्ञेय है। संचित तथा क्रियमाण कर्मों का नियन्त्रण पुरूष के अधीन हो सकता है। शास्त्रीक्त उपाय, सदाचार तथा निष्काम कर्म के द्वारा संचित व क्रियमाण कर्मों के फलों से मुक्ति मिल सकती है। यह पुरूषार्थ साध्य है।

जीव के यावन्मात्र उपक्रम है सबके पीछे उद्देश्य हैं - भोग या मोक्ष। प्रकृति को भोगमोक्ष प्रदायिनी कहा गया है। प्रकृति या पराम्बा की इस योजना के बाहर कोई नहीं है। किसी योनि में भोग की बाध्यता है तो किसी में मोक्ष की प्रधानता है। कर्म दो प्रकार के होते हैं - परेच्छया या स्वेच्छया। इसी को प्राकृत या संस्कृत कर्म कहते है। परेच्छया किया हुआ कर्म भोग है तथा स्वेच्छया किया गया कर्म पुरूषार्थ है। 'स्वतन्त्रः कर्ता' माना गया है। स्वतन्त्र तथा परतन्त्र दोनों तरह से किये गये कर्मों का संस्कार बनता है, किन्तु फल उसी कार्य का मिलता है जिसमें कर्ता स्वतन्त्र हो। बाह्य इन्द्रियाँ अन्तः करण के अधीन होती है। अन्तःकरण के परतन्त्र होने पर इन्द्रियाँ दास की दासी होकर परतन्त्र ही रहती है। ऐसी स्थिति में कर्तापन का प्रश्न ही नहीं है। जब अन्तःकरण स्वतन्त्र होता है उसी समय कर्तापन या पुरूषार्थ की सम्भावना होती है। अन्त करण में बुद्धितत्व प्रधान है। बुद्धि के अधार पर ही स्वतन्त्रता मिलती है। मनुष्य योनि में बुद्धितत्व का प्राबल्य है। नीचे की योनियों में इसकी न्यूनता या शून्यता होती है। इसीलिये मनुष्य योनि की उत्कृष्टता हैं। अन्य योनियाँ (नीचे स्तर की) भोग योनियाँ है। कर्मयोनि मनुष्य की है। मनुष्य ही पुरूषार्थ करने में सक्षम है। मनुष्य की श्रेष्ठता के आकलन में उसके द्वारा उपास्य पुरूषार्थ के तरतम का आकलन आधार है। परम पुरूषार्थ का उपासक परमस्वतन्त्र श्रेष्ठतम व्यक्ति है। बुद्धि तत्वपक्षपातिनी होती है। अन्तःकरण के रागद्वेष से आवृत्त होने पर भी बुद्धि उचित-अनुचित का ज्ञान करा ही देती है।

उस ज्ञान का लाभ उठाना ही पुरूषार्थ है। मनुष्य योनि से लाभ की जितनी सम्भावना है उतनी ही सम्भावना हानि की भी है। भाग्य से ही जाति (योनि) मिलती है और पुरूषार्थ से उसकी सार्थकता होती है।

एक बार महर्षि रमण से किसी ने अपना भविष्य पूछा। उन्होंने बड़ी ही सरलता से बताया कि यह जानना बड़ा आसान है। जैसा वर्तमान है वैसा ही भविष्य होगा। तात्पर्य यह कि कर्मों के अनुसार संचित संस्कारों का आकर्षण होता हैं तथा तदनुरूप भविष्य बनता है। वर्तमान और भविष्य में जो सम्बन्ध है वही सम्बन्ध भूत और वर्तमान में है। तीनों में कर्म ही प्रधान है। और कर्म भाग्य भी है। ब्रम्हा, विष्णु और शिव अनादि देव माने जाते हैं। यह भूत, वर्तमान और भविष्य के प्रतीक भी है। भूतकाल के संचित कार्य अपरिहार्य है, यही ब्रम्हा की वाणी है। भूत की उपासना सम्भव नहीं है। अतः ब्रम्हा की पूजा नहीं होती उनका स्मरण होता है। वर्तमान अच्युत है, वहीं प्रारब्ध है। भविष्य में शिवत्व की कामना होती है। भूत के अनुभव और वर्तमान के कर्मों का अभीष्ट फल शिवत्व है। यह चरमोपलब्धि है। वर्तमान और भविष्य (विष्णु व शिव) उपास्य है। वेद की मान्यता है - 'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः । 'परिश्रान्त होने पर देवता भी मित्रता करते हैं तथा सहायता करते हैं। अतः कर्म के द्वारा देवताओं की मित्रता की प्राप्ति करना चाहिये। आत्मा बलहीन व्यक्ति के द्वारा प्राप्य नहीं है। पौरूष से निश्चय ही बल का प्रदर्शन होता है। अतः आत्मलाभ के लिये भी क्रतुमान होना पड़ेगा। मूल के सेवन से फल मिलते हैं। मूल और फल में संयोग का कारण तना है जो मूल पर ही आश्रित होता है। भाग्य तना के रूप में होता है। मूल कर्म ही है।

एक दूसरी विधा से भी इस विषय को समझा जाता है। जैसे रथ में दो पहिये होने पर ही गति सम्भव है उसी तरह पुरूष की गतिमत्ता या विकास के लिये भाग्य तथा पुरूषार्थ दोनों का संयोग आवश्यक है। प्रयत्न मात्र पुरूषार्थ है, सिद्धि तो प्रयत्न और भाग्य के अनुकूल होने पर ही मिलती है। समय की प्रतीक्षा करना भाग्यवाद नाम से निन्दनीय नहीं है। प्रतीक्षा तो पुरूषार्थी को भी करनी पड़ती है। फसल बोने के बाद अवधि की प्रतीक्षा किये बिना किसे फल मिलता है? पुरूषार्थ या भाग्य की आत्यन्तिक प्रतिष्ठा के लिये भगीरथ, विश्वामित्र, बलि, नृग आदि के दृष्टान्त है। इन दृष्टान्तों में भी कर्मवाद के सिद्धान्त के अनुसार देखने पर दोनों तत्व (भाग्य पुरूषार्थ) उपलब्ध होते हैं। इन दोनों तत्वों में छोटा कोई नहीं है। अवसर के अनुसार एक का उत्कर्ष दिखाई पड़ता है। तृतीय दृष्टि भी है जिसके अनुसार भाग्य ही सब कुछ है। विद्या और पौरूष भी भाग्याधीन है। यह दृष्टि एकांगी है। भाग्य क्या है इसे न जानने के

कारण यह स्थापना की जाती है। यह मान्यता समाज की उन्नति में बाधक है तथा बुद्धि सम्मत नहीं है।

उपर्युक्त तात्विक विवेचन के द्वारा दैव और पुरूषार्थ को समझ लेने पर आचरण का मार्ग प्रशस्त होता है। जिसके लिये अर्थ और काम ही सर्वस्व है, उसे पुरूषार्थ का ही आश्रय लेना चाहिये। ऐसा व्यक्ति दैव के भरोसे रहता है तो निन्दनीय है। जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरूषार्थों को मानता है, उसके लिये उच्चतर पुरूषार्थ ही प्रियतर होंगे। धर्म और मोक्ष उच्चतर पुरूषार्थ है। मोक्ष परम पुरूषार्थ है। विकसित चेतना वाले मनुष्य को भी अर्थ और काम की आवश्यकता होती है। ऐसे व्यक्ति के लिये अर्थ और काम के निमित्त अल्पायास करते हुये दैवाधीन रहना एवं धर्म तथा मोक्ष के लिये पुरूषार्थी होना श्रेयस्कर है। ऐसे व्यक्ति को दैवाधीन रहने पर एक दिशा में सन्तोषजन्य सुख है, तो दूसरी दिशा में पुरूषार्थ का पूर्ण सदुपयोग करने का अवसर मिलता है। स्वभाव के साथ वर्ण और आश्रम के अनुसार भी उपास्य पुरूषार्थों का निश्चय होता है। मुख्य उद्देश्य में पूरा उद्यम करना अन्य को दैवाधीन मानना सही नीति है। विज्ञ पुरूष दैव और पुरूषार्थ दोनों की सहायता लेता है। दोनों में से एक लंगड़ा है तो दूसरा अन्धा। दोनों के संयोग से अभीष्ट-सिद्धि मिलती है। मनुष्य की सार्थकता के लिये बुद्धिसम्मत आचरण करना तथा स्वतन्त्रकर्ता बनना अपेक्षित है। प्रयत्न के अभाव में जिसने कोई पुरूषार्थ नहीं सिद्ध किया या अनैतिक उद्यम किया, वह भोग योनि के पशु के समान निकृष्ट है। जिसने निम्न पुरूषार्थों को नैतिक मार्ग से प्राप्त किया वह मध्यम कोटि का है और जिसने धर्म और मोक्ष पुरूषार्थों को प्राप्त किया वह उत्तम मनुष्य है। वही समाज का आदर्श है। कुल को पवित्र, माता को कृतार्थ तथा वसुन्धरा को सार्थक करने वाले पुरूषार्थी को ही पूर्ण मनुष्य कहा जायेगा। पुरूषार्थ ही तो भविष्य और भाग्य का विधाता है। इस दृष्टि से जन्मान्तर में उच्च सिद्धि की कामना वाला पुरूषार्थी भी आदरणीय है। पुरूषार्थ को योग औद दैव को क्षेम के रूप में प्रतिष्ठित करके अभयपद प्राप्त करना मनुष्य योनि की सार्थकता है।

न्याय की अवधारणा

इस विवरण में अभिप्रेत विषय है-न्याय क्या है, इसकी उपयोगिता तथा अवाप्ति के उपाय क्या है। न्याय शब्द बहुप्रचलित है। अनेक अर्थों में इसका प्रयोग सभी करते हैं। वैदिक साहित्य में ऋत्, सत्य, धर्म, आदि शब्द न्याय के भी अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। धर्म शब्द न्याय के अर्थ में अब भी योगरूढ है। कर्म, नीति, नियम, तर्क, ढण्ड, सत्य, निर्णय, प्रचलित-दृष्टांत, औचित्य, कानून, कार्यपद्धति, न्यायशास्त्र, न्याय दर्शन, विश्वव्यापी नियम, सुशासन, व्यवस्था, समता, संतुलन इन सभी अर्थों में न्याय शब्द का प्रयोग होता है। न्याय शब्द की व्युत्पत्ति दो तरह से है। नियमेन ईयते इति न्यायः, नीयन्ते प्राप्यन्ते विवक्षितार्थाः येनेति न्यायः। प्रथम व्यवहारिक न्याय है, द्वितीय न्यायशास्त्र है। यहाँ हमारा विषय व्यवहारिक न्याय है।

धर्म का प्रमुख अंग न्याय है। ऋत और सत्य के आधार पर न्याय प्रतिष्ठित होता है। ॠत सार्वभौम व शास्वत अदृष्ट व्यवस्था है। सत्य उसका व्यवहारिक पक्ष है। न्याय तीन प्रकार है- प्राकृतिक, ईश्वरीय, और मनवीय (व्यवहारिक)। प्राकृतिक न्याय भौतिक तत्वों के गुणों के अनुसार तथा सहज एवं स्थायी प्रवृत्तियों से अनुप्रेरित होता है। यह सदा ही एक तरह का होता है। प्रकृति के नियमों के आधीन ही मनुष्य कुछ परिवर्तन कर लेता है, लेकिन वह परिवर्तन भी प्राकृतिक ही है। ईश्वरीय न्याय में मनुष्य का बल रंच मात्र काम नही करता है। यह कर्मानुसार अदृष्ट शक्ति से संचालित होता है। बल से तो नहीं; किन्तु प्रार्थना से इसमें भी परिवर्तन देखा गया है। इसी कारण ईश्वरतत्व की प्रतिष्ठा भी होती है। वहीं "शास्ता वैवस्वतो यमः" नाम से भी जाना जाता है। उसकी अनेकघा शक्तियाँ हैं। "ऋतस्य गोप्ता" पद से भी उसी की ओर संकेत है। शाश्वत नियमों का संस्थापक तथा कर्मफल का व्यवस्थापक ईश्वर अत्यन्त सूक्ष्म ज्ञान से निर्विकार न्याय की प्रतिष्ठा करता है। तृतीय कोटि का न्याय मानवीय या व्यवहारिक है। अपनी बुद्धि से मनुष्य कुछ नियमों को विषयवस्तु व व्यक्ति के अनुसार बनाता है। उन्हीं नियमों के अधीन उचित-अनुचित का निर्णय करता है। यहाँ हमारे अध्ययन का विषय यही व्यावहारिक न्याय है।

व्यावहारिक न्याय भी दो तरह का है- व्यक्तिगत और समष्टिगत। व्यक्ति के लिए मोक्ष चरम उपलब्धि है और समाज के लिए न्याय ही सर्वोपरित है। कुछ नियम ऐसे हैं जिन्हें न मानने पर व्यक्ति को स्वयं हानि उठानी पड़ती है।

इससे समाज को प्रत्यक्ष हानि नहीं होती है। दूसरे तरह के नियम है जिनसे एक दूसरे के सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ता है। इन्हें तोड़ने पर समाज में अन्याय (अशान्ति, अव्यवस्था) की सम्भावना होती है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है अतः व्यक्तिगत नियमों का अतिकमण भी समाज को थोड़ा बहुत प्रभावित करता ही है। अपने प्रति अन्याय करने वाला दूसरे के प्रति न्याय क्या करेगा? फिर भी व्यक्ति निष्ठ न्याय को छोड़ते हुए हम यहाँ परम्पर व्यवहार से अपेक्षित न्याय के विषय में ही विचार करेगे। मनुष्य मन, वाणी, और शरीर के माध्यम से व्यवहार करता है। इन्हीं पर शासन के लिए नियम बने है। मन ही सब का प्रेरक है किन्तु मन इतना सबल व सूक्ष्म है कि उस पर बाह्य-शासन नहीं किया जा सकता है। मानसिक अपराध का दण्ड मनुष्य नहीं दे सकता है। स्थूल रूप में वाणी और शरीर के माध्यम से प्रकट होने पर ही मानवीय व्यवहार आरम्भ होता है। अतः वाणी व शरीर से सम्बद्ध व्यवहारों के विषय में ही नियम संभव है तथा इन्हीं नियमों से न्याय प्राप्तव्य है। न्याय की प्रतिष्ठा होने पर मन को भी वश में किया जा सकता है। सेना के समाप्त होने पर राजा विवश होकर नियन्त्रण स्वीकार करता है।

जिस न्याय का विवेचन हम कर रहे हैं उसकी परिभाषा अनेक विचारकों ने अपने-अपने मतानुसार दिया है। सब के पीछे उद्देश्य एक है- सामाजिक व्यवस्था, समता, सन्तुलन, मनःसन्तोष, उन्नति का अवसर एवं सुख शान्ति। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विभिन्न पूर्वगामी मूल्यों की स्थापना की गयी है। इस मूल्यों की प्राप्ति के अनन्तर ही मुख्य उद्देश्य की प्राप्ति परिकल्पित है। मूल्यों में भेद के कारण न्याय की परिभाषा भी विभिन्न है। मूल्य स्वभाव के अनुसार होते हैं। गाँधी जी और नेता जी का उद्देश्य एक था किन्तु स्वभाव के अनुसार मूल्यों में अन्तर हो गया है। मूल्य के अनुसार नीति और नियम बनते हैं। इन्हीं नियमों से न्याय प्राप्त किया जाता है। पैथागोरस का कथन है- 'It is sqnare number; It is perfect harmony' प्लेटो कहता है- It is 'giving the parts their real place in the whole.' Justice is fairness in human action, ie-mean between the extremes of too much and tooless- 'अरस्तू। दार्शनिक उदारवादी आचरण की स्वच्छता तथा समानता पर बल देते हैं। उपयोगितावादी लोग न्याय को लाभ कारक होने पर स्वीकृति देते हैं। अतः उनके अनुसार न्याय- 'Maximum happiness of largest number' है। प्रत्ययवादी दार्शनिक न्याय को एक संश्लिष्ट पद मानते हैं, जिससे व्यक्ति के अधिकारों का निर्धारण हो सके। कान्ट कहता है- 'Neither nature (realist) nor economic (Marx) is the ground of Justice. Actually it is respect for personality'~ साम्यवाद उत्पादन के साधन पर व्यक्तिगत अधिकार की समाप्ति को ही न्याय मानता है।

उनके अनुसार - 'Justice is the social expression of the ethical principle of respect for personality' तथा 'Equality of rights is the soul of Justice'। फासीवाद के अनुसार 'Justice is the strength of state. It develops the power of state. Justice is the right of state'। इस तरह देखते है कि पाशचात्य चिन्तकों की परिभाषाएँ एक दूसरे से विपरीत भी है। प्राचीन और सामाजिक मान्यता प्राप्त विचारक लगभग एक ही दिशा की ओर निर्देश करते हैं।

भारतीय चिन्तकों ने गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार सभी के लिए न्याय की व्यवस्था दी है। न्याय का लक्षण है-शिष्टसंम्प्रतिपत्तं' लौकिकं आचरणं, इदं युक्तं इदमयुक्तं इति उपपत्ति पुरःसरों निर्णयः न्यायः।' इस प्रसंग में मान्य है-

स्वधर्मस्य यथा प्राप्तिः परधर्मस्य वर्जनम्।
न्यायेन क्रियते तत्तुव्यवहारः स उच्चयते॥
धर्मेण व्यवहारेण चरित्रेण नृपाज्ञया।
चतुः प्रकारकोऽभिहितः संदिग्धेऽर्थे विनिर्णयः॥

'नियमेन ईयते इतिन्याय;' यह परिभाषा है। नियम मनीषियों द्वारा बनाए जाते हैं तथा राजा द्वारा प्रवर्तित होते हैं। भारतीय चिन्तन में न्याय की यही परिभाषा तथा उपरोक्त उसका व्यावहारिक पक्ष है। गुण, कर्म व स्वभाव पर ध्यान देने के कारण ही एक ही अपराध के लिए विभिन्न लोगों को अलग-अलग से डण्ड की व्यावस्था है। यह मान्यता प्लेटो के अनुसार भी सही है। जब वह कहता है- न्याय व्यक्ति को समाज में उपुयक्त स्थान देने में निहित है। यह न्याय दैवी न्याय की कोटि में पहुँचता है। यह न्याय मनुष्य ही नही स्थावरजंगम, पेड़-पौधे, कुत्ते, बिल्ली के लिए भी सामाजिक व्व्हार में स्थान देता है। भगवान राम ने कुत्ते को न्याय दिया था। यह न्याय सत्व गुणों के प्राबल्य में ही सम्भव है। न्याय सात्विकता के बिना अधूरा रहता है। वर्तमान समय में उपलब्ध नियमों के अनुसार समान रूप से सबका भाग व स्थान सुनिशिचत करना तथा अधिकारों एवं कर्तव्यों का निर्धारण ही न्याय है।

न्याय की विभिन्न परिभाषाओं एवं इसके मुख्य उद्देश्य पर ध्यान देने पर यह स्पष्ट है कि समाज में न्याय की प्रतिष्ठा अत्यावश्यक है। जिस समाज में न्याय की अवधारणा नहीं है वह पशुओं का समज है। वहाँ प्राकृतिक न्याय (मात्स्य न्याय आदि) स्वतः स्थापित हो जाता है। प्राकृतिक न्याय मनुष्य जाति में नहीं चल सकता है। मनुष्य की अर्थ और काम की प्रवृत्तियाँ अन्य जीवों से भिन्न है। विश्व का समस्त भोग एक ही व्यक्ति के लिए अपर्याप्त है। अतः मानव समाज न्याय के ही बल पर स्थिर रह सकता है। दुर्बल का संरक्षण तथा सबल पर नियंत्रण न्याय ही करता है। न्याय से आत्मसंतोष भी होता है।

सामाजिक विघटन, आतंकवाद, कलहद्वेष आदि न्याय के अभाव में ही बढ़ते हैं। न्याय की प्रतिष्ठा के बिना स्वतन्त्रता भी परतंत्रता से अधिक कष्टकर है। वैज्ञानिक तथा भौतिक साधनों की उन्नति अन्याय-ग्रस्त समाज में दुःख दर्द को बढ़ाने में ही सहायक होते हैं। भयाकान्त, अनिश्चित, निराश कोटि के लोग सभी साधनों के होने पर एवं तथाकथित स्वतंत्रता के बसवजूद कोई रचनात्मक कार्य नहीं कर सकते हैं। उनके लोक-परलोक दोनों नष्ट हो जाते है। व्यक्ति को उन्नति का अवसर देने के लिए तथा समाज की शान्ति-व्यवस्था के लिए न्याय ही आधार-शिला है। इस लिए न्याय को ही धर्म और ईश्वर का स्वरूप माना जाता है। न्याय के अभाव में प्रलय की स्थिति की कल्पना कर सकते हैं।

न्याय की अवधारणा में समान महत्व के तीन अङ्गो का समन्वय आवश्यक है। तीनों अङ्गो के यथास्थान सशक्त होने पर न्याय की प्राप्ति होती है। यह तीन अङ्ग है- प्रथम नियमों का विधान, द्वितीय नियम के अनुसार आचरण का प्रवर्तन, तृतीय नियम के उल्लंघन पर दण्ड या विवाद होने पर निर्णय। तीनों अंगों में से किसी एक के सदोष होने पर पूरी व्यवस्था सदोष हो जाती है। समाज में क्रिया और प्रतिक्रिया सदैव चलती रहती है। रिक्तता कभी नहीं होती है। न्याय के न होने पर अन्याय स्वतः होने लगता है। तीनों अङ्गों के सुदृढ़ होने पर ही न्याय सम्भव है। इनमें से प्रत्येक अङ्ग को न्याय का प्रतीक मानते है। विशेष अर्थ में निर्णयऔर दण्ड का विधान करने वाला अङ्ग न्यायापालिका के रूप में जाना जाता है।

न्याय की प्रतिष्ठा के लिए तीनों अङ्गो का परिष्कार अनिवार्य है। एक भी अङ्ग के दुष्ट होने पर दूसरों पर प्रभाव निश्चित है, फलतः न्याय अपनी महिमा से च्युत हो जाता है। न्याय प्रदर्शन की अपेक्षा नहीं करता। उनके मूल में सत्य, सत्व, समत्व आदि गुण ही पर्याप्त है। गुणों के अभाव में प्रदर्शन का सहारा लिया जाता है। वास्तव में न्याय अपने प्रभाव से ही अपनी प्रतिष्ठा को प्रमाणित करता है।

न्याय की प्रतिष्ठा के लिए नियमों का विधान प्रथम आवश्यकता है। यह आधारशिला है जो अप्रत्यक्ष होकर भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। समाज में किसका क्या हिस्सा है आदि बातों का निर्धारण नियमों के अधीन होता है। योग्यता और पात्रता को उचित स्थान देना ही सम्यक दृष्टि है। विधायक में यह क्षमता आवश्यक है। नियम बनाने वाले मनु, याज्ञबल्क्य कोटि के लोग थे। अब भी ऋषिकल्प, रागद्वेष तथा पूर्वाग्रहों से मुक्त, सर्वद्रष्टा, मनोवैज्ञानिक एवं सर्वोपकारी व्यक्ति ही नियम बनाने का अधिकारी है। इन लोगों के द्वारा बनाए गए नियम का पालन अधिकांश लोगों के लिए स्वभावतः अनुकूल होता है। अतः लोग स्वतः न्यायप्रिय हो जाते हैं। दण्ड और भय की आवश्यकता कभी-

कभी पड़ती है। किन्तु कर्म, स्वभाव व परिस्थिति के विपरीत बने हुए नियमों का उल्लंघन सभी करते हैं। दुर्बल (अधम कोटि के) नियमों का परिपालन कोई भी शासन नहीं करा सकता है। नियमों का उल्लंघन अधिक हो तो विधायक ही सदोष होता है। इस स्थिति में दण्ड ही दण्डित हो जाता है। अतः नियमों के विधान के समय ही न्याय करना प्रमुख आवश्यकता है। इससे न्याय की प्रतिष्ठा में आधा कार्य सम्पन्न हो जाता है।

नियमों का प्रवर्तन करना न्याय की दूसरी आवश्यकता है। प्रवर्तन के लिए ईमानदार कर्मठ, निर्भय और सत्य प्रेमी कार्यकर्त्ता अपेक्षित है। सुव्यवस्था देने वाले नियम के प्रवर्तन में आसानी होती है। इसके प्रवर्तन से लोक-परलोक दोनों की सिद्धि होती है। इस कार्य के लिए कर्मयोगी प्रकृति के व्यक्तियों का चयन होना चाहिए।

नियमों के अतिक्रमण होने पर दण्ड देना तथा विवाद के समय निहितार्थ को प्रकाशित करना न्याय की अवधारणा में तृतीय (अन्तिम) आवश्यकता है। दण्ड देने के लिए शक्ति अपेक्षित है। शक्ति प्रवर्तन करने वाले (द्वितीय) अङ्ग में होती है। न्याय का मूलार्थ विधायक (प्रथम) अङ्ग में होता है। शक्ति अन्धी होती है, मूलार्थ विधायक का न्याय पंगु होता है। दोनों के संयोग से गति और उन्नति सम्भव है। यह संयोजन का कार्य तृतीय अङ्ग (न्याय पालिका) द्वारा होता है। यह बहुत महत्वपूर्ण कार्य है। नियमों के विधायक तथा प्रवर्तक दोनों अङ्गो की परीक्षा यहाँ होती है। इसीलिए इसी अंग के न्याय का पर्याय मान लिया जाता है। उद्यद्दण्ड होने पर ही सुशासन संभव है। भय से ही लोग निर्धारित मार्ग पर चलते है। सोने पर भी दण्ड जागता रहता है। दंड की शिथिलता या विकृति में सारी योजना धराशायी हो जाती है। समय से निर्णय देना श्रेयस्कर है। निर्णय में देर करने पर सदुपयोग के स्थान पर दुरूपयोग होता है। निर्णय में देर करना न्याय के साथ अन्याय है। न्याय देने में शीघ्रता से सतयुग और विलम्ब से कलियुग का उदय होता है। न्याय के साथ अन्याय करने वाला घोर अपराधी है। न्यायाधीश ईश्वर का स्वरूप होता है। दुष्ट होने पर वही शैतान, राक्षस, या असुर कोटि में चला जाता है। इस कार्य के लिए विवेकी, संयमी कर्तव्यनिष्ठ तथा विद्वान व्यक्ति की नियुक्ति हितकर है।

व्यवहारिक न्याय दो स्थानों पर मिलता हैः प्रथम समाज, द्वितीय शासन। नियमों का विधान दोनों में होता है। समाज में प्रवर्तन का कार्य स्वतः होता है। शासन में इसका तंत्र होता है। दंड और निर्णय का कार्य दोनों जगह होता है। सामाजिक न्याय अधिक कटु नहीं होता है। इसका दूरगामी परिणाम समाज के लिए हितकर होता है। जहाँ सामाजिक न्याय की प्रतिष्ठा हे वहाँ लोग स्वाभाविक रूप से न्याय-प्रिय और अनुशासित होते हैं। महत्वूपर्ण और जटिल विषयों को

शासन अपने अधीन लेकर न्याय करता है। न्याय का कार्यभार जितना ही शासन पर बनता है, उतना ही अन्याय भी बढ़ता है। अतः समाजिक न्याय को प्रोत्साहन देना उचित है। सामाजिक न्याय स्वाभाविक, स्वतंत्र होना चाहिए। उसमें शासन का हस्तक्षेप होने पर कोई सार्थकता नहीं रहती है। यह तभी सम्भव है जब समाज में मात्र योग्यतानुसार व्यक्ति की पहचान हो। व्यक्ति की गरिमा को कायम करना, नीति, नियम, शासन के अधीन है। न्याय की प्रतिष्ठा के लिए सामाजिक न्याय की स्थापना आवश्यक है, अन्यथा शासन असहाय होकर अन्याय ग्रस्त हो जाता है।

आज के सामाजिक विक्षोभ, विप्लव, अतंकवाद, भय और निराशा के वातावरण का अनुभव सभी को है। लेकिन निराश होकर बैठना मनुष्य का धर्म नहीं है। पुनः व्यवस्था आ सकती है। न्याय की प्रतिष्ठा के उपाय ढूँढना नहीं है, वह उपलब्ध है। सात्विकता को प्रोत्साहन देना, बुद्धि एवं विवेक से काम लेना तथा स्वधर्म की स्थापना अब भी सम्भव है। मनमानी नहीं बुद्धिमानी ही अंत में सफल होती है। ठीक कहा है-

मतयो यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वानराः।
शास्त्राणि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति ते नराः॥

मन के अनुसार तो बन्दर भी कार्य कर लेता मनुष्य तो शास्त्रों के अनुसार ही कार्य करता है। हमारे पास ऋषियों द्वारा बनाये गये शास्त्र, परम्परा से प्राप्त हैं। उनको उचित मान्यता देने में ही मनुष्यत्व की सार्थकता ओर उसका कल्याण है। इसी से न्याय की अवाप्ति सम्भव है। न्याय की प्रतिष्ठा होने पर ईश वर हमारे दाहिने हो जाता है। फिर तो सभी को अभय पद सुलभ है।

उपासना

सामान्यतः यजन, भजन, पूजन, सेवन, आराधन आदि शब्द उपासना के समानार्थक माने जाते हैं। प्रत्येक शब्द का एक विशिष्ट अर्थ भी होता है। उप आस् गिच् युच् टाप उपासना, इस तरह व्युत्पत्ति है। उपासना शब्द अमोघ क्रिया का द्योतक है। 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' (देवताओं ने यज्ञ के द्वारा यज्ञपुरूष की उपासना किया), इसमें 'अयजन्त' शब्द उपासना के अर्थ में है। निकटतम रहकर 'सर्वभावेन' एक उद्देश्य के लिए साधना ही उपासना है। उपासना कभी निष्फल नहीं होती है। इससे शक्ति या ज्ञान मिलता है। उपासना दो तरह की है- 'कर्मोपासना' और 'ज्ञानोपासना'। कर्मोपासना से शक्ति तथा ज्ञानोपासना से ज्ञान की उपलब्धि होती है। श्रद्धा और शक्ति (रूचि एवं सामर्थ्य) के अनुसार उपासना होती है तथा उपासना के अनुसार श्रद्धा और शक्ति की प्राप्ति भी होती है। विज्ञान ने भी सिद्ध किया है कि शक्ति की परिणति कार्य रूप में तथा कार्य की परिणति शक्ति के रूप में होती है। इसमें सन्देह नही कि उपासना का फल अवश्य होताहै। यावन्मात्र कम्र, भक्ति, ज्ञान या योगादि की साधना है सब उपासना है। कोई न कोई तथाकथित उपासना प्रत्येक व्यक्ति निरन्तर कर रहा है। मन की एकाग्रता, उपासना की विधि, उद्देश्य इन तीन तत्वों में अन्तर होने के कारण अच्छे बुरे अनेक तरह के फल उत्पन्न होते हैं। वास्तविक उपासना वही है, जिससे अव्यवहित रूप से अभीष्ट फल का उदय हो। इस विवेचन में इसी तरह की उपासना अभिप्रेत विषय है।

उपास्य के समीप पहुँचकर उसका सेवन या पूजन करना ही उपासना है। दूरस्थ रहकर उपासना बेमानी है।, दूरी को कम करना या समीप पहुँचाना मन का धर्म है। मन का एकाग्र होना ही सामीप्य है, व्यग्र होना ही दूरी है। एकाग्रता प्राप्त करने पर शुभ में मन को नियोजित कर देना सही उपासना है। इसलिए ऋषि ने कामना की है-

यज्जाग्रतो दूरमुदेति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवेति।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकंः तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

इस मन्त्र में उपासना की पूर्ण विधि विहित है। शिव संकल्प पर आरूढ़ मन ही अभीष्ट का साधन है। यही मन्त्र उपासना की भूमिका है। मन को एक्राग्र करने की अनेक विधायें हैं। यजन, भजन, पूजन, प्राणायाम आदि अनेक कियाएं सर्वप्रथम मन की एकाप्रता के लिए है। एकाग्रता के लिए प्रयास भी उपासना के नाम से जाना जाता है।, किन्तु वास्तव में इससे उपासना की पात्रता

मिलती है। कर्म, उपासना तथा ज्ञान तीन काण्डों में प्रथम दो से पात्रता की प्राप्ति होती है। अधिकारी भेद से इन काण्डों की आवश्यकता है। इनका फल मनोनिग्रह है। इससे शक्ति व वैराग्य मिलते हैं। शक्ति का विनियोग ज्ञान के लिए करने पर ज्ञानकाण्ड का आरम्भ होता है। ज्ञानकांड की साधना से पर-वैराग्य होता है, जिससे परम पुरूषार्थ सिद्ध होता है। मनोनिग्रह और शिव-संकल्प से आरम्भ करके ज्ञानोपासना तक सब उपासना ही है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन साक्षात् ज्ञानोपासना है। ज्ञानोपासक पूर्वजन्म से मनोनिग्रही होता है। मन की सिद्धि ही प्रथम आवश्यकता है। असिद्धावस्था में कर्मोपासना तथा सिद्धावस्था में ज्ञानोपासना का विधान है। मन की एकाग्रता के बिना कोई उपासना सम्भव नहीं है। उपासना शब्द में 'उप' उपसर्ग को मनोनिग्रह ही सार्थक करता है।

उपासना में तीन अङ्ग है- उपासक, उपास्य तथा विधि। उपासक कोई भी अधिकारी व्यक्ति होता है। उपास्य कोई पुरूषार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) होता है। उपास्य को ही उद्देश्य या कारण कहते है। उपासना की निर्धारित विधि होती है। गुरू या शास्त्र से प्राप्त विधि विश्वसनीय होती है। उपासना में सर्वाङ्गीणता आवश्यक है। संकल्प के प्रति तीव्रता ही उपासना का वेग है। उपासना भी एक कर्म है। इसमें कर्त्ता, करण तथा क्रिया तीनों की आवश्यकता है। बिना कारण के कोई कार्य नही होता है। निष्काम कर्म में अलौकिक उपास्य (कारण) होता है। सगुण या निर्गुण, साकार या निराकार किसी की उपासना संभव है। सब की विधि है। विधि में देश, काल तथा द्रव्य तीनों का विचार अपेक्षित है। इसीलिए गुरूकी आवश्यकता होती है। साक्षात् शास्त्र से देश, काल या द्रव्य का विचार करना कठिन है। गुरू प्रकाश देने वाला होता है, जिससे सभी शङ्काओं का नाश होता जाता है। इसीलिए आरम्भ में गुरू की उपासना की जाती है। परमात्मा ही मार्ग दर्शक है, जो गुरू के रूप में प्रगट होता है। वह कभी व्यक्ति के रूप में मार्गदर्शक बन जाता है। उपासना में सफलता के लिए गुरूत्व की प्राप्ति आवश्यक है। इसके लिए दूर भटकरना अनिवार्य नहीं है। निष्ठा और विश्वास से गुरू सहज प्राप्त है। इस उपलब्धि के लिए भी मन की एकाग्रता अपेक्षित है। किसी भी दिशा से उपासना में प्रवेश करने का प्रयत्न करे, मनोनिग्रह प्रथम द्वार के रूप में मिलेगा।

उपासना के साधन तीन है- मन, वाणी और शरीर। 'तनु बिनु वेद भजन नहिं वरना, शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्, आदि वाक्यों से शरीर का महत्व विदित है। 'यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म कियते' इससे मन की आवश्यकता प्रतिपादित है। 'वागेव विश्वाभुवनानि जज्ञिरे' से वाणी का महत्व स्थापित है। वाचारम्मण ही शान्त प्रकृति में विकार उत्पन्न करता है। वैखरी वाणी के न होने

पर भी मध्यमा या अन्य के द्वारा वाणी सभी क्रिया में अनुस्यूत है। यह तीनों साधन मात्रा भेद से सभी उपासना में रहते है। अतःस्वस्थ शरीर, संस्कृत वाणी तथा पवित्र और शान्त मन की कामना करनी चाहिए। किसी उपासना में एक ही अङ्ग प्रत्यक्षतः उपयोगी होता है किन्तु अन्य दो भी अप्रत्यक्षतः सहायक रहते हैं। जप में तीनों अङ्गो का सन्तुलित उपयोग होता है। इन तीनों साधनों को सुदृढ रखने के लिए आयुर्वेद, स्वाध्याय, सदाचार, आदि का प्रतिपादन है। मन को वश में करना कठिनतम कार्य है। मन को स्वस्थ रखने के लिए अनेक उपाय बताए गये हैं। अभ्यास और वैराग्य मनोनिग्रह के लिए उत्तम साधन है। मन, वाणी और शरीर ही शक्ति के अधिष्ठान भी हैं। इन तीनों साधनों या अधिष्ठानों के अनुकूल होने पर उपासना के लिए पात्रता मिलती है। शम के लिए दम की आवश्यकता होती है। शरीर (इन्द्रिय) एवं वाणी पर संयम के बाद ही मन पर नियंत्रण हो सकता है। जब मन एकाग्र और स्ववश हो जाय, तब वास्तविक उपासना का आरंभ होता है। 'मनः एव हि लोकांनां कारणं वन्ध-मोक्षयोः'' मन ही प्रथम उपास्य है। मन के एकाग्र होने पर आधी उपासना सिद्ध हो जाती है। एकाग्रमन ही बन्धन तथा मोक्ष दोनों का कारण होता है। कहा है-
''चित्त नदी उपयतो वाहिनी, बहति पापाय, बहुति पुण्याय।।''

अतः मन के एकाग्र होने पर उपासना का द्वितीय चरण आरम्भ होता है। यह द्वितीय चरण अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण है। द्वितीय चरण में पुरूष का सही स्वरूप प्रकट होता है। ''यो यच्छ्रदः स एवं स.'' से स्पष्ट है कि श्रद्धा ही पुरूष का स्वरूप है। जीवन तथा मरणोत्तर मूल्यों की स्थापना श्रद्धा के अनुसार होती है। अर्थ, काम, ऐश्वर्य, भोग, द्रोह, परपीडा आदि एक ओर तथा यश व कीर्ति परोपकार, ज्ञान, मोक्ष आदि दूसरी ओर स्थापित है। संक्षेप में प्रेय और श्रेय के दो मार्ग अलग-अलग है। उपासना के प्रथम चरण में सभी उपासक एक तरह के लगते हैं। क्योंकि तब तक उदृदेश्य एक ही रहता है। शक्ति प्राप्ति और उसके विनियोग के समय दो विपरीत दिशा में जाने वाले मार्ग उपस्थित होते है। उत्तम श्रद्धा से युक्त उपासक शक्ति का उपयोग प्रेय (कर्म मार्ग) में न करके श्रेय (ज्ञान मार्ग) में करता है। उपासक का पतन या उत्थान आजीवन संभावित है। अतः द्वितीय चरण में प्रवेश के बाद भी निरन्तर सजग रहना उपासक का कर्तव्य है। वास्तव में उपासना के प्रथम चरण में ही विधि और श्रद्धा के भेद से उपासना में भेद रहता है। गीता में कहा गया है-

यजन्ते सात्तिवकाः देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसाः जनाः॥

उपासना सात्विक, राजस, तामस भेद से तीन तरह की होती है। उपासना के प्रथम चरण में राजस तथा तामस उपासनाएँ अधिक शीघ्र सफलता देती है।

मनोनिग्रह तथा शक्ति का लाभ हो जाता है। किन्तु वैराग्य नही उत्पन्न होता हे और द्वितीय चरण की उपासना नहीं हो पाती है। द्वितीय चरण में जाकर स्वभाववश (श्रद्धावश) कर्म मार्ग में प्रवृत्ति हो जाती है और प्रत्यावर्तन आरम्भ हो जाता है। इससे बचने के लिए आरम्भ में ही सात्विक श्रद्धा और विधि के साथ सात्विक कोटि की उपासना ही श्रेयस्कर है। समय की परवाह न करते हुए धैर्यपूर्वक की गई उपासना फलवती होती है। राजस व तामस उपासनाएँ एकाङ्गी रह जाती है। सात्विक उपासना ही सर्वाङ्गीण होती है और द्वितीय चरण में जाकर उपासना शब्द को सार्थक करती है। सात्विक साधना में आचार, विशेषतः यम, नियम, आवश्यक है। सात्विक साधनों से और सात्विक, स्थाई और व्यापक उद्देश्य के लिए की गई उपासना ही अभीष्ट फलदायिनी होती है। इसी से अभय पद मिलता है।

भारतवर्ष में आगम और निगम पर आधारित दो तरह की उपासनाएँ प्राचीन काल से चली आ रही हैं। निगमोपासना में वांछित पवित्रता, देश, काल, वस्तु की है। यह स्वाध्याय, यज्ञ तथा तपस्या के माध्यम से साक्षात् ज्ञानोपासना है। वर्तमान समय में आगमोपासना ही साध्य है। इसमें जाति, लिंग, वर्गाश्रम के बन्धन नहीं है। आगमोपासना को ही तन्त्रोपासना भी कहते हैं। बौद्ध, जैन, शाक्त, शैव, वैष्णव, गाणपत्य, सौर आदि अनेक तरह के तन्त्र है। सात्विक, राजस तथा तामस कोटि से तन्त्र तीन तरह के है। सात्विक तन्त्रोंपासना समाज और व्यक्ति दोनों की दृष्टि से उपयोगी है। इस उपासना से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरूषार्थों की सिद्धि विहित है। कुछ राजस तथा तामस तन्त्रों, पंच मकार के सेवन आदि के कारण तन्त्रोपासना को निन्दनीय या हीन समझा जाता है, किन्तु सात्विक तन्त्रोपासना महीयसी है। यह एक पूर्ण उपासना है। इसे भलीभॉति समझना लाभदायक हो सकता है।

भक्ति तथा योग की उपासना पद्धतियाँ भी जाति, लिंग आदि बन्धनों से मुक्त है। यह भी तन्त्र (आगम) की तरह क्रतुमान की आकाक्षा के अनुरूप है। इनमें मानसिक साधना ही प्रधान है। उपासना में मन, वाणी तथा शरीर तीनों का उपयोग है। अतः सरल, वैज्ञानिक एवं देशकाल के लिए अधिक अनुकूल है। आगम उपासना में तीन चरण है- स्तोत्र पाठ, यन्त्र पूजन तथा मन्त्र जप। यह क्रमशः श्रेष्ठतर है। मन्त्र जप के द्वारा शब्द ब्रह्मा की प्राप्ति होती है और शब्द ब्रह्मा से परब्रह्म की प्राप्ति होती है। जप के द्वारा चित्त ही मनोमय हो जाता है। वाचिक उपाशु एवं मानसिक भेद से जप भी तीन तरह का है। मन में जब स्वतः जप होने लगता है, तो परावाणी का प्राकट्य होता है। 'सर्वेवर्णाः शिवात्मकाः' कहा गया है। मात्रिकाओं का बड़ा महत्व है। शक्ति का स्वरूप ही वर्णमय है। अतः मन्त्र सिद्धि से शिवत्व की प्राप्ति होना स्वाभाविक है 'मननात्

त्रायते इति मन्त्रः। 'यह मनन का विषय है। इसमें श्रद्धा और विश्वासपूर्वक विधि का पालन ही सिद्धिदायक है। 'सम्प्रदाय विश्वासाभ्यां सर्व सिद्धिः' ऐसा परशुराम कल्प में लिखा है। अपने विषय की साधना तथा दूसरे की निन्दा न करना (सर्वदर्शनानिन्दा) ही हितकर है। ऐसी मान्यता सही है कि, मन्त्र और विधान के अनुसार सम्प्रदाय भेद है, किन्तु सबका उद्देश्य एक ही है।

मारण, मोहन, उच्चाटन जैसे तामसिक कार्यो के लिए प्रयुक्त तन्त्र अवश्य ही निन्दनीय है। पहले ही कहा गया है कि सात्विक तन्त्र ही प्रसंसनीय है। जीवन के, उच्च मूल्यों की प्राति के लिए, कम समय में, वैज्ञानिक रीति से, सात्विक तन्त्र ही उपकारक हैं। वर्तमान युग में आगम उपासना और अधिक महत्वपूर्ण है। शक्ति के अभाव में नष्ट हो रही भारतीय संस्कृति की रक्षा आगमोपासना से सम्भव है। इससे सामाजिक संगठन तथा शान्ति के मार्ग में भी सहयोग मिल सकता है। आगमशास्त्र एक ही जन्म में मुक्ति देने का घोष करता है। इस तरह आगमोपासना से प्रेय और श्रेय, दोनों की सिद्धि मानते है।

पहले ही स्वीकार किया गया है कि निगमोपासना श्रेष्ठतम है। वर्तमान समय में दुष्कर होने के कारण इसका पक्ष निर्बल माना जाताहै। इस उपासना से व्यक्ति का निर्माण होता है। इतिहास इसका साक्षी है। एक ही व्यक्ति अपने तेज, प्रताप और प्रभाव से सम्पूर्ण समाज को व्यवस्थित कर सकता है। वह अपना तथा सम्पूर्ण समाज का उद्धार अकेले कर सकता है। आजकल इस साधना में बाधा अवश्य है, किन्तु अवसर का नितान्त अभाव नहीं है। ऐसे उपासकों के लिए भी ईश्वर मार्ग देगा ही। ईश्वर ही गुरोर्गुरू है। अतः श्रद्धा व शक्ति के अनुसार कोई उपासना पद्धति अपनाई जा सकती है।

उपासना तो एक न एक प्रकार की सभी कर रहे हैं। अपेक्षित है आध्यात्मिक उपासना, जिससे जवीन के उच्चतर मूल्यों की प्राप्ति हो सके। सात्विक श्रद्धा के साथ मन को एकाग्र करना तथा उपलब्ध शक्ति को परोपकार एवं परलोक साधन में नियोजित करना सार्थक उपासना है। अविधि पूर्वक या हेय मूल्यों के लिये की गई उपासना अपने साथ ही शत्रुता है। उपासना की कोटि के अनुसार ही व्यक्ति स्वयं अपना शत्रु या मित्र बन जाता है। यही तो गीता कहती है-

''आत्मैव आत्मनः बन्धुः आत्मैव आत्मनः रिपुः''

उपासना का अर्थ है अपने साथ मित्रता। यही सबसे अच्छी परिभाषा और सबसे बड़ी उपयोगिता की प्रतिष्ठा है।

अस्पृश्यता का शास्त्रीय एवं व्यावहारिक पक्ष

लोक मान्यता के अनुसार गंगा जी सबके लिए स्पृश्य है, वह सबको पवित्र करती है किन्तु स्वयं अपवित्र नहीं होती है। गाय का मुख अपवित्र होता है किन्तु सम्पूर्ण शरीर पवित्र होता है। चाण्डाल सबके लिए अस्पृश्य होता है। सन्यासी के लिए अग्नि अस्पृश्य होती है। शूद्र का अन्न अपवित्र होता है। राजा का अन्न उससे भी अधिक अपवित्र होता है। अपवित्र स्थान से निकलने पर भी सोना पवित्र होता है। कभी बायाँ हाथ दायाँ के लिये अस्पृश्य होता है, कभी पत्नी पति के लिए। उत्सवों में नाई, धोबी, मुसहर आदि भी समय से स्पृश्य होते है, पातक लगने पर ब्राह्मण और गौ भी अस्पृश्य होते है। आदि। योगशास्त्र के नियम में शौच का बड़ा महत्व है। इसमें दूसरों से असंसर्ग की इच्छा होती है। इस प्रकार के लोक प्रचलित तथा शास्त्रीय विधानों पर विचार करने पर स्पृश्यास्पृश्य भावना के पीछे देश-काल व पवित्रता की भवना मुख्य है। कहीं-कहीं कारण अत्यंत सूक्ष्य है। शास्त्रादेश ही सवौंपरि प्रमाण है। शास्त्रादेश से आचरण करने पर दो तरह के फल होते है- द्दष्ट, अद्दष्ट। जहाँ द्दष्ट फल है वहाँ शास्त्रादेश की प्रमाणिकता सिद्ध की जा सकती है, किन्तु जहाँ फल अद्दष्ट है वहाँ विश्वास ही करना पड़ेगा। विश्वास की बाध्यता होने पर भी यह आवश्यक है, कि उसके आधार पर किये गये आचरण से समाज में शान्ति-व्यवस्था तथा लोक-सग्रह के कार्य का विरोध नहीं होना चाहिए। प्रस्तुत विषय पर इन्हीं माप दण्डों के अनुसार विचार किया जाएगा।

अस्पृश्यता के शास्त्रीय और व्यावहारिक पक्षों के अध्ययन के साथ धार्मिक, वैज्ञानिक,राजनैतिक, समाजशास्त्रीय द्रष्टियों पर भी विचार आवश्यक है। शस्त्रीय विधानों से ही धर्म का स्वरूप बनता है। धर्म व्यावहारिक तथा पारमार्थिक दोनों पक्षों को द्रष्टि में रखता है। इसमें वैज्ञानिकता का होना एक अनिवार्यता है। जो कुछ धार्मिक द्रष्टि से आवश्यक है वह मनोवैज्ञानिक ढंग से भी आवश्यक है। जो वैज्ञानिक द्रष्टि से आवश्यक है, उतना ही धार्मिक दृष्टि से पर्याप्त नहीं हो सकता है, क्योकि धर्म का क्षेत्र पारलौकिक भी है। इस तरह धर्म और विज्ञान का विरोध कहीं नहीं है। स्पृश्यता के प्रकरण में भी वैज्ञनिक दृष्टिकोण स्वीकार्य है। समाजशास्त्र, संस्कृति और परम्परा का इतिहास की पृष्ठभूमि में, शास्त्रीय ढंग से अध्ययन करता है। जिन मूल्यों के लिये कोई परम्परा चली है उनका सेचन वह करती है या केवल रूढि ही रह गई है; इसका अध्ययन समाजशास्त्र में संभव है। धर्मशास्त्र, समाजशास्त्र तथा विज्ञान इन तीनों

के द्वारा स्पृश्यास्पृश्य की समस्या का सम्यक् विवेचना संभव है। यह विषय बौद्धिक बल और व्यवहारिक अनुभूति के आधार पर निर्णय योग्य है। किन्तु, दुर्भाग्यवश आज यह विषय राजनीति की परिधि में चला गया है। राजनीति तो इसका अन्तिम परिवाद-स्थल है। असमय से राजनैतिक हस्तक्षेप के कारण यह विषय उलझ गया है। राजनीति और कानून को दूर रखते हुए उपर्युक्त तीनों शास्त्रों के आधार पर किया गया अध्ययन उचित समाधान दे सकता है।

अस्पृश्यता को पूरी तरह समाप्त करना या सब जगह मानना दोनो हानिकारक है। इसलिए यह समस्या है। चिर-काल से चली आ रही भारतीय सस्कृति, विशाल धार्मिक वाड्मय, वद्धमूल वर्णाश्रम व्यवस्था, लोक प्रचलित जाति व्यवस्था आदि को तिलांजलि दे देना संभव नहीं लगता हैं। किसी को मात्र जाति या लिंग के कारण अछूत कह कर अपमानित करना भी अनुचित है। सबको समान बनाने का हठ या समान लोगों में भेदभाव दोनों ही असंगत है। स्पर्श तो एक उपलक्षण मात्र है। वास्तव में स्पृश्यास्पृश्य की भावना में प्रत्येक तरह के सम्पर्क पर विचार किया जाता है। कान, नाक, आँख, वाणी, मन की क्रियाएँ भी संम्पर्क के माध्यम है। भोजन और शादी-विवाह में भी सम्पर्क होता हैं। व्यवसाय, आदान-प्रदान, पारस्परिक सहयोग आदि सामाजिक क्रियायें भी सम्पर्क के माध्यम है। यह आवश्यक नहीं है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति का हर एक से सब तरह का सम्पर्क हो। कुछ न कुछ सम्पर्क सब का सबसे है। अस्पर्श योग का साधक मन से भी संसार से सम्पर्क नहीं रखना चाहता है। शादी-विवाह तथा भोजन में कुछ लोग अपनी कुल परम्परा के अनुसार रहना चाहते है। इस कार्यसे दूसरे का अहित नहीं होता है। अतः इसे करने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। शेष सम्पर्को में शायद ही कहीं भेदभाव दिखाई पडता हो। योग्यता के अनुसार भेदभाव आवश्यक है, जाति या लिंग के कारण नहीं। उपर्युक्त बातों को मानने में कठिनाई नहीं हैं। छुवाछूत की समस्या बनावटी जैसी लगती है। एक की ईर्ष्या, दूसरे का अहंकार ही इसमें कारण है जो मनौवैज्ञानिक रीति से दूर हो सकता है। धर्म ही इस प्रयास में सार्थक भूमिका अदा कर सकता है। गन्दी वस्तु को अस्पृश्य मानने में वैमत्य नहीं है किन्तु स्वच्छ, पावन पदार्थ भी अस्पृश्य हो जाता हैं। यह विचारणीय है। देश और काल के अनुसार सभी स्पृश्य या अस्पृश्य होते है। निरपेक्ष और शाश्बत अस्पृश्यता या स्पृश्यता कहीं नहीं है। हेत्वाभास के द्वारा स्पृश्यास्पृश्य का निर्णय संभव नहीं है। इसके लिए गहन चिन्तन आवश्यक है अतः शास्त्रों को ही इसका अन्तिम प्रमाण माना गया हैं। पवन सबको पवित्र करता है, किन्तु वह भी दूषित हो जाता है। संसर्ग दोष से पवन ही भोपाल गैस त्रासदी उत्पन्न कर सकता है। पावक भी अस्पृश्य हो जाता है। ज्ञान सबको पवित्र करता है। न हि

ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। संत रविदास ज्ञानी थे वे पवित्र थे ब्राह्मण से अधिक सम्माननीय थे- किन्तु मोची का काम करते समय वह किसी के लिए अस्पृश्य थे। पापवृद्धि और अशौच होने पर प्रायश्चित के पहले ब्राह्मण भी अस्पृश्य होता हैं। किसी शुभ अवसर पर ज्ञानमूर्ति सन्यासी का दर्शन अशुभ होता है। अक्षमाला चाण्डाल की कन्या भी बंह्मर्षि वशिष्ट की पत्नी बनकर अरून्धती नाम से विख्यात हुई। इतिहास में ऐसे अनेक प्रमाण है। लोक में भी यही दिखाई पड़ता है। सभी मनुष्य एक बराबर नहीं हो सकते है, उसी तरह जैसे सभी स्त्रियाँ सबके लिए एक जैसी नहीं होती है। सभी पत्थर एक भाव नहीं होते हैं। कोई निर्मूल्य होता है। कोई अमूल्य। गुण-दोषमय यह सृष्टि हैं। कुयोग-सुयोग से सभी अच्छे बुरे होते रहते है। गनि गुनदोष वेद विलगाऍं-शास्त्रों ने सब की उपयोगिता यथा-स्थान प्रतिपादित किया है। तात्कालिक आवेश में शास्त्रों को अमान्य कहना संस्कृति का मूलोच्छेदन है। ध्यान देने पर सोपानात्मक रूप से स्पृश्यास्पृश्य की अनन्त श्रेणियाँ दिखाई पड़ती हैं। उनमें से अधिकांश सबको मान्य भी है। जहाँ विवाद है वहाँ शास्त्र पुरस्सर पुनः विचार करना आवश्यक है।

कोई भी परम्परा या आचार-पद्वति निरूद्देश्य नहीं प्रचलित होती है। तत्वदर्शी मनीषियों के द्वारा प्रचारित मार्ग के विषय में कोई शङ्का उस काल में नहीं होतीहै। उस समय वह आवश्यक होती है। पुरानी होने पर भी उसकी उपयोगिता तथैव बनी रह सकती है। यदि कुछ आपत्ति है तो समान्य परिवर्तन के द्वारा वह अद्यतन उपयोगी की जा सकती है। इस दृष्टिकोण से भारतीय शास्त्रों एवं संस्कृति पर विचार आवश्यक है। स्पृयास्पृश्य की भावना के पीछे जिस पवित्रता या शास्त्रादेश की आवश्यकता पहले थी उसकी उपादेयता आज भी भारतीय समाज को है या नहीं यह विचारणीय है। हमारी आचार-पद्धति रीति-रिवाज, धार्मिक कृत्य, मूल्यों की अवधारणा तथा सामाजिक व्यवहार में इसका अब भी स्थान है। पवित्रता, की भावना भारतीय संस्कृति में एक मूल्य है। व्यक्तित्व के विकास के लिये पूर्ण अवसर देना समाज और शासन का दायित्व है। पवित्रता की भावना के पीछे व्याक्तित्व के आदर की भावना निहित है। साधक और सिद्ध के विषय में पवित्रता के स्तर में बहुत अन्तर है। सिद्ध व्यक्ति को सम्पर्क से अशौच नहीं होता है। किन्तु साधक को होता है। स्ववर्म के अनुसार साधक को अभीष्ट पवित्रता का अवसर देना उचित है। इस विषय को सर्वाङ्गीण रूप से देखना आवश्यक है। रामराज्य एक आदर्श युग माना जाता है। उपलब्ध साक्ष्य के अनुसार उस समय, स्वधर्म का पालन सभी करते थे। उस समय व्यक्ति को पूर्ण विकास का अवसर था। अस्पृश्य समझ कर किसी को अपमानित या नियन्त्रित नहीं किया जाता था। स्पधर्म से सभी

मर्यादित थे। सबको न्याय मिलता था। ऐसे राज्य की कामना है तो, स्पृश्यास्पृश्य की भावना को आनुषंगिक मानते हुए स्वधर्म मालन को ही प्रधानाता देने से समस्या मसाप्त हो जाती है।

अधिकार के भेद से उच्चावर का निर्णय होता है। अधिकारी होने पर कर्त्तव्य की बाध्यात भी होती है। कर्त्तव्य के न रहने पर अधिकार स्वतः समाप्त हो जाता हैं। पद या जाति के कारण जो अधिकारी बनना चाहते है, उनकी दुर्दशा आज सभी देख रहे है। जाति मात्र से कोई पद, प्रतिष्ठा या पूज्यता नहीं पा सकता है। पाखण्ड या दबाव से प्राप्त पद, सम्पर्क में रहने वाले सभी के लिए अधःपतन का कारण बनता है। गुण तथा स्वभाव के अनुसार क्षमता होती है। इसी से पात्रता या योग्यता मिलती है। पात्रता होने पर अधिकार मिलता है। यह क्रम सुदृढ़ रहने पर सामाजिक व्यसस्था ठीक रहती है। जो जिस काम को करने का अधिकारी है उसे वही करना चाहिए। अत्यत्र हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। स्वधर्म की भावना के पीछे भी यही नीति है। पर धर्म से डरना चाहिए। स्वधर्म के निर्धारण में समस्या है इस समस्या को हल करने पर अस्पृश्यता आदि सभी समस्याएं हल हो जाएगी।

स्पृश्यास्पृश्य की भावना के पीछे देश-काल अधिकार (उपयोगित) के अनुसार शास्त्रादेश ही प्रमाण हैं। पवित्रता साध्य नहीं साधन है। यथासमय साधन की आवश्यकता मान्य है। स्पृश्यास्पृश्य को बडा-छोटा या ऊचं-नीच का पर्याय नहीं मानना चाहिए। अस्पृश्य होने से न तो निन्दनीय होता है न ही तुच्छ। स्पृश्य हो या अस्पृश्य जो ही स्वधर्म में आगे है वही बडा है वही सम्माननीय है। पाखण्डियों द्वारा गलत मान्यता के कारण बनी हुई यह समस्या है। स्वधर्म पालन की भावना के द्ढ होने पर स्पृश्यास्पृश्य रहेंगे, किन्तु समस्या नहीं रह जाएगी।

स्वदेशी की भावना

जहाँ भी रहने का स्थान, अवकाश या आश्रय हो देश कहा जाता है। धरती, आकाश जल सभी देश हैं। जिस देश से आत्मीयता हो जाती है वही स्वदेश है। जिन्हें संसार से कुछ नहीं लेना है ऐसे महात्माओं के लिये सर्वत्र स्वदेश ही होता है-स्वदेशो भुवनत्रयम्। किन्तु व्यवहार में, आदान-प्रदान हेतु स्वदेश की सीमा होती है। वह देश भौगोलिक स्थिति - नदी, पहाड़, शासन, भाषा, संस्कृति, विद्यायें, आचरण, विचार, परम्परा, वेश-भूषा, व्यवसाय, उत्पाद आदि के द्वारा अन्य देश से भिन्न होता है। अपने देश तथा तत्सम्बन्धी पदार्थों के प्रति निष्ठा और सम्मान की भावना ही स्वदेशी की भावना है। इस भावना का मूल्यांकन सांस्कृतिक अस्मिता के रूप में पहले से है किन्तु इसे अनेक आयामों में महात्मा गाँधी ने भली-भाँति समझा तथा अपनाया। वर्तमान समाज के लिये स्वदेशी की भावना का महत्व बढ़ गया है। समाजिक विघटन तथा शासन व राजनीति में भ्रष्टाचार से उत्पन्न समस्या का निदान स्वदेशी की भावना के पोषण में है। अतः इस विषय का विवेचन आवश्यक है।

यह एक स्थापित सत्य है कि मनुष्य के कार्य और उपलब्धियाँ देश और काल के अधीन होती हैं। देश, काल का अतिक्रमण करने वाला युग पुरूष कभी-कभी होता है। उसकी चर्चा यहाँ वांछित नहीं है। साधारण परिस्थिति में देश ही धर्म, संस्कृति, व्यवसाय आदि का मूल है। देश विशेष का एक विशिष्ट गुण होता है जो उसकी भौगोलिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से जुड़ा रहता है। प्रत्येक देश की विशिष्टता के अनुसार वहाँ के निवासियों के गुण और स्वभाव में विशिष्टता होती है। भोजन की ही तरह आचार-विचार तथा व्यवहार में भी सात्म्य-असात्म्य की परिभाषा देशगत होती है। आयुर्वेद बताता है कि जिस देश में जो बीमारी है उसी देश में उसकी दवा भी पैदा होती है। देश की विशिष्टता के अनुसार रहने पर जन-मानस सुखी और उर्ध्वगामी होता है अन्यथा विक्षिप्त होकर कलहलिप्त हो जाता है। अतः स्वदेश तथा स्वदेशी को पहचानना एव उसका सम्मान करना होगा। वैसे समस्त ब्रह्माण्ड एक देश है किन्तु विशिष्ट कार्य हेतु विभाजन स्वीकार करना होगा। सर्वत्र स्वदेशी का हठ करना भी उचित नहीं है। हिटलर और मुसोलिनी की तरह स्वदेशी होना अनर्थ है। स्वदेशी की भावना का आदर करते हुए उसकी सीमा पर भी दृष्टि रखना सन्तुलन के लिये आवश्यक है।

गाँधी जी ने आचार की पूर्णता के लिये एकादश आदर्शों को स्थापित किया था। उसमें स्वदेशी भी एक है। गाँधी का यह व्रत सामाजिक आचरण का एक अंग था। इसका सबसे प्रथम उद्देश्य था स्वाभिमान की रक्षा। आत्म गौरव को समझना, मानसिक दासता से मुक्ति, दूसरों से कमजोर रहकर उनसे माँगने के स्थान पर सबल होकर देने की क्षमता ही स्वदेशी की भावना का उद्देश्य था। इस भावना के होने पर ही स्वतन्त्रता का अर्थ समझ में आता है। स्वतन्त्रता के निमित्त पूर्ण योग्य होने के लिये और उसका पात्र बने रहने के लिये स्वदेशी की भावना आवश्यक है।

स्वदेशी की भावना पर विचार करने के लिये तीन दृष्टिकोण हो सकते हैं- शुद्ध राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक। इन दृष्टियों में से सामाजिक दृष्टिकोण ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इससे स्वधर्म की प्रतिष्ठा होती है जिससे सामाजिकव्यवस्था सुदृढ़ रह सकती है। 'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् तथा स्वधर्मे निधनं श्रेयः पर धर्मो भयावहः-गीता की इस मान्यताओं का पोषण स्वदेशी की भावना से ही हो सकता है। संस्कृति और धर्म देश से मूलबद्ध होते है। आचार, परम्परा, सामाजिक गठन, व्यवहार आदि सभी इसके अन्तर्गत समाहित हैं। सब की रक्षा के लिये स्वदेशी की भावना चाहिए। स्वदेशी की भावना का अर्थ सर्वत्र ही स्वाभिमान, अस्तित्वबोध, स्वदेशी के प्रति निष्ठा और सम्मान है।

स्वेदेशी की भावना पर राजनैतिक दृष्टि से विचार यहाँ वाछित नहीं है। आर्थिक दृष्टि से विचार करने पर भी विषय विवादास्पद ही रहता है। आजकल यातायात और परिवहन के साधनों के कारण तथा विश्व-व्यापार की नीति को देखते हुए स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग पर आग्रह करना उपभोक्ताओं के साथ न्याय नहीं है। हाँ, कला और स्थानीय शिल्प तथा व्यवसाय के प्रोत्साहन के लिए स्वदेशी की भावना अपेक्षित है। ज्ञान और तकनीक कहीं से अर्जित करके अपने देश में विकसित करना तथा अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करना स्वदेशी की भावना के अनुरूप है। ज्ञान सावंभौम होता है। ''आनोभद्रा क्रतवो यन्तु विश्वतो..............'' यह वैदिक मान्यता है। अतः विश्व भर में ज्ञान का आदान-प्रदान और उसका विकास होना स्वदेशी के अनुरूप है। ज्ञान कभी भी विदेशी नहीं है। उसका उपयोग स्वदेशी और विदेशी नीति से हो सकता है। उपयोग में हमें स्वदेशी रहना चाहिए। सर्वत्र ही स्वदेशी की खोज संकीर्णता का परिचायक है। विश्वबंधुत्व और ज्ञान के आदान-प्रदान का मार्ग प्रशस्त रखना उचित है। अपनी अस्मिता तथा भारतीयता, की रक्षा के लिए स्वदेशी होना पड़ेगा। यह भावना का विषय है। भावना के उपलब्ध होने पर अमेरिका, योरप में भी हम स्वदेशी की खोज कर सकते हैं। हिंगलाज में देवी का दर्शन करने

या मानसरोवर जाने में जो भावना है वह स्वदेशी से उत्पन्न है। इस भावना के लाने पर ही हम ''कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'' के संकल्प को पूरा कर सकते हैं। अपने आचार-विचार, वेष-भूषण, भाषा, धर्म एवं संस्कृति, परम्परा, विद्या तथा व्यवहार के साथ धरती, नदी, पहाड़ आदि के प्रति सम्मान एवं अपनत्व की भावना रखना ही स्वदेशी का पोष्ण है। विदेशी लोग अब भी भारत से कुछ न कुछ सीख रहे हैं। हमें स्वाभिमान एवं आत्म विश्वास के साथ अपनी विद्याओं तथा परम्पराओं को सत्पात्र बनाकर उन्हें देना चाहिए। हीनभावना को दूर करने के लिये स्वदेशी की भावना अपेक्षित है। स्वदेशी का सम्मान हम स्वयं करेंगे तभी बाहरी लोग भी विश्वासपूर्वक उसे अपनायेगें। हम भटक गये थे, समय की आवश्यकता है कि स्वदेश को लौटें।

लोकनीति एवं राजनीति

इस विषय के विस्तार में जाने के पूर्व नीति शब्द का अर्थ तथा लोकनीति एवं राजनीति का तात्पर्य, क्षेत्र एवं प्रयोजन समझ लेना आवश्यक है। नीति का अर्थ है पद्धति मार्ग या रास्ता। नीयते-प्राप्यते अनया इति नीतिः। जिस मार्ग से चलकर, उपलब्ध उपकरणों से सहायता लेने की विधि को जानते हुए, लक्ष्य तक पहुँचा जा सके वह नीति है। समाज के प्रत्येक प्राणी का लक्ष्य पुरूषार्थ सिद्धि है। सुख शान्तिमय समाज में ही पुरूषार्थ सिद्ध हो सकते हैं। अतः सामाजिक व्यवस्था एवं धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति ही लक्ष्य है। यह सब जिस पद्धति से प्राप्त होते हैं उसे लोकनीति कहते हैं। लोकनीति को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए जो विशेष विधान बनाए गए हैं वह राजनीति के अन्तर्गत हैं। राजनीति अपने स्वयं के लिए नहीं बल्कि लोकनीति की सहायता के लिए होती है। अतः इसे राजधर्म कहते हैं। इमानदारी, अंहिसा, सत्य, परस्पर,-सद्भााव, दान, दया, तप, त्याग आदि सद्गुण ही लोकनीति के आधार है। इन आधारभूत गुणों में गिरावट न होने पाए इसकी व्यवस्था हेतु राजनीति होती है राजनीति भी उन्हीं आदर्श गुणों से अनुप्राणित होती है। राजनीति में विशेषता दण्ड की है। दण्ड के विधान के द्वारा दुष्टों का निग्रह करना तथा सन्मार्ग पर रखना राजनीति का उद्देश्य है। ''गुरूः आत्मवतां शास्ता, राजा शास्ता दुरात्मनाम्'' इस वाक्य का अर्थ है कि सज्जनों के ऊपर शासन लोकनीति का है तथा दुर्जनों के ऊपर राजनीति शासन करती है। सज्जनों के ऊपर शासन करने का राजनीति का कोई प्रयोजन नहीं है। दुर्जनों के ऊपर शासन करने में लोकनीति सक्षम नहीं है। इस तरह कार्य विभाजन हो जाता है। किन्तु मूल उद्देश्य लोकनीति की स्थापना ही है।

शरीर रचना के उदाहरण से लोकनीति और राजनीति को समझा जा सकता है। सम्पूर्ण शरीर लोक है। इसमें अस्थियाँ होती हैं जिनके सहारे अन्य अंग स्थिर रहते हैं। लोकनीति का अंगभूत राजनीति उसी तरह है जैसे शरीर का अंग अस्थि है। अस्थि जाल शरीर में त्वचा माँस आदि से आवृत होता है। राजनीति को भी नग्न नहीं रक्खा जा सकता है। लोकनीति के अवयवों से आवृत्त ही शोभन राजनीति है। बिना शरीर के अस्थियों का कोई महत्व नहीं है। वे कंकाल मात्र है। इसी तरह लोकनीति के बिना राजनीति की स्थिति है। अन्य विस्तार आसानी से समझा जा सकता है। लोकनीति और राजनीति में कौन पहले है और कौन बाद में इसका उत्तर भी उपर्युक्त उदाहरण से जाना

जा सकता है। शरीर रचना के पहले द्रव-द्रव्य रहता है, किन्तु अस्थि का सूक्ष्मांश उस द्रव में निहित रहता है। प्रकट रूप से पहले लोक है उसके बाद राज्य। लोकनीति के प्रवर्तन की शक्ति को राजनीति कह सकते हैं। राजनीति इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं करती है तो कंकाल की तरह हेय है।

आँख की ज्योति और रक्षा के लिए अञ्जन होता है। अगर अञ्जन लगाने से आँख ही फूट जाय तो उसे अञ्जन नहीं कहेगें- अञ्जन कहाँ आँख जो फूटे। वर्तमान समय में लोकनीति समाप्तप्राय है। सर्वत्र राजनीति का स्थान हो गया है। दोनों नीतियाँ एक रेखा पर पहुँच गई है। पंचायत व्यवस्था लोकनीति में थी। अब वह भी राजनीति का अंग हो गयी इस तरह लोकनीति मृतप्राय है। कंकाल का भयावह रूप स्पष्ट है। मानव-मूल्यों के अभाव में राजनीति कर ही क्या सकती है। मानव मूल्य तो लोकनीति में ही मिलेंगे। अतः राजनीति को अपना अस्तित्व (महत्व) बनाए रखने के लिए भी लोकनीति की स्थापना के लिए अवसर देना होगा।

राजनीति के स्वर्णिम काल में राजा लोकाराधन के लिए सर्वस्व त्याग करने को उद्यत रहता था। ''आराधनाय लोकस्य त्यजतो नास्ति में व्यथा'' कहते हुए उत्तररामचरित में राजा राम ने एक आदर्श स्थापित किया है। लोक में जो श्रेष्ठ न हो वही राजा हो जाय तो आदर्श ही सदोष हो जाता है। अतः लोकनीति की रक्षा के लिए श्रेष्ठ राजा (राजनीतिज्ञ) की आवश्यकता है। ठीक कहा गया है- ''राजा कालस्य कारणम''। वर्तमान समय में लोकनीति के नाम पर भी राजनीति चल रही है। गाय के मुँह से व्याघ्र का कार्य हो रहा है। यह राजनीति का निकृष्टतम काल है। बड़े-बड़े लोग छोटी-छोटी बातों के लिए भी असत्य बोल रहे हैं। लेकिन समाज में संजीवनी शक्ति देने वाली व्यवस्था अन्यत्र भी है। इसी समाज से श्रेष्ठ राजनीतिज्ञ भी उत्पन्न हो सकता है। महाकाल का भ्रू विलास वर्तमान धारा को विपरीत करेगा ही, तब तक धैर्यपूर्वक सत्प्रयास में लगे रहना बुद्धि-जीवियों का कर्तव्य है। ''अइहैं कबहुँ वसन्त ऋतु'' की आशा में रहना उचित है।

आजकल लोकनीति एक विस्मृत विषय हो गया है। जन्म से लेकर मृत्यु तक मनुष्य राजाश्रयी हो गया है। बाढ़ सूखा, महामारी आदि विभीषिकाओं के समय राज्य से सहायता की अपेक्षा करना तो ठीक है, किन्तु शिक्षा, रोजगार परस्पर व्यवहार आदि के विषय में भी राज्य से अपेक्षा करना समाज की मृत संजीवनी शक्ति का लक्षण है। लोकनीति के प्रवर्तन से ही राज्य की अधिकांश समस्याओं का निराकरण हो सकता है। अनेक यूनियन अनावश्यक हैं तथा उनके माँग व पत्रक समाज के सामने निस्तारित हो सकते हैं। राज्य इन सबका निदान ढूढ़ने में समर्थ भी नहीं है। आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियों का काम

हड्डी से नहीं हो सकता है। इन कार्यों के लिए विशिष्ट अंग ही सक्षम है। राजनीतिक कंकाल को भ्रम छोड़कर लोकनीति की रक्षा हेतु कार्य में लगना चाहिए तथा लोकनीति के अन्तर्गत आने वाले कार्यो को समाज को सौंपकर उसमें सहायक होना चाहिए। समाज की समग्रता लोकनीति में ही है। राष्ट्रीकरण की प्रथा अब बन्द हो रही है तथा निजी व्यवसायों को प्रोत्साहन मिलना आरम्भ हुआ है। इसी क्रम में नीतियों का भी राष्ट्रीकरण समाप्त करके लोकनीति को समाज के हाथ सौंप देना समय की माँग है।

भारतीय समाज का भविष्य : धर्म की भूमिका

अपनी संस्कृति की महिमा को समझने वाले तथा इसमें अनुरक्त विचारकों में, वर्तमान समय को देखते हुए, यह जानने की स्वभाविक उत्कण्ठा होती है कि भारतीय समाज भविष्य में कैसा होग। विगत अर्द्धशताब्दी में तीव्र सामाजिक परिवर्तन तथा उत्तरोत्तर तीव्रतर परिवर्तन की गति को देखते हुए अनिश्चय गम्भीर होता जा रहा है। अतः जिज्ञासा यथा समय उचित ही है। प्रस्तुत सन्दर्भ में भारतीय समाज से अभिप्राय उस मानव समाज से है जो इस देश में रहते हैं या बाहर किन्तु भारतीय संस्कृतिक एवं परम्पराओं, जीवन के आदर्शों, नीतियों तथा धार्मिक मान्यताओं एवं आचारों से अनुप्राणित हैं। इस देश में हजारों वर्ष से बाह्य राजनैतिक तथा धार्मिक हस्ताक्षेप होते आ रहे है किन्तु सत्य एवं ज्ञान के प्रति आदरभाव तथा उदारता के कारण यहाँ की संस्कृति ने सभी बह्य प्रभावों को आत्मसात् कर लिया तथा सम्पर्क से हमारी संस्कृति का ही प्रसार विदेशों तक होता चला गया। किन्तु वर्तमान समय में बाह्यप्रभाव को समाहित करना तथा उनके प्रति आकर्षण का त्याग करना दोनों सम्भव नहीं है। हमारा समाज पुराने समय में सशक्त एवं सुगठित था जिससे बाहरी आघातों को झेलना सुसाध्य था। अब समाज अन्दर से निर्बल व विघटित हो चला है। धर्म, भाषा, प्रान्तीयता आदि की संकीर्ण भावनाएँ तो है ही, जाति की समस्या ने समाज की संजीवनी शक्ति को ही ग्रसित कर लिया है। अतः बाह्य प्रभावों को झेलना इस समाज के लिए दुस्साध्य है। इस समस्या को देखते हुए भविष्य का आकलन करना कठिन अवश्य है किन्तु प्रयास करना मानव स्वभाव एवं विचारकों का उत्तरदायित्व है।

आज सम्पूर्ण विश्व में एक मानव समाज होने की चर्चा होती है। सम्पर्क के साधनों से दूरी का व्यवधान नहीं रह गया है। विश्व-समाज बन सकता है किन्तु अपनी सत्ता का विलय कोई समाज नहीं कना चाहता है। परस्पर अविश्वास एवं अज्ञानजन्य अहंकार व्याप्त है। इतना ही नहीं विश्व-समाज की रचना में अन्य बाधाएँ हैं। आर्थिक समानता या राजनैतिक नियन्त्रण के आधार पर एकता सम्भव नहीं है। राजनीति के विविध तन्त्र विफल हो चुके हैं। प्रजातन्त्र की बुराइयों से सामाजिक कैंसर फैल रहा है। अर्थशास्त्र की सीमा के बाहर समस्यायें बढ़ रही हैं। समाजवाद और पूँजीवाद दोनों विफल हो रहे हैं। मनुष्य केवल रोटी पर जीवित नहीं रह सकता है। स्वतन्त्रता उसकी स्वाभाविक इच्छा है। अतः धर्म एवं नीति के आधार पर ही विश्व समाज की रचना सम्भव है।

इसके बिना समाजशास्त्रीय अध्मयन निष्फल होगा। बालू से तेल नहीं निकल सकता। संस्कृतियों के अध्ययन और समन्वय से प्रयास सार्थक हो सकता है। संस्कृति को उचित मान्यता देने पर विश्व की प्राचीनतम भारतीय संस्कृति को सर्वोपरि महत्व देना होगा। भारतीय संस्कृति में विशिष्टता धर्म की है। विश्व में जितने प्रकार के धर्म हैं सभी भारतीय धर्म के विविध सम्प्रदायों में ही विलीन हो सकते हैं। इतना स्वतन्त्र एवं विस्तृत धर्म चिन्तन अन्यत्र है ही नहीं। विश्व समाज की रचना मं संस्कृति व धर्म को आधार बनाना ही एक मात्र उपाय है। धर्म का कैसा रूप हो यह विचारणीय है जिससे इसी नाम पर विवाद न उत्पन्न हो सके। धर्म सापेक्ष होकर सम्प्रदाय निरपेक्ष शासन रहे तभी व्यवस्था सम्भव है। भारत में ऐसी शासन व्यवस्था पहले भी रही है।

हम भारतीय अपने संस्कृति के गौरव को भूल रहे हैं। यही संस्कृति विदेशों में आहात होकर आयातित होगी तब इसका महत्व यहाँ भी बढ़ेगा। विश्व समाज की अवधारणा के पूर्ण होने पर भारतीय समाज का वृहद् रूप दिखाई पड़ेगा। विश्व समाज की रचना के लिये सामग्री भारत से मिल सकती है किन्तु निर्माण कार्य यहाँ के द्वारा सम्भव नहीं है। अतः इस आशा के पूर्ण होने के पहले भारतीय समाज को सुरक्षित रखना हमारा परम कर्त्तव्य है। यहाँ की संस्कृति मानव जाति के लिये अमृतघट है। इस अमृतघट के प्रथम उत्तराधिकारी भारतीय हैं। हम अपनी सम्पदा को पहचानें।

भारतीय समाज का भविष्य वर्तमान गतिविधि एवं स्थिति के आधार पर निराशाजनक है। धर्म एवं आध्यात्मिकता की अवहेलना स्पष्ट है। ईश्वर से भय नहीं है तथा उसकी व्यवस्था में विश्वास नहीं रह गया। पुनर्जन्म, कर्मवाद, पाप-पुण्य का महत्व, स्वधर्म आदि महत्वपूर्ण भारतीय मान्यताओं का लोप हो रहा है। इनके बिना निष्प्राण धर्म समाज को धारण नहीं कर सकता है। ऐसी स्थिति में अव्यवस्था, युद्ध, संहार तथा प्राकृतिक आपदाओं का होना नैसर्गिक परिणति है। ईश्वर सृष्टि एवं विनाश दोनों के द्वारा धर्म की स्थापना करता है। गीता को न भूलें कि-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्रिणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थय संभवामि युगे-युगे।।

यह व्यवस्था अनिवार्य भविष्य के रूप में स्थापित है। उसमें संदेह नही! युगान्तर अभी होगा या कुछ काल बाद, यह निर्णय मानव समाज को करना है। वर्तमान गतिविधि से हम प्रत्यावर्तन कर सकते हैं तो युगान्तर टलेगा। प्रत्यावर्तन के लिये मार्ग और परिस्थितियाँ उपलब्ध हैं। समाज को धारण करने वाले देवता

(धर्म) की सेवा हो सकी तो संस्कृति बचेगी। धर्म के अलावा अन्य कोई सामाजिक घटक वर्तमान समाज की रक्षा नहीं कर सकता है।

हमारी संस्कृति में जीवन का उद्देश्य आध्यात्मिक उन्नति के द्वारा जीवन-मुक्ति तक रहा है। अब पाश्चात्य एवं अरबी सभ्यता के प्रभाव से अर्थ एवं भोग ही हमारे उद्देश्य हो गये हैं। इनकी प्राप्ति के लिये नैतिकता एवं धर्म का कोई स्थान नहीं रह गया है। अपने मूल उद्देश्य को छोड़ कर हम बाहरी संस्कृति की ओर गये हैं। यह अधोपतन की अन्तिम सीमा है। वास्तव में हम पाश्चात्य या अरबी संस्कृति को भी नहीं स्वीकार किये हैं, कर भी नहीं सकते हैं। जब नैतिकता का पुनर्जागरण होगा तो हम भारतीय ही बनकर रहेंगे।

सामाजिक व्यवस्था में बाह्य प्रभाव से अल्प-भय हैं, अपने देश की राजनीति से ही विकट भय उत्पन्न है। शासन तन्त्र में परिवर्तन होने पर भारतीय समाज का भविष्य आशापूर्ण हो जायेगा। राजनैतिक परिवर्तन के लिये भी धर्म ही सक्षम है। अतः सभी तरह से धर्म से ही आशा का संचार होता है। इतने विस्तार के बाद हम महाभारत के उसी निर्णय पर पहुँचते हैं-

''धर्मादर्थश्च कामस्च स धर्मः किं न सेव्यते।''

हिन्दुत्व के लक्षण

किसी भी शब्द की अर्थ-ज्ञापन कराने की शक्ति को जानने के लिए व्याकरण, उपनाम, कोष, आर्षवाक्य, व्यवहार, वाक्य शेष एवं सन्निधि की सहायता ली जाती है।[1] हिन्दू शब्द अर्वाचीन है। किसी भी प्रमाणिक प्राचीन ग्रन्थ में नहीं मिलता है। मेरू तन्त्र एवं कालिका पुराण में हिन्दू शब्द प्रयुक्त है किन्तु यह प्रक्षिप्रांश माने जाते हैं। आधुनिक कोषों एवं प्राचीन परसियन शब्द कोष में यह शब्द है किन्तु अत्यन्त भिन्न अर्थो में मिलता है। इसकी अर्थ शक्ति जानने के लिए व्यवहार ही एक मात्र आधार बनता है। राजनितिजन्य खींच-तान के कारण व्यवहार में भी असमानता है। लगभग विगत एक शताब्दी से इस शब्द का उपयोग मनमाना ढंग से करने का प्रयास हो रहा है। बुद्धिजीवियों ने भी 'हिन्दू' को परिभाषित करने का प्रयास किया, किन्तु विवाद बना ही रहा। हिन्दू सिविल कानून में वैधानिक दृष्टि से परिभाषा दी गई है। उच्चतम न्यायालय ने हाल ही में, हिन्दू और हिन्दुत्व के विषय में कुछ लक्षणों को स्थापित किया है। माननीय न्यायालय की शक्ति के कारण राजनैतिक हस्तक्षेप नियंत्रित हो सकता है तथा व्यवहारिक अर्थ स्थापित हो सकता है। राजनैतिक लाभ-हानि का आकलन यहाँ अभिप्रेत नहीं है। भौगोलिक एवं सांस्कृतिक आधार पर बने भारतीय समाज के संगठन के लिए हिन्दू और हिन्दुत्व को निर्विवाद रूप में परिभाषित करना उपयोगी है। परिभाषा तो कठिन है किन्तु कुछ लक्षण स्थापित हो सकते हैं यह प्रयास इसी प्रयोजन से है।

ऐतिहासिक एवं भौगोलिक दृष्टि से सम्यक् विचार करने पर यह विश्वसनीय लगता है कि सिन्धु नदी के आर-पार एक समृद्ध संस्कृति थी। इस संस्कृति का प्रभाव पूरे भारत वर्ष में तथा और दूर-दूर तक व्याप्त था। यह आर्यो की संस्कृति थी। इसकी कुछ मान्यताओं को अपनाने पर भी, मुख्य बातों पर विरोध होने के कारण, परसिया में दूसरी प्रतिद्वन्दी संस्कृति थी। परसियन लोग आर्यो के सिन्धु से सम्बद्ध होने के कारण हिन्दू कहने लगे। भाषा विज्ञान के अनुसार सिन्धु से हिन्दू बनना संभव है। अपने शत्रु की जो भी संज्ञा हो निन्दार्थक ही लगती है। अतः परसियन भाषा में हिन्दू का अर्थ दस्यु, नास्तिक आदि हो गया। यह अर्थ वहां के लोगो के लिए था। इसी शब्द का प्रयोग जब आर्यो ने अपने लिए स्वीकार किया तो अपनी संस्कृति के सारे गुणों को उससे जोड़ दिया। इस तरह हिन्दू शब्द के दो विपरीत अर्थ होना स्वाभाविक है। हम अपने को जिस अर्थ में हिन्दू मानते हैं उसे जानना चाहिए।

केवल हिन्दुस्तान में रहने वालों को हिन्दू मानने पर प्रवासी भारतीय अलग हो जाते हैं जबकि वे अपने को हिन्दू मानते हैं तथा भारतीय संस्कृति से अनुप्राणित है। भारत में रहने वाले सभी व्यक्ति हिन्दू हैं ऐसा भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि कुछ लोग स्वयं अपने को हिन्दू नहीं मानते तथा भारतीय संस्कृति से उनका अनुप्राणन भी नहीं है। अतः शुद्ध भौगोलिक आधार नहीं बनता है। इस प्रभाव को बिल्कुल नकारा भी नहीं जा सकता है। संस्कृति पर भौगोलिक घटकों का प्रभाव पड़ता है। नदी, पहाड़, समुद्र, वनस्पतियाँ, जल, वायु, सूर्य की रश्मियाँ आदि मानव मन एवं बुद्धि के नियामक है। परस्पर व्यवहार एवं जीवन के मूल्यों के निर्धारण में इनका प्रभाव पड़ता है। इसी कारण से भारत देश जिसे हिन्दुस्तान, आर्यावर्त, अजनाभवर्ष आदि नामों से जाना जाता है, एक विशिष्ट संस्कृति रखता है। यह वैदिक संस्कृति है जिसकी धारा का अक्षुण्ण प्रभाव सनातन रूप में आज भी है। धरती के प्रभाव एवं श्रद्धा के बल पर संस्कृतियाँ जीवित रहती है। इन्हें स्वीकार करने में वस्तुनिष्ठता एवं व्यक्तिनिष्ठता दोनों का समावेश होता है। भारतीय संस्कृति में दोनों तत्वों का सन्निवेश इतना अधिक है कि वह अमरवेलि हो गयी है। भारतीय संस्कृति में दोनों भी नितनूतन है। यही हिन्दू संस्कृति के नाम से भी अभिहित है। इसे अपनाने वाले सभी हिन्दू हैं। नागरिकता के आधार पर भारतीय अन्य कोई भी हो सकता है किन्तु हिन्दू वही है जो भारतीय या वैदिक संस्कृति के तत्वों से अनुप्राणित है।

यह निर्विवाद है कि भारत देश की मूल संस्कृति अत्यन्त प्राचीन है। लगता है कि इसका आदि किसी को ज्ञात नहीं है। वेद, ब्राह्मण आरणयक, स्मृति, पुराण, इतिहास, काव्य, नाटक आदि जो भी साहित्य उपलब्ध है सब में आचरण और लक्ष्य (पुरूषार्थ) सम्बन्धी समानता सर्वत्र पाई जाती है। मूल तत्व अपरिवर्तित रहे हैं। वैदिक ज्ञान के आधार पर ही संशोधन एवं सुधार के प्रयास अनेक बार हुए किन्तु मूल तत्वों पर आघात नहीं हुआ है। बौद्ध, जैन, संशोधन के लिए, सिख रक्षा के लिए ब्रह्म समाज, आर्य समाज आदि सुधार के लिए क्रान्तिकारी प्रयास थे। मूल भारतीय संस्कृति का विरोध कहीं नहीं है। अतः यह सभी हिन्दू की परिभाषा के अन्तर्गत है। आर्य, सनातनी तथा विभिन्न समाजी लोगों को उनकी पसन्द के अनुसार अलग-अलग नामों से कहा जा सकता है किन्तु हिन्दू शब्द की परिधि में वे भी हैं। शाक्त, शैव, वैष्णव तथा सैकड़ों समुदाय के लोग हिन्दू से इतर नहीं है। बाहर से आकर भी जो लोग इस संस्कृति में मिल गए वे भी हिन्दू हैं। इस तरह ऐतिहासिक, भौगोलिक, एवं सांस्कृतिक परिप्रक्ष्य में ही हिन्दू की परिभाषा बनती है।

कुछ विचारकों द्वारा दी गई हिन्दू की परिभाषायें निम्नलिखित हैं-

आसिन्धोः सिन्धु पर्यन्ता यस्य भारत भूमिका।
पितृभूः पुण्य भूश्चैव स एव हिन्दू इति स्मृतः।।

(लोकमान्य तिलक)

(सावरकर, बोलकर आदि ने भी इसी में कुछ संशोधन करके इसे स्वीकार किया था।)

ओंकार मूलमंत्राढ्यः परलोक दृढ़ाशयी।
गोभक्तो भारतगुरूर्हिन्दू हीनत्व ईषकः।।

(शास्त्रार्थ-महारथी माधवाचार्य)

यस्य गोषु पराभक्तिः प्रणवे च दृढ़ामतिः।
पुनर्जन्मनि विश्वासः स हिन्दू अभिधीयते।।

(स्वामी करपात्री)

''भारत की प्राचीनतम् आर्य परम्परा को अपनी परम्परा स्वीकार करता हुआ जो भारत की संस्कृति, भारत के धर्म को पूर्ण रूप से व अंश रूप से अपनावे वही भारतीय के लिए हिन्दू है''

(हिन्दुत्व-रामदास गौड)

अन्यत्र–

हिंसया दूयते यश्च सदाचरण तत्परः।
गो द्विज प्रतिभा सेवी स हिन्दू पद मुख्ययाक्।।

हिन्दू ला में नकारात्मक ढंग से परिभाषा दी गई है जिसके अनुसार हिन्दू वह है जो मुसलमान, इसाई, यहूदी या पारसी नहीं है। उपर्युक्त परिभाषाओं में व्यवहार को ध्यान में रखते हुए अतिव्याति, अव्याप्ति आदि का आंकलन विद्वान् स्वयं करेंगे। कानून की दृष्टि से हिन्दू ला में दी गई परिभाषा राजकीय कार्यो के लिए स्पष्ट और पर्याप्त तथा अन्य कार्यो के लिए भी उपयोगी है। सामाजिक दृष्टि से इसमें कुछ संशोधन हो सकता है। माननीय उच्चतम् न्यायालय ने एक निर्वाचन सम्बन्धी याचिका में हिन्दू और हिन्दुत्व के विषय में जो मान्यताएँ स्थापित किया है,वह व्यवहार के योग्य है। हिन्दू-हिन्दुत्व किसी सम्प्रदाय का बोध नहीं कराते हैं। यह सांस्कृति भौगोलिक एवं एतिहासिक पृष्ठभूमि में जानने योग्य है। हिन्दुत्व एक जीवन की विधा है। न्यायालयों ने हिन्दू-हिन्दुत्व को ''सद्गुणों का संकलन'' मान लिया है। अनेक सम्प्रदायों में परस्पर विरोधि के होने पर भी आर्य संस्कृति एक आदर्श है। अतः हिन्दू और हिन्दुत्व के विषय में तथाकथित धर्म निरपेक्षता के समर्थक लोग जो विपरीत बातें कहते हैं वे निराधार सिद्ध हैं। यह शब्द गर्हित और संकीर्ण विचार धारा का नहीं अपितु प्रशंसनीय और उदार संस्कृति का द्योतक हैं, यही मान्य है।

उपर्युक्त समीक्षा से हम निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जो भारत की प्राचीन संस्कृति से अनुप्राणित है, फलतः पुर्नजन्म और्ध्व दैहिक-जीवन या मोक्ष में विश्वास करता है एवं सार्वभौम मानव धर्मो को समान्य परिस्थिति में स्वीकार करते हुए किसी भी देशज सम्प्रदाय में विश्वास रखता है, हिन्दू कहा जायेगा। वेद निन्दक हो या प्रशंसक यदि उसका उपजीव्य वेद है तो वह हिन्दू ही है। जो भी अपने को हिन्दू मानता है संस्कृति के प्रभाव से वह हिन्दू हो सकता है। जो हिन्दू के लक्षणों से युक्त होने पर भी हठवश अपने को हिन्दू नहीं कहना चाहता वह भी हिन्दू है। हिन्दू मानने या न मानने का प्रश्न ही नहीं है, लक्षणों के अनुसार हिन्दू होने या न होने का निर्णय ही पर्याप्त है। बौद्धिक विश्लेषण की इति यहीं तक है। आगे की प्रक्रिया समाज के अधीन है। वर्तमान समय के व्यवहार के अनुसार हिन्दू शब्द की उपर्युक्त व्याख्या है। भविष्य में व्यवहार बदलने पर, व्याख्या में अन्तर हो सकता है।भारतीय संस्कृति को सबल रखने के लिए तथा समाज को दिग्भ्रम से बचाने के लिए उपर्युक्त अर्थ को स्थायित्व देना श्रेयष्कर है। हिन्दू जाति, हिन्दू धर्म जैसे शब्दों का भी प्रयोग मिलता है, किन्तु ऐसी कोई एक जाति या एक धर्म नहीं है। भारतीय संस्कृति से उद्भूत सभी जातियाँ तथा सभी सम्प्रदाय इसी में समाहित है। यह समष्टि वाचक शब्द है।

श्रेष्ठतम सिद्ध होने के बाद प्राण के लिए सामगान की औपनिषदिक अख्यायिका से यह संकेत मिलता है कि भारतीय (हिन्दू) समाज में चतुवर्ण के अतिरिक्त भी लोग थे। केवलपापिष्टतम लोगों को दिशाओं के अन्त तक खदेड़ दिया गया था। अतः जो देशवासी समाज से वहिष्कृत नहीं है, सभी हिन्दू हैं। हिन्दुत्व एक रत्नाकर है जिसमें अनेक सम्प्रदाय चारों तरफ से नदियों की तरह आकर मिलते हैं। वैदिक कर्मकाण्ड, वर्णाश्रम व्यवस्था भी रत्नाकर में मिलने वाला एक महानद है। अन्य श्रोत नदी, नद, भी अपना महत्व रखते हैं। रत्नाकर किसी एक नदी के आश्रय से नहीं बनता है। अतः सभी सम्प्रदायों का महत्व स्वतन्त्र रूप से है। किसी एक सम्प्रदाय के रूप में हिन्दू को जानना भूल है। हिन्दू संस्कृति में इतने प्रकार के सम्प्रदाय उपलब्ध है, जितने प्रकार के धर्म विश्व में सम्भव है। यहाँ स्वतन्त्र चिन्तन और विश्वास की छूट रही है। मतवैभिन्य एवं विरोधों के स्पष्ट होने पर भी, आन्तरिक सूक्ष्म एकता के कारण सबका एक संगठित समाज में रहना ही हिन्दुत्व की विशिष्टता है।

भारतीय संस्कृति की जिन विशेषताओं, गुणों एवं आदर्शो के कारण हिन्दुत्व को 'सदगुणों का संकलन' स्वीकार किया गया है उन्हें भी जानना चाहिए। इस संस्कृति में सदाचार को सबसे ऊपर ''परम धर्म'' माना गया है। आचारवान होने पर व्यक्ति व्यवहार में किसी के लिए कष्टकर नहीं होता है। इससे विश्वबन्धुत्व का मार्ग प्रशस्त होता है। परोपकार, क्षमा, दया, सन्तोष

आदि सद्‌गुण आचार की प्रसूतियाँ है। सहनशील होने के कारण दूसरों को आदर देना, दूसरों के गुणों को ग्रहण करना तथा अपने आचरण से दूसरों को प्रभावित करना आदि बातें संभव होती है। इससे परस्पर सौहार्द्र तथा सहयोग से ज्ञान की वृद्धि होती है तथा सत्य की प्रतिष्ठा होती है। हठ छोड़कर सत्य को स्वीकार करना हिन्दू का लक्षण है। सत्य की प्रतिष्ठा से अहिंसा की भी प्रतिष्ठा होती है। अधार्मिक तथा अनावश्यक हिंसा हिन्दू नहीं कर सकता है। स्वयं कष्ट उठाकर दूसरों को बचाना, दूसरों के कष्ट के साथ सहानुभूति आदि गुण भी अहिंसा की प्रतिष्ठा से आते हैं। इसी तरह अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि महाव्रतों का भी महत्व स्थापित किया गया है। इस संस्कृति से उद्‌भूत सभी सम्प्रदायों की विशेषता है कि उनमें मानव मात्र के लिए आवश्यक सभी गुणों को प्राथमिक (सार्वभौम) धर्म माना गया है तथा सम्प्रदायगत कार्य-कलाप उसके बाद महत्व रखते हैं। अन्य संस्कृतियों की तुलना में यह अत्यन्त विशिष्ट व्यवस्था है। यहाँ धर्म के दो विभाग सर्वथा स्पष्ट है- सार्वभौम एवं साम्प्रदायिक। सार्वभौम धर्म सद्‌गुणों का संकलन है। साम्प्रदायिक कर्म भी उसी को पुष्ट करता है। अतः गुण और स्वभाव ही इस संस्कृति की पहचान है।

गुण सम्बन्धी उपर्युक्त लक्षणों के अतिरिक्त मान्यता सम्बन्धी लक्षण भी हिन्दू संस्कृति में है। पुर्नजन्म एवं कर्मवाद में विश्वास के कारण एक ओर लोगों का ईश्वरीय सत्ता का भय तो दूसरी ओर निराशा से बचकर सत्कर्म करने की प्रेरणा मिलती है। गो, ब्राह्मण, गंगा की पवित्रता की भावना से मन, बुद्धि एवं आचरण में पवित्रता का सन्निवेश होता है। यज्ञ की महत्ता से दान का महत्व प्रतिपादित होता है। स्वोपार्जित धन के दान से ही यज्ञ की सफलता है जिससे सत्य निष्ठा पूर्वक जीविकोपार्जन तथा उसमें से दूसरों का अंश (क्षुद्र प्राणियों से लेकर देवताओं तक के लिए) अर्पण करना विहित है। पाप-पुण्य का विवेचन, प्रायश्चित का विधान आदि स्वच्छ आचरण के लिए प्रेरक हैं। चुतर्विध पुरूषार्थों की व्यवस्था से जीवन की सार्थकता हेतु संदेश मिलता है। स्वर्ग एवं अन्य लोकों की प्राप्ति की व्यवस्था से सत्कर्म करने का प्रलोभन मिलता है। मोक्ष कैबल्य या निर्वाण जैसी व्यवस्था सांसारिक जीवन की निःसारता को प्रतिपादित करते हुए समस्त लौकिक कहल को शान्त कर देते हैं। देश काल की अनन्तता को स्पष्ट करने से व्यक्ति को निरभिमान और मोहरहित बनने की शिक्षा मिलती है। ऐसी अनेक मान्यताएँ हैं जो जीवन और जगत को समझने में सहायक होती हैं। इस तरह से भारतीय संस्कृति में सिद्धान्त एवं आचरण दोनों पक्षों में ऐसे विशिष्ट लक्षण उपलब्ध हैं जिनके आधार पर उसे व्यवहारिक रूप से पहचानने में कोई कठिनाई नहीं है। हिन्दू और हिन्दुत्व तो नये नामकरण है। नाम बदलने से गुण और स्वभाव नहीं बदल जाते हैं। हिन्दू और हिन्दुत्व के लक्षण स्पष्ट हैं। इन

लक्षणों के अंशतः प्राप्त होने पर भी सबको मिलाकर हिन्दू समाज है जिसे सुगठित करने की आवश्यकता है। अपनी संस्कृति को अपनी धरती पर प्रतिष्ठित करने के उपरान्त ही हम दूसरों के लिए विश्वसनीय हो सकते हैं। विश्व की वर्तमान स्थिति में भारत का महान् योगदान संभव है। अपने संगठन को दृढ़ करके ''कृण्वन्तो विश्वमार्यम'' के अपने आदर्श की दिशा में हम बढ़े, यही श्लाघनीय निश्चय है। इसी से स्वाभिमान की रक्षा, गौरव की वृद्धि एवं विश्व समाज के प्रति कर्तव्य का पालन संभव है।

मानवता की परिभाषा

शारीरिक संरचना के अनुसार दो पैर पर चलने वाले सभी जन्तु मनुष्य नाम से जाने जाते हैं। अविकसित बुद्धि वाले, संस्कृति-विहीन वन्य जन्तु भी, दो पैर होने तथा संरचना की समानता को देखते हुए वन-मानव कहे जाते हैं। मानव की परिभाषा में सभी आ जाते हैं। दानव, दैत्य, असुर, राक्षस आदि जो मानवता के विरोधी हैं, भी मानव ही कहे जायेंगे। ऐसी स्थिति में, इतनी जनसंख्या बढ़ने पर भी, मानवता का अभाव हो रहा है। मनुष्य बनों-जैसी बातें असंगत लगती हैं। संगति बनाने के लिए विचार करना आवश्यक हैं। अभीष्ट मानवता क्या है, यह ज्ञातव्य है।

महाभारत की मान्यता के अनुसार मनुष्य से बड़ा कोई नहीं है, वह सृष्टि की पराकाष्ठा है। अन्यत्र भी ऐसी मान्यता है कि ब्रह्मा ने सृष्टि-क्रम में अनेक तरह के जीव जन्तुओं को बनाने के बाद भी सन्तोष का अनुभव नहीं किया किन्तु मनुष्य को बनाकर वे कृतकृत्य हो गए क्योंकि मनुष्य में ब्रह्म का साक्षात्कार करने की बुद्धि निहित थी। इन स्थलों पर मनुष्यत्व की प्रशंसा के साथ परिभाषा हेतु सामग्री भी मिलती है। मानव या मनुष्य दोनों शब्द मनुशब्द से बने हैं। मानव से मनु शब्द की सार्थकता है। मनु पौराणिक पुरूष थे। मनु-शतरूपा से यह सृष्टि प्रवर्धित हुई है। मनु ने प्रजा के संवर्धन और रक्षण के लिए कुछ धार्मिक नियम बनाया था। यह नियम मनुस्मृति तथा अन्य सदृश, ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। इस तरह मनु से उत्पन्न और मनु के द्वारा प्रतिपादित आचार और व्यवहार के नियमों को मानने वाले सभी मानव हैं। अंग्रेजी में मैन शब्द इसी से मिलता-जुलता है। ह्यूमन शब्द का अर्थ वही है जो मनुस्मृति को मानने वाले आचरणवान मानव का है। वर्ण व्यवस्था में विहित ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र के आलावा अन्य लोगों के लिए भी धर्म का विधान मनुस्मृति में है। इन नियमों को मानने वाला हर व्यक्ति मानव है। मानव (मैन) विश्व के किसी देश में रहने वाला हो सकता है। गुण और धर्म के आधार पर अर्जित योग्यता से मानव बना जाता है।

मानवता की परिभाषा के लिए प्राकृतिक संरचना तथा गुण-धर्म दो आधार हैं। एक स्वरूप लक्षण है दूसरा तटस्थ लक्षण। गाय की योनि से जन्म लेने पर भी दूध न देकर स्वामी को ही मारने वाली, नाम मात्र के लिए गाय है। उसे हरहा, बान आदि नाम से कहा जाता है। वैराग्य न होने पर सन्यासी वेश में

व्यक्ति पाखण्डी कहा जाता है, आचार एवं विद्या से रहित ब्राह्मण, ब्रह्मबन्धु या ब्रह्मराक्षस कहा जाता है। इस तरह जाति होने पर भी गुण धर्म के अभाव में दूसरे निन्दास्पद नाम की आवश्यकता होती है। मुख्य अभिधेय जाति गुण-धर्म दोनों होने पर ही सार्थक होता है। जाति न होने पर गुण के आधार पर आदर तो मिल जाता है किन्तु नाम की मान्यता नहीं। बकरी कितनी भी दुधारू हो, उसे गाय नहीं कहाँ जायेगा। अतः मानवता की परिभाषा के लिए जाति और गुण-धर्म दोनों आधारभूत है। संरचना के अनुसार मानव सदृश होने पर भी, गुण धर्म के अभाव में वह व्यक्ति असुर, राक्षस आदि नाम से अभिहित किया जाता हैं। मानव से पृथक् होने पर सामान्यतया सभी असुर कोटि में कहे जाते हैं। राक्षस दैत्य दानव आदि असुर कोटि में ही विशिष्ट गुण-धर्मों के कारण अलग-अलग नामों से कहे जाते हैं। सभी आसुरी कोटि में हैं। गीता में मानव जाति दो पृथक् भागों में बाटी गई हैं-

''द्वौ भूत सर्गों लोके दैव आसुर एवं च''। दैवी सम्पत्ति से युक्त लोगों को ही जन्म और स्वभाव के कारण वास्तविक अर्थ में मानव कहा गया है। इससे निम्न कोटि के लोग आसुरी कोटि के होते हैं। इस तरह मानव योनि में उत्पन्न और दैवी गुणों को आदर्श मानने वाले व्यक्ति मनुष्य हैं। उन्हीं के गुण और स्वभाव को मानवता कहा जायेगा। इतर लोग असुर श्रेणी के हैं। दैवी और आसुरी सम्पत्ति की विशद् व्याख्या गीता में मिलती है। मुख्य रूप से प्रवृत्ति और निवृत्ति (कर्तव्याकर्तव्य) का ज्ञान और तदनुसार आचरण ही दोनों में भेद करता है।

गीता में ''दैवी सम्पद्धिमोक्षाय, निबन्धायासुरी मता'' कहते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि मनुष्य का परम पुरूषार्थ मोक्ष है। मानव इसी के लिए धर्माचरण करता है। इसके विपरीत बन्धन दुःख व अज्ञान को आमंत्रित करने वाले असुर होते हैं। एक सहज प्रश्न उठता है कि दुःख कोई नहीं चाहता है। अतः किसी को असुर नहीं होना चाहिए। ऐसी स्थिति में सभी व्यक्ति मानव क्यों नहीं हो जाते हैं? इसका उत्तर गीता में है कि काम और क्रोध के वश में होकर लोग पापाचार में लग जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति में बुद्धि और मन दोनों का प्रभाव कार्य क्षेत्र में पड़ता है। बुद्धि के दुर्बल होने पर मन अधोगमी हो जाता है। इसीलिए कहा गया है-

मतयोयत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वानराः।
शास्त्राणि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति ते नराः।।

मनमानी नहीं बल्कि बुद्धि से परीक्षित, शास्त्र सम्मत आचरण करने वाला ही मनुष्य कहा जाता है। सहज प्रवृत्ति को ही मन ग्रहण करता है। उससे निवृति

का मार्ग शास्त्र ही बताता है। मनु ने मनोविज्ञान के अनुसार कहा है-''न मांस भक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने। प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला।।''

यदि मनुष्य बनना है तो निवृत्ति का मार्ग खोजना होगा। जिसके लिए गीता ही पुनः मार्ग निर्देश करती है-''तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य-व्यवस्थितौ''। शास्त्र का अर्थ बुद्धि से ही समझा जाता है। बुद्धि का निवृत्ति के लिए प्रयोग करने वाला व्यक्ति मनुष्य है।

मानवता की परिभाषा भार्तृहरि ने भी दिया है- ''आहार निन्द्रा भय मैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।। ज्ञानं हि तेषामधिको विशेषः। ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः।।''

यहाँ पशु और मनुष्य में अन्तर बताया गया है जिसकी निवृत्ति करने पर स्पष्ट होता है कि बुद्धि और शास्त्र से प्राप्त ज्ञान ही नरत्व (मानवता) की श्रेणी में पहुँचाता है अन्यथा व्यक्ति नृपशु (असुर) कहा जाता है। जीवन में ऊँचे मूल्यों की स्थापना मनुष्यत्व का लक्षण है। ज्ञान उत्कृष्ट पुरूषार्थ है। इससे लोक और परलोक दोनों को सिद्ध किया जा सकता है। इस लोक में ही जीवन के अन्तिम क्षण तक सुखी रहने का उपाय किया जाय तो परलोक अपने आप बन जाता है। तात्कालिक फल के प्रलोभन में अनन्त भविष्य को बिगाड़ना मानवता के विपरीत असुरत्व है। मनुष्य होने की संभावना प्रत्येक व्यक्ति में होती है।

बुद्धि की शरण में रहकर सदाचार से रहना किसी विशेष समुदाय के लिए नहीं है। शास्त्रों के ज्ञान और आचरण में सबका अधिकार है। मनुष्य का यही परम कर्तव्य है।

भारतीय संस्कृति ने मानवता को ही प्रतिष्ठित किया है। जियो और जीने दो, विश्व बन्धुत्व आदि की मान्यताएं ही इस संस्कृति को अमर वेलि बनाती है। मानवता की परिभाषा जानने के लिए भारतीय संस्कृति को जानना एक सुलभ साधन है। इसमें व्यक्ति और समाज को यथास्थान प्रतिष्ठित किया गया है। व्यक्ति समाज को और समाज व्यक्ति को बनाता है। समाज का अभ्युदय और इसके साथ व्यक्ति की निःश्रेयस् सिद्धि ही मानवता का आदर्श है।

\-\-\-\-\-\-\-\-

जीवन की परिभाषा

इस सृष्टि में अनन्त जीव हैं। प्रत्येक जीव अपने में स्वतंत्र इकाई है। एक दूसरे से पूर्ण समानता कहीं नहीं हैं। अतः जीवन की व्यापक परिभाषा देना जल बिन्दुओं या रजकणों की गणना करने की भाँति असाध्य है। एक विशेष परिप्रेक्ष्य में ही जीवन को परिभाषित करना संभव है। जीवन को सार्थक बनाने के लिए यह जानना आवश्यक है कि जीवन क्या है, इसकी सार्थकता कहाँ है, सार्थक बनाने की संभावनाए क्या हैं और उपाय क्या हैं। इन चारो अंशों को मिलाकर ही उपयोगी परिभाषा बन सकती है। सामान्य रूप से हम कह सकते हैं कि जीव की यात्रा ही जीवन है। इस कथन में भी जीव उसका स्वरूप यात्रा उसका मार्ग और लक्ष्य आदि की भी परिभाषा दिये बिना पदार्थ अस्पष्ट ही रह जाता है। अतः उद्देश्यपरक एवं बुद्धिगम्य परिभाषा देने के लिए विविध अंगों की स्पष्टता वांछनीय है। कर्मवाद, पुर्नजन्म, ईश्वरी योजना जैसे प्रत्ययों को मानने पर जीवन की सार्थकता का प्रतिपादन हो सकता है। अन्यथा जीवन में सार्थकता का अन्वेषण नहीं किया जा सकता है। जो जीवन को एक प्राकृतिक घटना मानता है, इसका कोई उद्देश्य नहीं स्वीकार करता है और जीवन की स्थिरता में विश्वास नहीं करता, उसके लिए इसी जीवन में सुखी रहना ही एक मात्र उद्देश्य है। उसका जीवन दृष्ट पदार्थ की तरह है जिसकी परिभाषा कठिन नहीं है। उसे इसी जीवन में सार्थकता ढूढ़ना है, किन्तु जो कर्मवाद आदि में विश्वास करता है, अदृष्ट को महत्व देता है उसे जीवन में ही नहीं इससे परे भी जीवन की सार्थकता पर भी विचार करना होगा। जीवन को समझने और उसे उद्देश्यपरक बनाने के लिए ही प्रस्तुत प्रयास है।

किसी वस्तु को अंधेरे में देखने और प्रकाश में देखने पर अन्तर हो जाता है। अंधेरे में एक झाड़ी ही जानवर जैसी लग सकती है। इसी तरह दूरी और सन्निकट से देखने में भी अन्तर होगा। एक ही हाथी कई अन्धे स्पर्श करने पर अलग-अलग तरह का समझेगें। रंगीन चश्मा लगाने पर सारी दुनिया उसी रंग की लगती है। इस तरह सही ज्ञान प्राप्त करने में वस्तुनिष्ठ या व्यक्तिनिष्ठ अनेक समस्यायें हैं। जीवन को समझने में भी यही समस्यायें उत्कट रूप में विद्यमान हैं। इतिहास में मनुष्य एक तरफ जड़ से जड़ पशु से भी अधम और दूसरी तरफ शुद्ध चैतन्य देवताओं से भी दिव्य दिखाई पड़ता है। अपने जीवन से सन्तुष्ट भले न हो लेकिन उससे प्रेम पत्येक व्यक्ति करता है। उपर्युक्त परिस्थिति में विभिन्न कोटि के लोगों द्वारा अनन्त प्रकार की मान्यताए जीवन के विषय में स्थापित हो सकती है। किन्तु सभी मान्यताओं में दो बातें व्याप्त रहती है- प्रथम

प्राण धारण करना द्वितीय काम की प्राप्ति या उसकी आशा का विद्यमान रहना। एक अर्थ है दूसरा कामः जो विकसित होकर धर्म और मोक्ष का रूप धारण करते हैं। इस तरह पुरूषार्थ चतुष्ठय ही जीवन बन जाता है। वस्तु से मूल्य और मूल्य से वस्तु की प्राप्ति दैनिक जीवन में देखा जाता है। जीवन से पुरूषार्थ और पुरूषार्थ से जीवन है यह सिद्ध होता है। इस तरह जीवन को मूल्य के परिप्रेक्ष्य में देखना तर्कसंगत् साध्य एवं उपयोगी है।

जीवन का विपर्यय मृत्यु है। मृत्यु को समझने पर भी जीवन समझ में आ सकता है। कोई व्यक्ति मरने पर भी अमर कहा जाता है तो कोई जीवन्मृत माना जाता है। सन्त तुलसीदास ने 'जीवत शव सम चौदह प्राणी' कहते हुए जीवन्मृत तरह के लोगों की सूची दिया है। व्यवहारिक रूप में स्वांस-प्रश्वास का रूकना, हृदय गति का बन्द होना आदि मृत्यु के लक्षण है। इन लक्षणों के पाये जाने पर भी जीवन की वापसी देखी गई है। भागवत में मृत्युः अत्यन्त विस्मृतिः' माना गया है। स्मरण शक्ति बिल्कुल नष्ट होना मृत्यु है। जब तक अन्तः करण में स्थित स्मृति (चित्त) शरीर का त्याग नहीं करती है तब तक जीवन रहता है। मृत्यु केवल शरीर की होती है। जिसके लिए शरीर से ही जीवन है उसकी यात्रा वही से समाप्त है। अन्यथा शरीरी तो अन्तःकरण के साथ प्राणों के यान पर लिंग देह में स्थित होकर नव जीवन की ओर अग्रसर होता है। एक बार विस्मृति हो जाने के कारण एक जीवन की समाप्ति मानना उचित है। प्राण (अपान वायु) के बाहर आने से जीवन का आरम्भ और अपना वायु के बाहर जाने से ही जीवन की समप्ति होती है। बीच की अवधि जीवन है। इस अवधि के बाद प्राप्त अनुभवों की विस्मृति अवश्य हो जाती है किन्तु उससे बने हुए संस्कार एवं स्वभाव आगे जीवन के लिए उपादान होते है। मृत्यु ऐसी घटना है जिसमें जीवन का सारांश ही बच रहता है। मृत्यु एक परीक्षा है और जीवन उसकी तैयारी है। परीक्षा से कक्षा का परिवर्तन होता है जो उन्नति या अवनति दोनों रूप में संभव है। उन्नत कक्षा पाने की व्यवस्था जीवन है। अवनति पाने की व्यवस्था जीवन्मृत्यु है। जीवन में ही सारी कक्षाओं को पार कर जाना-मुक्ति है।

जीवन शब्द जीव धातु से बना है जिसका अर्थ है प्राण धारण करना। जीवत्वं प्राण धारणात् (पंचदशी)। प्राण और चैतन्य से विहीन संसार में कोई नहीं है। प्राण व्यापक है चैतन्य जगत का आधार है। प्रत्येक वस्तु अनन्त चैतन्य एवं प्राण से युक्त कणों से बनती है किन्तु उस वस्तु में चैतन्य एवं प्राण का उदय होना विशेष परिस्थिति पर निर्भर करता है। मानव शरीर भी अनन्त जीवाणुओं का समूह है। वे अणु अपने में स्वतन्त्र सत्ता हैं। जन्म लेते एवं मरते रहते हैं। वास्तव में कोई पदार्थ पूर्ण रूप से नष्ट नहीं होता है। केवल रूप परिवर्तन होता है। एक रूप को एक जीवन माना जाता है। अनन्त अणुओं के

समूह मिलकर जो इकाई बनाते हैं, उसमें जब प्राण संचार होता है तो जीवन कहा जाता है। पंचदशीकार ने जीव के विषय में लिखा है-

चैतन्यं यदधिष्ठानं लिंग देहश्च यः पुनः।
चिच्छाया लिंग देहस्था तत्सङ्घों जीव उच्यते॥

यानी चैतन्य के अधिष्ठान पर स्थित लिंग देह और उसमें आभासित चैतन्य को जीवन कहते हैं। जब प्राणों की दुर्बलता हो जाती है तो चैतन्य एवं स्मृति नष्ट होने लगते हैं, यही मृत्यु है। पेड़ों में भी चैतन्य होता है किन्तु दुर्बल प्राण-के कारण चैतन्य प्रगट नहीं होता है। सुख-दुःख उनको भी है। ''अन्तः संज्ञाः भवन्त्येते सुखदुःख समन्विताः''। जड़ पदार्थो में चैतन्य एवं प्राण प्रकट होने के संस्कार ही नहीं होते हैं। संस्कार परिस्थिति जन्य है। परिस्थिति पूर्वा परिस्थिति पर निर्भर करती है। इस तरह संस्कारों के आधार पर ही जवीन होता है।

अन्यथा-

तरवः किं न जीवन्ति भस्त्राः किं न श्वसन्ति च।
न खादन्ति न मेहन्ति किं नाम तरवोऽपरे॥ भागवत

भाथी का सांस लेना, वृक्षों का जीना, पशुओं का खाना व मूत्रादि का त्याग वास्तविक जीवन का लक्षण नहीं है। आहार, निन्द्रा, भय, मैथुन सभी में है। मनुष्य में विज्ञान की विशिष्टता होती है। जीवन के लिए विशिष्ट संस्कार, आचरण, ज्ञान आदि की अपेक्षा करके ही मनुष्य उसकी परिभाषा दे सकेगा।

वहिः संज्ञा युक्त (प्रगट चैतन्य) जीवों की कोटि में मनुष्य सर्वोपरि है। जितना ही चैतन्य का प्रकाश होगा उतनी ही विशिष्ट परिभाषा जीवन की होगी। बुद्धि विशिष्ट मानव जीवन को सर्वोपरि ही स्वीकार करेगा। अतः प्राण धारण के साथ अनन्त संभावनाओं की प्राप्ति मनुष्य के जीवन का प्रमुख अंग हैं।

योग शास्त्र के अनुसार अविद्या के कारण जीवन की संस्कृति चलती है। सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः'' (पातञ्जलयोग, साधन पाद-13) जन्म ग्रहण करना आयु की मात्रा तथा विविध भोग यही अविद्या के फल हैं। अविद्या प्रधान निम्न कोटि के प्राणियों का जीवन इतना है। किन्तु मनुष्य का जीवन उत्कृष्ट कोटि का होता है। अविद्या के साथ विद्या का भी संयोग उसमें होता है। अविद्या जन्य जाति, आयु और भोग मनुष्य का जीवन है। पूर्वजन्म के अच्छे संस्कारों का फल मनुष्य के जीवन का भाग्य है और विद्या जन्य प्रयास, साधन आदि उसका पुरूषार्थ है। दोनों को मिलाकर मनुष्य का जीवन है। पूर्व जन्म के अच्छे संस्कार का फल ही मनुष्य का उत्तम योनि में जन्म लेना। जन्म लेते ही प्रारब्ध के अनुसार आयु का निर्धारण हो जाता है। क्रियमाण कर्म से आयु की अवधि बदलना मनुष्य के लिए सम्भव है। शरीर, इन्द्रिय, सत्व और आत्म के संयोग काल को जीवन माना जाता है। संयोग की कालावधि को आयु कहा जाता है।

शरीरेन्द्रिय सत्वात्मसंयोगधारि जीवितम्।
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायु उच्चते॥

(च सं 15/41)

यह आयु भी दो तरह से दो-दो प्रकार की बताई गई है। हितायु, अहितायु तथा सुखायु और दुखायु। अपने तथा समाज के कल्याण के लिए जीवन हितायु अकल्याण के लिए जीना अहितायु है। जीते हुए सुखों को पाना या उसकी आशा होना सुखायु और दुःखों को पाना था उनकी संभावना का बढ़ावा दुखायु है। अच्छी आयु के लिए अच्छा स्वास्थ्य आवश्यक है। स्वास्थ की परिभाषा निम्नलिखित है-

समदोषः समाग्रिश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥

(च॰सं॰15/4)

जाति और आयु के बाद जीवन में भोग का क्रम है। स्वस्थ आयु को प्राप्त करके भोगों को भोगना ही जीवन की मुख्य कला है। 'तेन त्यक्त्तेन भुन्जीथाः' वेद का आदेश है। त्याग और भोग के समझने में ही जीवन का दर्शन है। ज्ञानयोग और कर्मयोग के विविध मार्ग इसके लिए बने है। मानव संस्कृति की यही परम निधि है। जीवन की परिभाषा इसी परिप्रेक्ष्य में समझना चाहिए।

आयु, स्वास्थ्य एवं शरीर तथा जीवन को समझने में बहुत महत्वपूर्ण जीविका है। जीवन के लक्ष्य के साथ जीविका का सीधा सम्बन्ध होता है। क्रतुमयोऽयं पुरूषः', मनः एव हि लोकानां कारणं बन्ध मोक्षयोः' 'यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु' आदि वाक्यों से सिद्ध है कि मन की साधना के लिए ही सारा उपक्रम है। बुद्धि के द्वारा मन को ही सिद्ध किया जाता है। मन के सिद्ध होते ही आत्मतृप्ति हो जाती है। यह मन आरम्भ में अन्न पर ही निर्भर करता है। जैसा अन्न-वैसा मन। अतः जीविका, जिसके द्वारा अन्न मिलता है, बहुत महत्वपूर्ण है। शुद्ध अन्न के खाने से ही जीवन को उच्च मूल्यों की ओर आकृष्ट किया जा सकता है। जीविका और जीवन में समानाधिकरण्य है। शिक्षा, संस्कार, स्वधर्म पालन यह तीनों जीवन और जीविका के आधार हैं। पुरूषार्थ परक जीवन ही जीवन है। अन्यथा अजागलस्तन की भाँति निरर्थक, नाममात्र के लिए जीवन है। पंचतन्त्रकार ने ठीक कहा है-

यज्जीव्यते क्षणमपि प्रथिते मनुष्यैः
विज्ञान शौर्य विभवादि गुणैः समेत्य।
तन्नाम जीवितमिदं प्रवदन्ति प्रज्ञाः
काकोऽपि जीवति चिराद् बलिं च भुड्क्ते।।

सामान्यतः जीवन एक स्वाभाविक योजना जैसा ही लगता है। बाल्यावस्था (अज्ञान) में शरीर, स्वास्थ्य, भोग एवं आयु ही जीवन के रूप में दिखाई पड़ते है। बुद्धि के विकसित होने पर जीवन के अनेक आयाम प्रकट होते है। जीवन के लिए बाह्यकरण तथा अन्तः करण दोनों की आवश्यकता है। अन्तः करण के प्रबल होने पर वास्तविक जीवन समझ में आता है तथा मनुष्य योनि में जन्म का महत्व स्पष्ट होता है। तभी तो गोस्वामी जी ने कहा- 'जीव चराचर जाँचत जेही, कबीरदास मानते हैं- 'हीरा जनम अमोल था।' यह हीरा कौड़ी के मूल्य में जा सकता है या काटों और विषतुल्य भोगों को भी देने का साधन हो सकता है। अतः जीवन-धन का उपयोग ही महत्वपूर्ण है। योगशास्त्र में लिखा है- 'उभयथा वाहिनी चित्त-नदी। बहति पापाय बहति पुण्याय।' चित्त का प्रवाह ही जीवन प्रवाह है। चित्त एक विचित्र नदी की धारा की भाँति है। यह धारा दोनों ओर विपरीत दिशाओं में बहती है। इसी से पुण्य इसी से पाप की अधिगति होती है। स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार प्राणी पशुवत, जन्म से मृत्यु तक, एक ही स्थान पर रह जाता है, प्रवृत्ति मूलक पुरूषर्थ से उलटी दिशा में बह जाता है। शेक्सपियर के मैकबेथ की तरह ऐसे व्यक्ति का जीवन 'टेल टोल्ड बाई एन इडियट' है, जिनका महत्व कुछ नहीं है। यह आसुरी जीवन है जिससे लौट कर पुनः मनुष्य योनि में आने के लिए बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है। निवृत्ति मूलक पुरूषार्थ से ही जीवन की सार्थकता होती है। मनुष्य के जीवन की परिभाषा भी यही है।

जीवन को एक धन, एक मूल्य, एक व्यापार, परीक्षा की तैयारी का एक अवसर या पुरूषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति का साधन जैसे रूपों में ग्रहण करना उपादेय है। 'जीवन् भद्राणि शतं पश्येत्।' जीवन से शुभ की प्राप्ति ही मुख्य फल है। 'यथा कर्म यथाश्रुतम्,' कृतम स्मर क्रतुं स्मर' जैसे उपनिषद् वाक्यों से सिद्ध है कि जीवन के अन्त तक सुखी रहने के लिए शुभ कर्म एवं शुभ संकल्प (निश्चय) ही आवश्यक है। इसी से मुक्ति या आगे उन्नत जीवन प्राप्त होता है। उसके बिना जीवन का अन्त अवश्य ही कष्टकर हो जाता है। इसी कारण महापुरूषों ने जीवन को सबसे बड़ा एवं प्रिय धन माना है। इसमें अनन्त संभावनाँए निहित हैं। सुकरात को जीवन-धन का उच्चतम मूल्य ही अभीष्ट था। फाँसी से बचने का अवसर मिलने पर भी, पुनः इस मूल्य के मिलने में सन्देह होने के कारण सुकरात ने जीवन को, मूल्य के लिए, तृणवत त्याग दिया। शिवि, दधीचि, उशीनर आदि के आख्यान भी यही स्पष्ट करते हैं। राजा दिलीप ने गोरक्षा के लिए प्राणों को देना सहर्ष स्वीकार कर लिया। मूल्यों के अभाव में इन महापुरूषों को जीवन असह्य भार के सदृश था। जीवन के द्वारा कीर्ति, समाज सेवा, अदृष्ट फलों एवं पुरूषार्थों की प्राप्ति करना ही इसका मूल्य है। मूल पूँजी पूर्व संस्कार है। इसी पूँजी से जगत के व्यापार में समृद्धि करके

उच्च मूल्यों को पाना या पूँजी को बढ़ाकर अदृष्ट धन के साथ प्रस्थान ही जीवन व्यापार है। मृत्यु के भय से बचने की तैयारी जीवन है। जीवन को इस रूप में लेने वाला नित्य नहीं मरता, वह एक बार ही परीक्षा देता है। जीवन में ही पुरूषार्थों को सिद्ध करने के लिए अवसर है अतः सिद्धि का मुख्य साधन जीवन ही है। इस तरह उच्च भावनाओं द्वारा जीवन को समझा जा सकता है। 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः''। जैसी भी भावना दृढ़ की जाय जीवन वैसा ही लगेगा। अनन्त सुख को अन्तिम उद्देश्य और निष्कर्ष मानने पर सभी की संगति है। कोई बड़ा पदार्थ करतलामलकवत ग्रहण नहीं किया जा सकता है। जीवन बहुत ही विशद है। इसे जानने के लिए अंगों को ही ग्रहण करना पड़ेगा। ऊपर मुख्य अंगों की गणना व उनका स्वरूप देने का प्रयास कियागया। जीवन तो जड़ चेतन सब का है। मनुष्य का जीवन सार्थकता को जोड़कर ही परिभाषित किया जा सकता है। निरर्थक होने पर नृपशु शब्द सार्थक होता है। गीता में ऊर्धमूलमधः शाखम् अश्वत्थं प्राहुरव्ययम' के द्वारा समष्टि गत जीवन को समझाया गया है। उसे 'नान्तोनचादिर्न च सम्प्रतिष्ठा' कहते हे परिभाषा के परे माना गया है। व्यक्तिगत जीवन की परिभाषा देने के प्रयास से लिखा है-

'अधश्च मूलान्यनु सन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्य लोके।

वास्तव में 'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते' कहते हुए जीवन-वृक्ष को अपरिभाषेय ही माना गया है।समझने के लिए जीवन को एक वृक्ष के समान माना जा सकता है। जिसकी जड़ (वासना, संस्कार के अनुसार) नीचे (भूतकाल में निहित है। उसका तना शरीर, स्वास्थ्य, प्राण धारण, आयु आदि से बना है। स्मृति (पूर्वापर सम्बन्ध), विविध सम्भावनाएँ (आशाएँ), जीविका और तात्कालिक उपलब्ध वस्तुए उस वृक्ष की प्रशाखाएँ और पत्तियां है। यह वर्तमान (प्रत्यक्ष) है। पुरूषार्थ, लक्ष्य, यश, कीर्ति या उनके विपरीत की प्राप्ति उसके फल हैं। यह फल ही भविष्य है। फल मीठा-कड़वा किसी भी तरह का हो सकता है। जीवन काल में भी फल मिल सकता है। जीवन काल में या इसके उपरान्त शुभ फलों को पाना ही जीवन की सार्थकता है। फलों का भोग छोड़कर मुक्त होना परम सार्थकता है। वृक्ष अपने फलों को कभी नहीं खाता है। सुस्वादु फलों को देने पर वृक्ष परोपकारी और कीर्तिमान माना जाता है। मनुष्य भी अपने कर्मो के शुभ फलों का लोकार्पण (विश्वात्मा को निवेदन) करते हुए अनन्त सुख (भूमा सुख) को प्राप्त करता है। यही जीवन का उद्देश्य है, इसी में जीवन की सार्थकता है। इन्हीं सबको मिलाकर मानव जीवन की परिभाषा बनती है।

अर्थ का महत्व और उसकी सीमा

अर्थ शब्द अनेक अर्थो में प्रयुक्त होता है। मनुष्य के लिए जो भी अभीष्ट है, उसकी जो कामनाएं हो सकती है, सभी अर्थ माने जाते हैं। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष के रूप में जीवन के कुल चार अभीष्ट लक्ष्य (मूल्य) माने गये हैं। इन चारों को पुरूषार्थ (पुरूष के लिए अर्थ या प्राप्तव्य) के नाम से जाना जाता है। यहाँ पर इस व्यापकता से अर्थ का महत्व विचारधीन नहीं है। इस प्रसंग में भी अर्थ केवल मुद्रा मात्र नहीं है। कौटिल्य ने मनुष्यवती पृथ्वी को अर्थ कहा है। अतः अर्थशास्त्र में राजनीति, समाजशास्त्र सभी का समावेश है। गरूड़ा पुराण में दी गई परिभाषा बहुत ठीक है-

सर्व रत्नाकरा भूमिः धान्यानि पशवः स्त्रियः
अर्थस्य कार्य योग्यत्वादर्थ इत्य मिधीयते

जो पदार्थ अर्थकारी है, वह भी अर्थ कहा जाता है। काम की पूर्ति में सहायक होना अर्थकारिता है। प्रस्तुत प्रसंग में मुद्रा या मुद्रा के रूप में न्याय-संगत विधि से परिणत होने वाले पदार्थो को अर्थ मानकर विचार किया गया है। इस अर्थ का महत्व तो स्वभावतः ज्ञात है किन्तु इससे उत्पन्न अनर्थ भी ज्ञातव्य, है। अर्थ का वास्तविक महत्व और उसकी सीमा पर ध्यान देने से आधुनिक समाज की अनेक समस्याओं का निवारण संभव है। अतः इस विषय का विवेचन सामयिक है।

मनुष्यों के लिए परम अभीष्ट पदार्थ सुख है। यावन्मात्रा प्रपंच दिखाई पड़ रहा है, सुख के लिए ही है। इस सुख को लौकिक और आध्यात्मिक दो रूपों से देखने पर भूमा सुख (मोक्ष) भी इस में आता है। लौकिक सुख का उपाय काम की प्राप्ति है। कामही मूल पुरूषार्थ है। इस काम की प्राप्ति के लिए धन की आवश्यकता पड़ती है। बिना अर्थ के कोई भी काम सिद्ध नहीं हो सकता है। अतः अर्थ का महत्व कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता है। काम और अर्थ में परस्पर विवाद न हो, दोनों एक दूसरे के पूरक रहें, इसके लिए धर्म की आवश्यकता पड़ती है। धर्म के बिना काम पाशविक और अर्थ अनर्थ हो जाते हैं। धर्म एक तरफ अर्थ-काम पर नियंत्रण रख करके उन्हें बल देता है तो दूसरी तरफ आध्यात्मिक और अनन्त सुख की ओर आकृष्ट करता है। अर्थ-काम से वैराग्य होने पर वह अनुत्तम सुख धर्म से ही ज्ञातव्य है, और विशेष धर्म से प्राप्तव्य है। धर्म के लिए भी अर्थ की आवश्यकता पड़ती है। अतः अर्थ ही काम और धर्म दोनो का साधक माना जा सकता है। यद्यपि सूक्ष्म विवेचन से

स्पष्ट होता है कि धर्म अर्थ के द्वारा तथा बिना अर्थ के भी साध्य है। अर्थ के द्वारा साध्य धर्म लौकिक सुख एवं उत्तम लोकों की प्राप्ति के लिए होता है। बिना अर्थ के उपार्जित धर्म ही अनन्त सुख का हेतु है। ऐसा होने पर भी सामान्यता इह लोक और परलोक दोनों का साधक धन माना जा सकता है। साध्य के रूप में अर्थ की महत्ता स्पष्ट है।

ज्यमिति में बिना आयाम (डाइमेंशन), एक आयाम, दो आयाम तथा तीन आयाम तक का अध्ययन होता है। इनमें से प्रथम कोटि में बिन्दु, द्वितीय कोटि में रेखा, तृतीय में त्रिभुज, चतुर्भुज आदि सतही चित्र तथा चतुर्थ में ठोस पदार्थों का अध्ययन होता है। युक्लिड में बिन्दु और रेखा की जो परिभाषा दी है व्यवहार में इनका महत्व तभी है जब दो आयाम और तीन आयाम में इन्हें प्रयोग में लाया जाय। आइन्सटीन ने दिक्काल के रूप में चतुर्थ आयाम को प्रतिपादित किया है। यह आयाम अनुभव गम्य है, किन्तु व्यवहार में प्रदर्शन करने योग्य नहीं है। इस ज्यामिति को पुरूषार्थों के अध्ययन में लगाने से एक वैज्ञानिक विधि स्थापित होती है। बिन्दु मनुष्य की मूढ़ावस्था (प्रसुप्त वासना) है। रेखा बिन्दु का पथ, काम की वासना का प्राकट्य है। यह रेखा एक आयाम में होने पर अप्रत्यक्ष रहती है। ज्योंहि दूसरा आयाम अर्थ जुड़ता है, अनेक रूप प्रगट होते है। चित्रों में दो आयाम में ही सब कुछ दिखाने का प्रयास किया जाता है। इस चित्र में प्राण या चेतना नहीं आ सकती है। चैतन्य के लिए तीसरे आयाम की आवश्यकता होती है। अतः लम्बाई, चैड़ाई एवं मोटाई तीनों मिल जाते है। यह तीसरा आयाम ही धर्म है। धर्म से चैतन्य गति, व्यवहार आदि संयत हो जाते हैं। चतुर्थ आयाम दिक्काल ही चतुर्थ पुरूषार्थ मोक्ष है। यह दोनों इन्द्रियगोचर नहीं हो सकते हैं। इस तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि धर्म, अर्थ, काम, तीनों का लौकिक महत्व है। सृष्टि के लिए तीनों अनिवार्य तत्व हैं। लेकिन जब एक तत्व को प्रधानता दी जाती है, और दूसरे की उपेक्षा की जाती है तो विषम परिस्थिति उत्पन्न होती है, समाज में अव्यवस्था फैलती है। सभी तत्वों की मर्यादा है। एक दूसरे के साथ संतुलन समन्वय बनाने पर सामाजिक व्यवस्था संभव है। जब संतुलन बिगड़ता है तो प्रबुद्ध व्यक्ति उसे ठीक करने का प्रयास करते हैं। वर्तमान समय में अर्थ को एक आयाम न मानकर तीनों आयाम के रूप में देखा जा रहा है। अर्थ को सही आयाम में समझना, उसकी मर्यादा में रखना समय की मांग है। किसी पदार्थ में मोटाई है तो लम्बाई और चैड़ई होगी ही। इसी तरह धर्म है तो अर्थ और काम रहेगें ही। इस से धर्म का महत्व बढ़ जाता है। ''न अर्थेन तर्पणीयों मनुष्यः'' ''मैन डज नॉट लिव आन ब्रेड एलोन'' केवल धन से मनुष्य तृप्त नहीं हो सकता है। काम तो सहज प्रवृत्ति है, अर्थ उसका साधक है, और धर्म

दोनों के लिए साधक है। इस से सृष्टि की ज्यामिति का अध्ययन करने पर सामाजिक व्यवस्था करने में सहायता मिल सकती है।

वर्तमान समय में प्रच्छन्न रूप में काम किन्तु प्रकट रूप में अर्थ प्रधान कार्यकलाप सर्वत्र देखा जाता है। भीष्म पर्व में अर्थ के पीछे पन्द्रह अनर्थ जो गिनाये गये है, शुकनाशोपदेश में अर्थ के प्रति सावधान किया गया है, महर्षि याज्ञवल्क्य द्वारा मैत्रेयी को जो अर्थ की सीमा समझायी गई है, इस तरह के अनेक प्रकरणों को हम भूल गये हैं। यह सब आज के समाज के लिए अधिक प्रासंगिक है। अर्थ का महत्व समझााते हुए ही कहा गया-'' अजरामवरत् पुरूषः विद्यामर्थ च चिन्तयेत''। अर्थ का अर्जन करना तो धर्म ही है किन्तु धर्म को ध्यान में रखना उसके पूर्व की अपेक्षा है। उसकी सीमा को देखना बुद्धि की कसौटी है। आचार भ्रष्ट होने पर कहीं शरण नहीं है। ''अक्षीणोवित्ततः क्षीणों वृत्ततस्तु हतोहतः'' - यह स्मरणीय है।

धन के माध्यम से लौकिक सुख तथा पद प्रतिष्ठा शीघ्र ही मिल जाने के कारण मूढ़ प्राणी उसी के पीछे दौड़ रहे हैं। सतसंग तथा सद्विद्या के अभाव में वे अर्थ के ही कारण जीवन के अन्त में स्वयं कष्ट उठाते हैं तथा समस्याग्रस्त सन्तानों को छोड़ जाते हैं। इससे बचने के लिए महाभारत में सचेत किया गया है।

प्रातः काले तु त्तकुर्यात् येन रात्रौसुखी वसेत्
अष्ट मासेन तत्कुर्यात् येन वर्षा सुखी वसेत्।
पूर्वे वयासि तत्कुर्यात् येन अन्ते सुखी वसेत्
इह लोके तु तत्कुर्यात् परलोक सुखी वसेत्॥

कामनाओं का अन्त नहीं है- ''मनोरथानामगतिर्न विद्यते'' उपभोग से कामनाएं शान्त नहीं होती है- 'न जातु कामः कामनामुपयोगेन शाम्यति्। धन के द्वारा समस्त कामनाएं नहीं पूरी होती हैं। कभी न कभी संतोष ही करना पड़ता है। महाभारत में ठीक ही कहा-

यत् पृथिव्यां ब्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तत्सर्वमिति मत्वा शमं ब्रदेत्॥

पृथ्वी की सारी सम्पति एक व्यक्ति के लि भी पर्याप्त नहीं है, अतः मर्यादा के अनुसार संतोष ही करना उत्तम है। मर्यादा धर्म के द्वारा बनती है। सन्तोषी व्यक्तियों की ही मर्यादा भागवत में बताई गई-

यावद् भ्रियते जठरं तावत्स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिन्येत् सस्तेनो दण्डमर्हति॥

इस तरह ईश्वर द्वारा प्रदत्त सभी पदार्थों का उतना ही संग्रह करना चाहिए जितना हमारा भाग बनता है। ''तेन व्यक्तेन मुज्जीथाः'' त्याग पूर्वक भोग ही

प्रशस्त है। यह सब वातें धार्मिक बनने के लिए ही नहीं हैं, सामाजिक व्यवस्था में भी इनकी आवश्यकता है। गांधी, विनोबा आदि ने इसी को आर्दश मानकर अपना मत प्रकट किया था किन्तु किसी ने नहीं सुना। वर्तमान अनर्थ तक पहुच कर, उसे सुनना ही पड़ेगा।

अर्थ के अर्जन, संचय और व्यय के विषय में कुछ नीतियों को स्मरण रखने पर उसका महत्व और सीमा समझाने में सहायता मिलेगी। अत्यन्त क्लेश उठाकर, धर्म का अतिक्रमण करके या शत्रुओं की सेवा के द्वारा जो धन मिले उसकी कामना नहीं करनी चाहिए-

अतिक्लेशेन योऽर्थः धर्मस्यातिक्रमेण वा
शत्रूणां प्रणिपातेन मा च तेषु मनः कृथाः।

केवल धन चाहने वाला लोक-निन्दित होता है, 'निन्द्यो भवत्यर्थपरो हि लोके'- रामायण। जो भी संग्रह किया जाता है, उसे नष्ट होना ही है- 'सर्वे क्षयान्ताः निचयाः'। अतः संग्रह वृत्ति का त्याग करना उचित है। धन की तीन गति है- भोग, दान और नाश। स्वयं या स्वजनों में भोग करना, दान देना, यह दो काम नहीं किया तो नाश अवश्यंम्‌ावी है। अतः धन का उपयोग दान में या धर्म सम्मत भोग में ही करना सुखकर है। कहा है- धनाद्धर्मः ततः सुखम्। धर्म होने पर धन आता है- धर्मादर्थश्च कामश्चं स धर्मः किं न सेव्यते। यह भी मान्य है कि आपत्ति काल के लिए धन की रक्षा करनी चाहिए। किन्तु शुद्ध धन ही आपत्ति से बचाता है। अन्यथा उसी धन से आपत्ति आ जाती है। अर्थ के विषय में पवित्रता बड़ी प्रशंसनीय बात है- ''योऽर्थे शुचिः स शुचिः न मृद्वारि शुचिः शुचिः''। पवित्र धन के पाँच तरह से बांट कर व्यय करने पर लोक परलोक में सुख मिलता है-

धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च।
पञ्चधा विभजन् वित्तमिहामुत्र च मोदते॥

धन के द्वारा विवेकपूर्वक सुखी होने का प्रयास नहीं किया गया तो उसी धन से दुःख अवश्यम्भावी है। कभी-कभी धन रखने के बजाय उसे त्याग देने में ही भलाई है। महाभारत का प्रसंग है-

सामिंषं कुररीं दृष्टवा बध्यमानं मिरामिषैः
आभिषस्य परित्यागात् कुररी सुख मेधते।

कुररी पक्षी को अन्य सभी पक्षियों ने मारना शुरू कर दिया क्योंकि उसके मुंह में मांस का टुकड़ा था। मांस के टुकड़े के गिर जाने पर कुररी सुखी हो गया। अतः अर्थ के विषय में सावधानी अपेक्षित है। 'अर्थस्य पुरूषो दासः दासोऽर्थः न कस्यचित्-कौटिल्य ने कहा है- अर्थ किसी का दास नहीं हो सकता, मनुष्य ही उसका दास बनाता है। मनुष्य को भी ऐसी दासता नहीं करनी

चाहिए। नदी के प्रवाह की तरह धन को चलाएमान रखनेमें बुराई नहीं उत्पन्न होती है। इन सब नीतियों और धर्म वाक्यों को देखते हुए अर्थ का चिन्तन किया जा सकता है।

अर्थ की सीमा का निर्धारण शास्त्रीय विधि से, योग्यतानुसार की गई है। कोई कुण्डीधान्य से अनधिक, कोई पेट भरने से अनधिक तो कोई अपार संपदा व राज्य भी रखने का अधिकारी होता है। वास्तव में धन की मात्रा का निर्धारण (सीलिंग) करना संभव नहीं है। योग्यता और आवश्यकतानुसार मात्रा में अन्तर स्वाभाविक है। इसकी सीमा धर्म से ही बनती है। न्याय से, स्वधर्म के द्वारा प्राप्त और धर्म के लिए प्रयुक्त धन की कोई सीमा नहीं है। अर्थशुद्धि ही धन का निकष है। धर्म ही अर्थ की सीमा है।

अर्थ की सीमा का निर्धारण प्रथम सदाचार, आत्मसंयम और संतोष से, द्वितीय सामाजिक मान्यताओं से, तृतीय कानूनी व्यवस्था के उपायों से हो सकता है। इन तीनों विधियों के विफल होने के कारण आज सब की अर्थवुभुक्षा अनन्त हो गई है। दान की प्रवृत्ति समाप्त हो जाने के कारण बुद्धिमान लोग भी धन संग्रह करने लगे हैं। आज अधर्म के कारण 'क्वचित बुधैरपि अपथेन गम्यते'। अन्यथा धन संग्रह करना बुद्धिमानों के लिए अनुकूल नहीं रहा है। जीवन के उच्चतर मूल्यों को लक्ष्य बनाने पर धन संग्रह की इच्छा स्वतः समाप्त हो जाती है। ऐसे लोग तो कम ही होते है। वर्तमान सामाजिक व्यवस्था तथा अन्तराष्ट्रीय परिवेश को देखते हुए धन का स्वरूप एवं मन्यता बदली जानी चाहिए। धन से पद या प्रतिष्ठा नहीं मिलनी चाहिए बल्कि उस धन के विनियोग से। विनम्रता एवं लोक-कल्याण की भावना होने पर ही धनी को प्रतिष्ठित माना जाय। अन्याय से अर्जित धन रखने वाले का वहिष्कार हो। सामाजकि बहिष्कार को राजनैतिक महत्व दिया जाय? ऐसा होने पर सामाजिक नियंत्रण के माध्यम से अर्थ शुद्धि और उसकी धार्मिक सीमा बन सकती है। बड़े-बड़े उद्योगों का संचालन करना वैश्य वर्ग का धर्म है। उससे उत्पादन तथा जन-कल्याण होने पर पुण्य मिलेगा। पुण्य-पाप का भेद तथा ईश्वर का भय होने पर धन की मर्यादा भी सुरक्षित हो सकती है।

स्वधर्म निर्धारण की समस्या

विधाता ने सभी प्राणियों को अलग-अलग स्वभाव दिया है। स्वभाव के अनुसार ही गुणों की भी उत्पत्ति की गई है। गुणों के अनुसार कर्म होते हैं। कर्मों के अनेक फल होते हैं। इन्हीं कर्मों तथा फलों के आधार पर धर्म तथा अधर्म का निर्णय होता है। विहित कर्मों को करना तथा निषिद्ध कर्मों को न करना ही धर्म है। इसका विपरीत अधर्म है। जिस कर्म का फल, लोक-परलोक में शुभ है, वह धर्म है और जिसका फल अशुभ है, वह अधर्म है। विहित-अविहित, शुभ-अशुभ के ज्ञान के लिए वेद, स्मृति, सदाचार तथा आत्मनिर्णय-चार लक्षण बताए गए है। धर्म तथा अधर्म की शाखा-प्रशाखा के भेद से तथा शास्त्रों के अर्थ में वैभिन्य के कारण धर्मशास्त्र एक महाटवी की भाँति है। धर्म का तत्व जानना दुष्कर कार्य है। जैसे हनुमान जी धौलागिरि पर पहुँच कर औषधि पहचानने में असमंजस में पड़ गये, उसी तरह धर्म के मार्ग में लोग असमंजस में पड़ जाते हैं। यह समस्या हनुमान जी की समस्या से भी कठिन है। उनमें सामर्थ्य थी कि पहाड़ ही उठा लिया और दवा दूसरे ने पहचान लिया, किन्तु समस्त धर्मों का पालन करना किसी के लिए सम्भव नहीं है। धर्म तो अनन्त है। ऐसी स्थिति में संजीवनी की पहचान आवश्यक है। स्वधर्म ही संजीवनी है। अनन्त धर्मों मे से अपना क्या धर्म है, उसका पालन कैसे किया जाय, यही जानना महत्वपूर्ण है। आज के युग में स्वधर्म निर्धारण की समस्या जटिल है। इस समस्या का निदान नितान्त आवश्यक है।

ईश्वर की सृष्टि में भूततत्वों तथा अवरकोटि के जीवों के स्वभाव तथा गुणों का स्पष्ट निर्धारण है। उनका कर्म और धर्म भी निश्चित है। मनुष्य के विषय में ऐसा नहीं है। बुद्धितत्व के कारण मनुष्य में स्वतन्त्र कर्तृत्व है। मनुष्य के स्वभाव और गुणों में परिवर्तन की संभावना रहती है। बुद्धि से उत्पन्न पाखण्ड के कारण स्वभाव और गुणों को छिपाना तथा अन्यथा प्रकट करना मनुष्य के लिए संभव है। ऐसी स्थिति में उसके लिए धर्म का निर्धारण करना कठिन है। व्यक्ति स्वयं चाहे तभी उसका धर्म (स्वधर्म) निर्धारित हो सकता है। स्वयं चाहने के लिए अपने साथ ईमानदारी होनी चाहिए। मिथ्याचारी व्यक्ति स्वधर्म को जानना ही नहीं चाहेगा। स्वधर्म को जानने के लिए धर्म के प्रति आस्था आवश्यक है। धर्म के दो स्पष्ट भाग है- सामान्य तथा विशेष। सामान्य धर्म सब के लिए समान व अनिवार्य है। सामान्य धर्म के प्रति श्रद्धा होने पर विशेष में अभिरूचि होती है। विशेष धर्म के पालन से ही सामान्य धर्म में श्रद्धा

बनी रहती है, अन्यथा लुप्त हो जाती है। इस तरह दोनों धर्मों का अन्योन्याश्रय है। सामान्य धर्म से मनुष्यत्व की सिद्धि होती है। धैर्य, क्षमा, यम, अस्तेय, शौच इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रौध- यह सामान्य धर्म है। यह धर्म दशविध या अनेक तरह के बताए गए है। सात्विक मानवीय गुणों को ही सामान्य धर्म कहा गया है। इनसे परस्पर सहयोग तथा सामाजिक व्यवस्था में सुविधा मिलती है तथा व्यक्ति की चित्तवृत्तियॉं स्थिर होती है। विशेष धर्म बहुत से हैं। इनमें से अभीष्ट (स्वधर्म) को ग्रहण करना है। यह सम्प्रदायगत (सामूहिक) हो सकता है या व्यक्तिगत भी हो सकता है। इसी के निर्धारण में समस्या है। अपने को कौन सा कार्य करना चाहिए, जीविका कैसी हो, जीवन का उद्देश्य क्या हो, उद्देश्य की प्राप्ति के लिए खान-पान तथा व्यवहार कैसा हो, किस तरह की उपासना की जाय आदि बातें विशेष धर्म के अन्तर्गत है। यह सभी व्यक्तियों के स्वभाव के अनुसार अलग-अलग होते हैं। इन्हीं के लिए स्वधर्म का निर्णय किया जाता है। वर्तमान युग में सर्वविध सांकर्य के कारण स्वधर्म निर्धारण में समस्या है।

अपनी स्थिति और कर्तव्य को जानना ही स्वधर्म ज्ञान है। वर्णाश्रम व्यवस्था के सुद्रढ़ रहने पर स्मृतियों का शासन चलता था। सभी के लिए समाज में स्थान और कर्तव्य नियत थे। उस समय स्वधर्म का निर्धारण अनायास हो जाता था। आधारभूत तत्वों के निर्धारित होने पर उसी परिवेश में सामान्य संशोधन करके सभी आदमी सुखी रहते थे। अभीष्ट की प्राप्ति से ही सुख मिलता है। स्वधर्म से ही अभीष्ट फल मिलता है। बाजार में अनेक पदार्थ होते हैं, किन्तु जो उपादेय होता है उसी को व्यक्ति खरीदता है। पुस्तक चाहने वाला बन्दूक नहीं लेता है और मिल जाने पर सुखी नहीं होता है। स्वधर्म हमें अभीष्ट की प्राप्ति कराता है, जिससे सुख मिलता है। इस समय व्यवसाय, खान-पान तथा विविध सामाजिक व्यवहारों में सांकर्य हो गया है। क्या स्व है, क्या पर है, यह जानना ही कठिन है। एक ही व्यक्ति अध्यापक, नेता, व्यवसायी तथा और भी अनेक तरह का स्वरूप रखता है। अर्थ और काम ही जीवन के उद्देश्य रह गए है। मात्स्यन्याय चल रहा है। धर्म की इच्छा नहीं है तो स्वधर्म को कौन खोजे? लेकिन अराजकता भी सहन नहीं है। इसके अपाकरण के लिए स्वधर्म की प्रतिष्ठा करनी पडेग़ी।

स्वधर्म का महत्व सर्वोपरि है। गीता की मान्यता है-'स्वधर्मे निधनंश्रेयः परधर्मो भयावहः।' परधर्म की निन्दा तथा स्वधर्म की प्रसंशा के लिए गीता में बहुत से स्थल हैं। ऐसा लगता है कि स्वधर्म की प्रतिष्ठा ही गीता का मुख्य विषय है। इसी से अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों मिलते है। गीता में स्वधर्म-निर्धारण का आधार वर्णाश्रम व्यवस्था है। वर्णाश्रम व्यवस्था के दो स्वरूप् है।

एक प्राकृतिक, दूसरा मानवकृत। मनुस्मृति आदि धर्मग्रन्थों में प्राकृतिक पक्ष को लेते हुए उसे आगे तक विकसित किया गया है। स्मृतिकारों द्वारा विकसित व्यवस्था के प्रभाव में कमी होने पर भी स्वाभाविक (प्राकृतिक) वर्णाश्रम व्यवस्था आज भी उपलब्ध है। गुण, कर्म, स्वभाव (शारीरिक व मानसिक स्थिति) के अनुसार सभी किसी न किसी वर्ण और आश्रम में स्थित रह सकते है। यदि ऐसा नहीं है तो सांकर्य का प्रकोप है, जिसके लिए शास्त्र नहीं जिम्मेदार है। सांकर्य को दूर करने के लिए ही स्मृतिकारों ने नियम बनाया था। उस समय स्मृतियों का शासन था। वर्तमान समय में जिसका शासन है, उसकी जिम्मेदारी है कि सांकर्य को दूर करें। नए नियमों के द्वारा भी वर्णाश्रम व्यवस्था की स्थापना हो सकती है किन्तु इन नियमों में सांकर्य-निरोध के लिए क्षमता होनी आवश्यक है। स्वधर्म और परधर्म का सम्मिश्रण या परस्पर बाधित होना ही सांकर्य है। अर्थ और काम को ही सर्वस्व मानना भी पुरूषार्थ-सांकर्य है। धर्म को जानने के लिए अधर्म का ज्ञान भी आवश्यक है। अधर्म भी बड़ा सूक्ष्म होता है। भागवत में है-

विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमा छलः ।
अधर्म-शाखा पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत् त्यजेत्॥

—भागवत, स्कन्द 7 अ0 75

यहाँ पर पाँच प्रकार के अधर्म बताए गए है-विधर्म, परधर्म, आभास, उपमा, छल। परधर्म भी अर्धम ही है। अतः धर्म तो केवल वही है जो अपने लिए वरणीय हो। आचार्य सभी धर्मों की शिक्षा देता है। बाद में गुरू स्वधर्म का निरर्धारण करता है। गुरू का कार्य पिता, आचार्य, प्रभावित करने वाला व्यक्ति या देवता, अपनी विवेक-बुद्धि या स्वभाव में से कोई एक करता है। इष्ट देवता तथा अभीष्ट सिद्धि का निर्णय स्वधर्म निरधारण के बाद ही होता है। रूचि और क्षमता की भिन्नता के कारण एक ही उद्देश्य होने पर भी, स्वधर्म में अन्तर हो सकता है। सबका पर्यवसान एक ही स्थान पर सम्भव है। आरम्भ स्वधर्म से ही होता है।

धर्म में स्वधर्म, परधर्म, सर्वधर्म आपद्धर्म सभी सम्मिलित हैं। समष्टि के लिए कर्तव्य और अधिकार के नियम व्यष्टि के लिए स्वधर्म कहे जाते हैं। स्वधर्म के अतिरिक्त बचा धर्म परधर्म है। धर्मों में से जो अंश व्यष्टि -समष्टि सभी के लिए समान है वही सर्वधर्म है। इसी को साधारण धर्म, कहते हैं। आपद्धर्म संकटकालीन धर्म को कहते हैं। आपद्धर्म की मान्यता स्वधर्म की रक्षा के लिए दी गई है। स्वधर्म की रक्षा के लिए सर्वधर्म में भी न्यूवता की जा सकती है। सत्य, अहिंसा, क्षमा आदि सामान्यधर्मों के नियम आपत्कालीन स्थिति में बदले जा सकते हैं और वही धर्मसंगत कहे जाते है। स्वधर्म सभी

परिस्थितियों में रक्षणीय होता है। परधर्म ग्राह्य नहीं होता है , किन्तु वह भी आदरणीय होता है। हमारे लिए जो महत्व स्वधर्म का है, वही महत्व दूसरे के लिए उसके धर्म का है। अतः परधर्म का पालन नहीं करना चाहिए, किन्तु उसको यथास्थान सम्मान देना ही धर्मयुक्त है।

धर्म का प्रवर्तक ईश्वर है। राजा उसी की ओर से कार्य करता है। शासन का धर्म की प्रतिष्ठा के लिए, स्वधर्म-पालन के लिए अवसर तथा इसी के लिए बाध्यता के नियमों का प्रवर्तन ही प्रमुख कार्य है। रामराज्य को आदर्श माना जाता है। स्वधर्म की व्यवस्था ही रामराज्य की विशेषता थी। 'चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीति'-ऐसा मानसकार ने लिखा है। इसी स्वधर्म से धर्म के चारों चरण रामराज्य में प्रतिष्ठित थे। सर्वधर्म ही राजधर्म है तथा स्वधर्म ही प्रजा का धर्म है। इसी मान्यता को अपनाने पर रामराज्य सुलभ है।

स्वधर्म को समझने के लिए 'स्व' को जानना नितान्त आवश्यक है। 'स्व' शब्द का प्रयोग आत्मा, आत्मीय, जाति, धन- चार अर्थों में होता है। इस तरह व्यापक और चैतन्य से लेकर स्थूल और जड़ तक का बोध 'स्व' है। स्व का निर्धारण अधिकार के अनुसार होता है। जहाँ-जहाँ अधिकारपूर्ण सम्बन्ध है, वहाँ-वहाँ स्व की बुद्धि है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, सूर्य, पृथ्वी, देश, प्रदेश, जिला, गाँव, घर-परिवार, धन-सम्पत्ति आदि सभी स्व हो सकते हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर शरीर भी स्व नहीं है। देश-काल की सीमा के परे भी जहाँ अधिकार रह सकें, ऐसी खोज की जाय तो स्व के रूप में केवल आत्मा अवशिष्ट बचता है। 'स्व' शब्द के व्यापक अर्थ है। जहां भी हमारा स्व है, वहां हमारा धर्म भी है। अधिकार के साथ कर्तव्य होता ही है। निरपेक्ष्य अधिकार नहीं होता है। मनुष्य, समाज, विश्व आदि में स्व का भाव है तो मनुष्यत्व की रक्षा, परोपकार, प्रदूषण-निवारण आदि भी हमारे लिए धर्म है। सार्वजनिक होने के कारण ऐसे धर्मों को साधारण धर्म की कोटि में रखा जाता है। आत्मा और आत्मीय से सम्बन्धित धर्मों को व्यक्तिनिष्ठ होने के कारण स्वधर्म की कोटि में रक्खा जाता है। 'आत्मानं सततं रक्षेत, पुत्रैर्दारै र्धनैरपि'-यह सर्वमान्य धर्म है। निकटस्थ स्व की रक्षा दूरस्थ स्व के मूल्य पर भी की जाती है। यही व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्य है। निकटस्थ की पहचान के लिए आत्मान्वेषण की आवश्यकता होती है। यह कार्य गुरू कृपा से भी पूरा होता है। स्वभाव के पहचान के बाद स्वधर्म का निर्धारण होता है। स्वधर्म हमारा अधिकार है और पालन हमारा कर्तव्य है।

इस तरह प्राथमिक आवश्यकता है धर्म-मार्ग में चलने की इच्छा। इससे साधारण धर्मों का पालन एवं मनुष्यत्व की सिद्धि होती है। इसके आगे स्वधर्म का निर्धारण होता है। स्वधर्म निर्धारण में मुख्य बाधा है सांकर्य। जाति,

आर्थोपार्जन की विधि, अर्थ का विनियोग, परधर्म सेवन आदि सांकर्य के मुख्य स्थल है। इसका निराकरणशास्त्र या शासक के सुनियमों के पालन से ही सम्भव है। स्वधर्म निर्धारण की समस्या का हल संभव है। सामान्य और विशेष दोनों धर्म निर्धारित है। आजकल विश्व-संस्कृति, विश्व समाज तथा विश्व धर्म की बात चल रही है। यह कहां तक संभव है- विचारणीय है। साधारण धर्मो तक ही यह व्यवस्था हो सकती है। स्वधर्म के विषय में परिवर्तन असंभव है। मानव समाज के इतिहास से ज्ञात होता है कि पहले धर्म का शासन था। धीरे-धीरे समाज पर राज्य का शासन हो गया। राज्य का शासन साधारण धर्म तथा विशेष धर्म दोनों का उत्तरदायित्व लेता था। तब तक व्यवस्था ठीक थी। धर्म निरपेक्षता के कारण अब धर्म का स्थान नैतिकता और कानूनों के पालन ने ले लिया है। राज्य के कार्य क्षेत्र का भी परिसीमन अपेक्षित हो गया है। धर्म के अभाव में नैतिकता व कानून नहीं टिक सकते हैं। ईश्वर से भय और स्वधर्म के पालन के कारण जो नैतिकता और राज्य के प्रति सम्मान था, वह अब नहीं रहा। अराजकता पाप है—''न हि पापात्परतरं किंचितदस्ति अराजकात्'' —महाभारत । अतः समय आ गया है कि व्यवस्था को सुधारा जाय। मात्र समाज और राज्य से व्यक्ति नहीं बनेगा। व्यक्ति को पुनः आगे करना होगा। व्यक्ति से ही परिवार, गॉव, राज्य तथा विश्व-समाज का निर्माण हो सकता है। व्यक्ति-निर्माण के लिए स्वधर्म की आवश्यकता है। राष्ट्र और समाज के लिए भी स्वधर्म ही अपेक्षित है।

\-\-\-\-\-\-\-\-

राजधर्म का परिसीमन

मनुष्य ने अपने बुद्धिबल के प्रभाव से, अपनी जाति और संस्कृति की रक्षा के लिए धर्म विहित राज्य तथा शासन की व्यवस्था किया है। जंगल का राज्य उसके लिए अभीष्ट नहीं है। धर्म ही मनुष्य की पहचान है-' धर्मो हि तेषामधिको विशेषः। अन्यथा वह भी पशु है। मनुष्य के लिए ऐसी व्यवस्था अपेक्षित है, जिसमें शान्ति, सुरक्षा, न्याय तथा विकास के लिए अवसर मिले। इसमें कमी होने पर भी यदि कोई सन्तुष्ट रहता है, तो वह मनुष्य स्तर से नीचे है और इनमें विकृति होने पर जो आनन्दित होता है वह समाज-द्रोही, राक्षस या असुर कोटि का है। मनुष्य ने जो व्यवस्था दी है, उसमें राजा या शासन भी अनुशासित किए गए हैं। उसके लिए राजधर्म का पालन विहित है। राजा के अधिकार तथा कर्तव्य राजधर्म के अन्तर्गत है। अधिकार और कर्तव्य उद्देश्य के अनुरूप होते हैं। यही राजधर्म की मर्यादा बनाते हैं। परिस्थितियों के अनुसार आवश्यकता और उद्देश्य भी बदलते हैं। वर्तमान परिस्थिति में राजधर्म (राजनीति) की क्या सीमा हो, यही विचारणीय है।

राजधर्म की उत्पत्ति और विकास का इतिहास महाभारत, पुराण तथा अन्य ग्रन्थों में मिलता है। बाइबिल (ओल्ड टेस्टामेंट) तथा अन्य प्रतिष्ठित विदेशी धर्मों में भी यह उपलब्ध होता है। सभी मानते हैं कि बहुत पहले, जिसे हम सतयुग का आदि चरण कह सकते हैं, ऋषियों का शासन था। उस समय धर्म के अधीन अपने आप व्यवस्था बनी रहती थी। कोई राजा या दण्ड-व्यवस्था का विधान नहीं था। महाभारत में है -

न राज्यं नैव राजा च न दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः रक्षन्ति स्म परम्परम्॥

स्पष्ट है कि एक दूसरे का हित देखना उस समय स्वाभाविक गुण था। बाद में मनुष्य जाति में स्वार्थ की प्रबलता के कारण सामाजिक-अव्यवस्था उत्पन्न होने लगी। असत्य का आश्रय लेकर बंचना तथा दस्युवृत्ति आदि समस्याओं के होने पर राज्य तथा शासन की आवश्यकता हुई। हिन्दू मान्यता के अनुसार मनु प्रथम राजा हुए। वे इस पद को नहीं स्वीकार कर रहे थे, किन्तु सभी के द्वारा सहयोग के आश्वासन पर वे राजपद पर आरूढ़ हुए। इसका अर्थ है कि राजा कोई बनता नहीं, बल्कि बनाया जाता है। उसे जनता का सहयोग मिलना आवश्यक है तथा सहयोग न मिलने पर राजपद से हट जाना चाहिए या हटाया जाना चाहिए। मनु आदि राजाओं का काल राजधर्म का प्रथम चरण था। इस

समय धर्म के स्थान पर धर्म-सम्मत राजा का राज्य होता था। इसके उपरान्त, राजपद के लिए लोभ होने पर, धर्म गौड़ हो गया और राजपद तथा शासन प्रमुख हो गए। धर्मनीति का स्थान राजनीति ने ले लिया।

इतिहास-पुराण में सही राजनीति भी धर्म समर्थित ही मानी गई है। राजमद से सुरक्षा के लिए राजनीति आवश्यक हो गई। महाभारत काल में यही स्थिति रही है। आगे विकास होने पर राजनीति के स्थान पर कूटनीति आ गईं। इसमें धर्म एकदम गौड़ हो गया। इस स्थिति में राजपद इतना महत्वपूर्ण हो गया कि इसके लिए धार्मिक मूल्यों की अवहेलना को स्वीकृति मिल गई। राजपद सुरक्षित होने पर ही धार्मिक मूल्यों पर ध्यान उस समय भी दिया जाता था। इस समय राजनीति तथा धर्म में संघर्ष हुआ। फलतः विकास के अन्तिम चरण में पहुँच कर राजनीति में धर्म का हस्तक्षेप अमान्य हो गया है। तर्क और उपयोगिता (प्रत्यक्ष) ही अब मानदण्ड है। विकास के इस क्रम में राजधर्म की विभिन्न सीमाएँ रही हैं।

आदिकाल में राजा का कोई निजी स्वार्थ या लगाव नहीं था। वह प्रजारंजन के लिए होता था। वह जो कुछ करता था, सब प्रजा के हित में होता था। ऐसी स्थिति में राजा के ऊपर कोई अंकुश लगाने की आवश्यकता ही नहीं थी। उसका धर्म असीम था। बाद में राजा का स्वार्थ भी स्पष्ट होने लगा। वे प्रजारंजन के स्थान पर प्रजा को कष्ट भी देने लगे। तब राजा के ऊपर भी नियन्त्रण की बात सोचना आवश्यक हो गया। उसकी भी सीमा निर्धारित करना अपेक्षित हो गया। वेन जैसे राजाओं की आयु-सीमा तक को निर्धारित ऋषियों ने किया। प्रजारंजन के लिए राजा कुछ भी कर सकता है किन्तु अहित न तो वह कर सकता है न ही उसे देखा जा सकता है। हित-अहित जानने तथा उसके अनुसार कार्य करने के लिए मार्ग धर्मशास्त्रों में ही है। इस तरह धर्मशास्त्र ही राजधर्म का परिसीमन कर सकता है। दर्शन तथा दार्शनिकों के विचार से राजधर्म के संशोधन की जो परम्परा चली है वह त्रुटिपूर्ण है। दर्शन तो धर्म को सही स्वरूप दे सकता है, उस पर अंकुश लगा सकता है। राजधर्म पर सीधे अंकुश लगाना दर्शन का कार्य नहीं है। राजधर्म पर धर्म ही उपयोगी है। किन्तु राजनीति में धर्म का स्थान ही नहीं रहा तो राजधर्म का परिसीमन कैसे सम्भव है ?

राजधर्म तथा राजनीति को समानार्थक रूप में प्रयोग किया जाता है। यहाँ राजधर्म तथा सम्बन्धित विषयों की शास्त्रीय व्याख्या जान लेना उचित है। राजधर्म मनुष्य के सामान्य धर्मों को ही कहते हैं। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, परोपकार आदि सामान्य धर्म ही राजधर्म है। राजा इन्हीं धर्मों का प्रजा में संचार करता है। राजा के सो जाने पर भी, दण्ड के जाग्रत रहने पर, राजधर्म प्रवर्तित

रहता है। विशेष धर्म से भी सामान्य धर्म की रक्षा ही होती है। राजधर्म के प्रर्वतन के लिए राजनीति का आश्रय लिया जाता है। नैतिक आधार संकुचित होता है। प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से सिद्ध होने पर ही यह मान्य होता है। तर्क के द्वारा सिद्धि राजनीति का आवश्यक अंग है। कूटनीति, अर्थनीति, दण्डनीति भी राजनीति है। राजा शब्द क्षत्रियपरक है, जिसमें त्याग, धर्म रक्षा, शौर्य, सत्य आदि प्रधानगुण होते हैं। दण्ड राजा का उपकरण है। स्वयं प्रायश्चित न करते पर दण्ड द्वारा राजा प्रायश्चित कराता है। इससे बचने पर यमराज द्वारा प्रायश्चित अवश्यंभावी है-

गुरूः आत्मवतां शास्ता शास्ता राजा दुरात्मनाम्।
अन्तः प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः।।

लोकमत और शास्त्रमत दोनों को मिलाकर दण्ड-व्यवस्था बनती है। न्याय और दण्ड सम्बद्ध है। मात्स्य न्याय न हो, इसके लिए ही शास्त्रीय न्याय बना है। बहुमत नहीं, शास्त्र सम्मत लोकमत ही न्याय का आधार है। लोकमत से राज्य चलता है, किन्तु धर्म का विरोध होने पर लोकमत गौण हो जाता है। लोकमत था कि राम को राज्य दिया जाय किन्तु माता-पिता का आदेश पालन करना धर्म का मत था। अतः राज्य छोड़कर वन जाना ही राम के लिए उचित हुआ। धर्म का शासन व वृद्धसेवा ही राजतन्त्र पर अंकुश लगाते हैं। यह दोनों राजा के उपास्य है।

मनुष्य के प्रत्यक्ष पुरूषार्थ दो है- काम व अर्थ। यह दोनों अनन्त हैं। समस्त पृथ्वी के भोग एक व्यक्ति के लिए भी पर्याप्त नहीं है। अगर मिल भी जाय तो आयुसीमा (मृत्यु) इसमें निश्चय ही बाधक होगी। ऐसी स्थिति में काम और अर्थ को ही सर्वस्व मानने में धोखा है। धर्म के माध्यम से अगले जन्म में पुनः इन दोनों पुरूषार्थों को पा सकते हैं। ऐसी भावना के दृढ़ होने पर धर्म में अनुराग होता है। धर्ममार्ग पर आरूढ़ होने पर राजा या शासक के अंकुश की आवश्यकता नहीं रह जाती है। जो धर्ममार्ग पर नहीं है और अर्थ, काम के ही सेवन में लगे हैं, ऐसे लोगों पर ही अनुशासन की आवश्यकता है। 'राजा शास्ता दुरात्मनाम् ऐसा मनुस्मृति में लिखा है। मानव जाति के सामान्य धर्मों का जो भी पालन करता है, उसके ऊपर शासन का कुप्रभाव नही होना चाहिए। यदि शासन द्वारा ऐसे व्यक्तियों को पीड़ा मिल रही है तो उस अधिकार का परिसीमन कथमपि होना है।

राजा की उत्पत्ति के विषय में कई तरह के सिद्धान्त है। संविदा का सिद्धान्त जनप्रिय शासक देता है, दैवी सिद्धान्त भय से राजाज्ञा का पालन कराता है, शक्ति के सिद्धान्त से निरंकुश शासक पैदा होता है। चाहे जो सिद्धान्त मान्य हो जनता का हित सर्वोपरि होना चाहिए। राजाओं की

स्वार्थबुद्धि को देखकर ही, आवश्यकतानुसार कुलीनतन्त्र, जनतन्त्र आदि व्यवस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ। साम्यवाद का प्रयोग भी इसी उद्देश्य से हुआ। जितना ही प्रयास हो रहा है समस्याएँ बढ़ती जा रही है। कोई भी तन्त्र अपने में पूर्ण हैं। अब राज्य केवल शासन का नहीं बल्कि कल्याण का भी कार्य करता है। लेकिन न तो शासन है न ही कल्याण।

बिना अनुशासन के कोई कल्याण नहीं सम्भव है। शासन को सुदृढ़ करने के बाद ही आगे की योजना की जा सकती है। शासन की व्यवस्था के लिए पुनः धर्मनीति की शरण लेनी पडेग़ी। यही मान्यता देते हुए गान्धी जी ने ठीक ही विचार किया था। चाहे जब तक भटकते रहे हमें दूसरा मार्ग नहीं मिलेगा। जिस धर्म में जितना ही अधिक परोपकार, विश्व-बन्धुत्व, शान्ति, क्षमा, त्याग आदि का प्राबल्य होगा, वह उतना ही अधिक शासन के लिए सहायक और मार्गदर्शक हो सकता है। अपने देश में धर्म की अमूल्य विरासत प्राप्त है। 'अक्के चेन्मधुविन्देत् किमर्थ काननं ब्रजेत्' की नीति के अनुसार हमें कहीं भटकना नहीं है। इसी धर्म के अनुसार अर्थ और काम पर शासन करना राजधर्म का मानदण्ड है। इससे विचलित होने के कारण राजधर्म का परिसीमन करना वर्तमान समय की आवश्यकता है।

सभी विद्वान इस बात पर एकमत है कि राजा को पूर्ण स्वतन्त्र और प्रभु सत्ता सम्पन्न होना चाहिए। उसके अधिकारों के परिसीमन की कल्पना सिद्धान्त के विरूद्ध है। इस सिद्धान्त पर भी वैमत्य नहीं है कि राज्य के कार्य का आकलन उसके द्वारा स्थापित शान्ति-व्यवस्था, उन्नति के मार्ग, जनकल्याण तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं गरिमा आदि मूल्यों के आधार पर ही किया जाता है। इन मूल्यों की प्राप्ति न होने पर जनता ही राजा के अधिकारों को छीन लेती है। असफल होने पर शासक को स्वयं पद छोड़ देना चाहिए। नीति या संविधान में दोष होने पर उसका पुनरावलोकन अपेक्षित होता है। परिणाम के आधार पर नीति या संविधान के औचित्य के विषय में निश्चय किया जा सकता है। राज्य की भौगोलिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक स्थितियाँ बलपूर्वक राजधर्म को परिसीमित करती है। कितना भी अच्छा संविधान हो किन्तु इन परिस्थितियों के अनुरूप न होने पर वह निन्दनीय हो जाता है। इन परिस्थितियों को रागद्वेष से रहित विद्वान विचारक ही समझ सकता है। धरती का पुत्र, संस्कृति का उत्तराधिकारी तथा प्रबुद्ध व्यक्ति ही ऐसा विचारक हो सकता है। वही समाज का शिक्षक और मार्ग दर्शक होता है। जब वह जनता का नेता होता है तो जनता ही राजधर्म को परिसीमित कर देती है। परिसीमन, परिवर्धन या परिवर्तन सब जनता के ही कार्य है। राज्य की कई शक्तियां होती है। इनमें से अर्थशक्ति, सैन्यशक्ति, जनशक्ति तथा मित्रशक्ति प्रधान है। सभी शक्तियों का विनियोग

उद्देश्यों की प्राप्ति में होता है। शक्ति के सीमित होने पर मुख्य उद्देश्य की पूर्ति को प्राथमिकता दी जाती है। अनुशासन राज्य का प्रथम कर्तव्य है। महाभारत में है- 'न हि पापात्परतरम् अस्ति किन्चित् अराजकात्।' शान्ति-व्यवस्था के बाद शिक्षा और धर्मपालन की व्यवस्था है। इससे अच्छे नागरिक बनते हैं। इसके अनन्तर शक्ति बचती है तो जन-कल्याण की योजनाओं का लागू करना चाहिए। अननुशासित और कुशिक्षित समाज में जनकल्याण की योजनाएँ ऊसर के बीज से भी अधिक अनुपयोगी, साँप के लिए दूध की तरह हानिकारक है। इन योजनाओं से गुण्डे और समाज-द्रोही ही पनपते हैं तथा वर्ग-विद्वेष फैलता है। राज्य की नीतियों मे अव्यवस्था के कारण जब व्यक्ति का पूर्ण विकास नहीं सम्भव होता है तो कुण्ठाग्रस्त समाज बनता है। इससे अनेक अपराधी वृत्तियों का प्रादुर्भाव होता है। उपर्युक्त विवेचना को आधार मानने पर वर्तमान समय में राज्य के कार्य-कलापों (राजधर्म) का परिसीमन उचित लगता है। दूसरी दिशा में परिवर्धन भी अपेक्षित है। आम वार्ता में सुना जाता है कि शासन बेडरूम तथा किचेन तक पर नियम लागू कर रहा है किन्तु खुली सड़क पर अनियमितता की ओर ध्यान नहीं जा रहा है। यह आक्षेप गम्भीर है। इसे दूर करने का उपाय है। मनुष्य बनने के लिए प्राथमिक शिक्षा तथा विशिष्ट कोटि की उच्चशिक्षा, धार्मिक तथा सामाजिक संस्थाएँ, न्याय, धर्म और अनुशासन के लिए परम्परागत सामाजिक मान्यताओं के ऊपर तब तक कोई नियन्त्रण न किया जाय जब तक इनके नाम पर कोई असामाजिक कार्य न हो रहा हो। समाज और व्यक्ति दोनों राज्य के आराध्य है। अगर राज्य इनका संरक्षक नहीं है तो नियंत्रक भी नहीं रह सकता है। दूसरी ओर समाज के विरोधियों और कुप्रथाओं का समाप्त करना भी आवश्यक है। राजशक्ति को एक ओर से परिसीमित करके दूसरी ओर लगाना अनिवार्य हो गया है। इस कार्य में राजधर्म का परिसीमन होता है तो यह व्यवहार और सिद्धांत के विपरीत नहीं है। राज्य की शक्ति परिमित है। कम महत्व के विषयों तथा द्वितीय श्रेणी के कार्यों का छोड़ना तथा प्राथमिक और महत्वपूर्ण विषयों पर शक्ति का विनियोग करना राज्य के लिए, वर्तमान समय में महत्वपूर्ण कर्तव्य है। केवल राजनैतिक उद्देश्यों और जनमत प्राप्त करने के लिए राजकोष का व्यय तथा वर्ग विद्वेष फैलाने वाली नीतियों का परिसीमन अपरिहार्य आवश्यकता है।

किसी भी तरह की शासन प्रणाली निर्दोष नहीं है। जनता निश्चित रूप सम्पूर्ण अधिकार शासन को नहीं दे सकती है। समयानुसार संस्कार करने के लिए परिसीमन तथा परिवर्धन करना जनता का कार्य है। योग्यता के अनुसार ही अधिकार या कर्तव्य दिए जा सकते हैं। योग्यता का निर्णय जनता करती है। यदि परिसीमन से कार्य नहीं चलता है तो परिवर्तन भी जनता ही करती है-जैसा

रूस में हुआ है। अपने देश में परिसीमन के द्वारा भी सुधार संभव लगता है। राज्य के कार्यों में प्राथमिकता का निर्धारण और उनके लिए शक्ति का आकलन अपेक्षित है। यहाँ सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। आवश्यकता के अनुसार इसका विस्तार किया जा सकता है।

अपने देश में संविधान का शासन है। इसी के अधीन सभी कानून और नियम संचालित हो रहे हैं। संक्रमणकालीन समाज में समस्याएँ आती हैं। इसी कारण संविधान के होने पर भी असंवैधानिक कार्य हो रहे हैं। कहीं लोकमत से न्यायपालिका तो कहीं न्यायपालिका से लोकमत को बाधा पहुँच रही है। राजनीति के कारण न्यायपालिका तथा लोकमत दोनों को बाधा पहुँच रही है। इन बातों के अनेक स्पष्ट प्रमाण स्वतन्त्र देश के इतिहास में उपस्थित हैं। परिसीमन के स्थान पर सही ढंग से प्रवर्तन की आवश्यकता अधिक है। संविधान ने शासक व शासित सभी के अधिकार और कर्तव्य को निर्धारित किया है। राज्य के नीति निर्देशकतत्व शासन पर नैतिक जिम्मेदारी देकर परिसीमन कर सकते हैं। संविधान परिवर्तनशील है अतः समयानुसार परिसीमन का प्राविधान भी है। संविधान मनुष्यकृत है। इसमें गलती होना स्वाभाविक है। वेद ईश्वर के निःश्वास है। अकर्तृक होने के कारण वेदों के ज्ञान में गलती की संभावना नहीं है। उनके आधार पर शास्त्र बने हैं तथा धर्म और परम्पराएँ भी उसी स्रोत से है। संविधान का भी संविधान शास्त्र है। शास्त्रों के आधार पर संविधान में संशोधन हो सकता है। इस तरह संविधान एवं राजधर्म का परिसीमन शास्त्रों के आधार पर संभव है। अथर्ववेद संहिता के काण्ड 15 के दूसरे अनुवाक में तथा इतस्ततः वेदों में राष्ट्र और राजा के लिए उपयोगी विधान है। महाभारत, पुराण, कौटिल्य, कामन्दक आदि के ग्रन्थों में राजनीति और धर्मशास्त्र का समन्वय मिलता है। यह अब भी हमारे आदर्श बन सकते हैं। महाभारत की मान्यता है कि राजधर्म में सभी धर्म समाहित है। दण्डनीति के दुर्बल होने पर समाज का सम्पूर्ण कार्य व्यापार नष्ट हो जाता है-

यथाराजन् हस्तिपदे पदानि संलीयन्ते सर्वसत्त्वोद्भवानि।
एवं धर्मान् राजधर्मेषु सर्वान् सर्वावस्थान् सम्प्रलीनान्निबोध॥
मज्जेत्त्रयी दण्डनीतौ हतायां सर्वे धर्माः प्रक्षपेयुर्विबद्धाः ।
सर्वे धर्माश्चाप्रमाणाः हताः स्युः क्षात्रे नष्टे राजधर्मेपुराणे ॥

यह मान्यता महाभारत काल में जितनी सत्य थी, उतनी ही अब भी है। विकास और व्यवस्था एक दूसरे के लिए हैं। विकास के साथ व्यवस्था बदलती है। दोनों में अन्तर्द्वन्द्व भी होता है। आज समाज और व्यक्ति तथा राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध में शक्ति सन्तुलन बदल गया है। इस दृष्टि से नई शासन प्रणाली तथा नए नियम भी अपेक्षित हैं। शासन जन-कल्याण के लिए होना ही

चाहिए। यह नई बात नहीं है। इन सबके बावजूद भी राजधर्म का मूल उद्देश्य अपरिवर्तित है। राजधर्म की परिभाषा पहले ही दी गई है। उससे विचलित होने पर राजनीति या शासन को, किसी भी ब्याज पर, क्षमा नही किया जाता है। हमारे शास्त्र मूल उद्देश्य की ओर आकृष्ट करते रहते हैं। उन शास्त्रों की मान्यता अक्षुण्ण रखना हमारा कर्तव्य है।

ईश्वर सबका नियन्ता है। मनुष्य जब अपने उद्योग में असफल होकर राजधर्म से च्युत हो जाता है तब ईश्वर पुनः धर्म की स्थापना करता है। गीता में-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

इस तरह ईश्वर ही अति विकृति को ठीक करता है। उसका शासन कठोर है। उस कठोर शासन से बचने के लिए मनुष्य को स्वयं धर्ममार्ग का वरण करना चाहिए। विकृत राजनीति को ठीक करने के लिए दैवी प्रकोप न हो, इसके पहले हमें परिसीमन और परिवर्धन के द्वारा राजधर्म को प्रतिष्ठित रखना चाहिए। मनुष्य में बुद्धिबल है, अतः उसे दैवी हस्तक्षेप की प्रतीक्षा भी नहीं करना चाहिए।

राजपद पाने के लिए वंशानुक्रम, कुलीनता, सम्पन्नता आदि शर्तों को अस्वीकार करना उचित है। किन्तु योग्यता एक ऐसी शर्त है, जिसकी अवहेलना नहीं होनी चाहिए। राजधर्म का प्रवर्तन राजपदस्थ व्यक्ति ही करता है। सामान्य जनता उस व्यक्ति को अपना विश्वास और अधिकार सौंपती है। पदस्थ व्यक्ति के अलावा अन्य लोग (पार्टी या रिश्ते से) भी जब राजधर्म की बागडोर हाथ में ले लेते हैं, तो शासन में विकृति पैदा होती है। वर्तमान समय में इस दिशा में भी नियन्त्रण की आवश्यकता है। राजधर्म का प्रवर्तन आसान कार्य नहीं है। स्वभाव, गुण और योग्यता के बिना पद प्राप्ति हानिकारक है। अतः राजनेताओं के लिए एक अनिवार्य शिक्षा तथा योग्यता आवश्यक है। उनकी एक आचार-संहिता होनी चाहिए, जो शास्त्रीय मान्यता के आधार पर बने। यह बातें राजधर्म के प्रवर्तकों का परिसीमन करती हैं। सभी के शासक होने से अराजकता हो जाती है। वैसे यह प्रजातन्त्र का युग माना जाता है। प्रजा ही शासक है। प्रजा का मार्ग-दर्शन तो धर्म और शास्त्र करते आए हैं। अगर प्रबुद्ध नागरिक हो जायें तो समस्या ही न रह जाय। प्रजा का शासन इसी अर्थ में है कि वह अपना नेता (अधिकारी) चुनने को स्वतन्त्र हैं। चुनने में गलती होती है, इसका निराकरण जनजागरण से ही संभव है। जन-जागरण से ही वर्तमान राजनीति का परिसीमन भी संभव है। हमारे बेडरूम व किचेन तक, धार्मिक व सामाजिक संस्थाओं तक राजनीति और प्रशासन का हस्तक्षेप होने का कारण है कि हम प्रशासन को सब

जगह आमन्त्रित करते हैं, या प्रवेश का अवसर देते हैं। नैतिकता और अपने अधिकार तथा कर्तव्य का ज्ञान और पालन होने पर अनावश्यक राजनैतिक हस्तक्षेप स्वतः समाप्त हो सकता है। इसके लिए भी जन-जागरण ही आवश्यक है।

निष्कर्ष यह है कि शास्त्रीय राजधर्म का सर्वांश में प्रवर्तन होना चाहिए। वर्तमान समय में राजनीति और शासन द्वारा प्रवर्तित राजधर्म का परिसीमन तथा कहीं-कहीं परिवर्धन अपेक्षित है। राजधर्म के प्रवर्तकों के लिए न्यूनतम योग्यता तथा आचार-संहिता का प्रावधान होना चाहिए। संस्कार,शिक्षा और स्वधर्म व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिए आधार-स्तम्भ हैं। इनकी प्रतिष्ठा में बाधक तत्वों का परिसीमन करना है। सामाजिक संस्थाओं तथा धार्मिक कृत्यों से संस्कार होता है। शिक्षा से सुसंस्कृत, अनुशासित और बुद्धिबल से सम्पन्न नागरिक पैदा होते हैं। स्वधर्म-पालन से सामाजिक स्थिरता तथा विकास की प्राप्ति होती है। न्याय और दण्ड को सुदृढ़ रखते हुए इन्हीं तीनों की रक्षा करने से राष्ट्र की उन्नति संभव है। इन तीनों को स्वतन्त्र रखना ही सामाजिक न्याय है। शिक्षण संस्थाओं की मान्यता भौतिक साधनों के आधार पर नहीं, बल्कि विद्यार्थियों की योग्यता और आचरण के आधार पर होनी चाहिए। सामाजिक संस्थाओं एवं परम्पराओं में विकृति है तो उसे दूर किया जा सकता है, किंन्तु उनका राजकीयकरण नही होना चाहिए। राज्य को अपने हाथ इन क्षेत्रों से हटा लेना चाहिए। जन-जागरण और सामाजिक चेतना से शासन का क्षेत्र स्वयं परिसीमत हो सकता है। सामाजिक संस्थाओं को सबल एवं सन्मार्ग पर रखना तथा जन-जागरण दोनों अन्योन्याश्रित हैं। मूल्यों की स्थापना द्वारा जन-जागरण करना ही प्रथम आवश्यकता है।

लोक-जागृति के लिए शिक्षा का स्वरूप

शिक्ष् विद्योपादाने धातु से शिक्षा शब्द बना है। स्पष्ट है कि शिक्षा और विद्या में अन्तर है। शिक्षा के द्वारा विद्या प्राप्त होती है। शिक्षा क्रिया है और विद्या कार्य है। प्रत्येक कार्य का कुछ फल होता है। विद्या का फल है-पुरूषार्थ सिद्धि। विद्यायें अनेक हैं। पुरूषार्थ चार हैं- धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। इन्हीं चारों की सिद्धि के लिए संसार में शिक्षा आदि अनेक उपक्रम चल रहे हैं। शिक्षा, विद्या एवं पुरूषार्थ का कार्य-कारणभाव से निकट सम्बन्ध है। पुरूषार्थ सिद्धि का अर्थ है जीवन की सार्थकता। जीवन को व्यर्थ कोई नहीं करना चाहता है। अतः इसके लिए आधारभूत शिक्षा की सबको आवश्यकता है। समाज के बिना शिक्षा संभव नहीं है। जाग्रत और समुन्नत समाज में शिक्षा व्यवस्थित होती है और शिक्षा से ही समाज की व्यवस्था सुदृढ़ होती है। औपचारिक तथा अनौपचारिक के भेद से दो प्रकार से शिक्षा मिलती है। अधिकांश शिक्षा अनौपचारिक होती है, जो समाज और परिवार से मिलती है। औपचारिक शिक्षा के लिए विद्यालय होता है। औपचारिक शिक्षा के बिना भी व्यक्ति आदर्श नागरिक और विचारक हो सकता है। शिक्षा एक ऐसा विषय है, जिसमें शिक्षार्थी, शिक्षक और विषय (उद्देश्य के साथ) की त्रिपुटी होती है। तीनों का विवेचन आवश्यक है। उपर्युक्त पृष्ठभूमि पर हम लोक-जागृति के लिए शिक्षा के स्वरूप का अध्ययन करेंगे।

पाश्चात्य विचारक एच0 जी0 वेल्स ने कहा है-'सभ्यता और सर्वनाश में दौड़ हो रही है, शिक्षा सम्यता की अन्तिम आशा है।' अभिप्राय स्पष्ट है। समाज में शिक्षा से लोक-जागरण नहीं हुआ तो सभ्यता को नष्ट करते हुए सर्वातिशायी सर्वनाश का होना अवश्यंभावी है। पहले धर्म से मानव-समाज सुरक्षित था। बाद में राजधर्म (शासन) से सुरक्षा की आशा बनी। अब राजधर्म पर अंकुश की आवश्यकता है। शिक्षा ही एकमात्र उपाय है, जिससे धर्म और राजधर्म को यथास्थान व्यवस्थित करते हुए, मानव-समाज को त्राण मिल सकता है। इस समय शिक्षा में बड़ी विकृतियाँ हैं। अतः इस विषय पर ध्यान देना समय की मांग है। शिक्षा-व्यवस्था का प्रथम और सबसे महत्वपूर्ण अंग विद्यार्थी है। जन्म से मृत्यु तक मनुष्य शिक्षार्थी रहता है। आरम्भ में परिवार, आध्यापक तथा परिवेश से शिक्षा ग्रहण करता है।यह समय दूसरों के मार्गदर्शन में रहने का होता है। बाद में शिक्षा का माध्यम समाज तथा व्यक्तिगत अध्यवसाय होता है। व्यक्ति की पात्रता तथा परिवेश दोनों शिक्षा में महत्वपूर्ण हैं।पात्रता प्रदान करना

माता-पिता एवं अभिभावक का कार्य है। परिवेश के लिए उनके अलावा, शासन तथा समाज भी उत्तरदायी होते हैं। सुपात्र को उचित स्थान देने पर पात्रता के विषय में प्रोत्साहन मिलता है। वैसे पात्रता(योग्यता) अपने में भी एक उपलब्धि है, किन्तु इसका सम्मान करना समाज के उत्थान के लिए आवश्यक है। पात्रता के लिए सदाचार प्रथम अपेक्षा है। मानवीय संस्कारों, गुणों तथा मूल्य के प्रति श्रद्धा तथा उनका विकास ही सदाचार है। वर्तमान समय में शिक्षा का आधारभूत अंग-सदाचार-अधोगति को प्राप्त है। सदाचार की शिक्षा परिवार और अभिभावक की जिम्मेदारी है। अभिभावक अपने कर्तव्य को पूरा नहीं कर रहे हैं। वे मोहग्रस्त हैं तथा समझते हैं कि आज के युग में सदाचार ही उन्नति में बाधक हैं। इस भ्रम को, सामाजिक चेतना देने वाले सन्तों, विचारकों तथा प्रबुद्ध लोगों को, दूर करना पडेग़ा। इस शिक्षा के लिए स्कूल की आवश्यकता नहीं है। शिक्षित माता-पिता इस प्राथमिक एवं सबसे महत्वपूर्ण शिक्षा को दे सकते है। इसके बिना स्कूल भी व्यर्थ है। यहॉं तक सभी विद्यार्थी समान अवसर पाते हैं। आगे स्तर में पात्रता के स्पष्ट होने पर अन्तर होता है।

प्रत्येक शिक्षार्थी को कालेज जाना आवश्यक नहीं है। साक्षरता के लिए प्राथमिक स्तर की शिक्षा पर्याप्त है। योग्यता के अनुसार दी गई शिक्षा सफल होती है। योग्यता का आकलन अभिभावक तथा अध्यापक ही कर सकते हैं। शिक्षार्थी को पढ़ने और सीखने के अलावा दूसरा कार्य नहीं होना चाहिए। यह बात विश्वविद्यालय स्तर तक मान्य है। यूनियन बनाना, आन्दोलन करना आदि कार्य विद्यार्थियों के लिए नहीं हैं। ''अशिक्षित विद्यार्थी'' शब्द को मर्यादा तोड़ने वाले ही लोग सार्थक करते है। कालेजों और विश्वविद्यालयों में इन्हीं लोगों के कारण समस्याएँ है। शिक्षार्थी अपने मूल उद्देश्य से भटक गए हैं। इससे अच्छे विद्यार्थियों का भी अहित है तथा देश की प्रतिभा का दुरूपयोग होता है। यूनियन बनाने वाले विद्यार्थियों को बाहर कार्य क्षेत्र में आना चाहिए और अपनी क्षमता का सदुपयोग करना चाहिए। विद्यार्थी के पास केवल एक उद्देश्य होना चाहिए। उच्चशिक्षा में सुधार के लिए यह करना ही पडेग़ा। प्राथमिक शिक्षा में सदाचार तथा उच्च शिक्षा में एक दिशा के मानदण्ड को लागू करने पर शिक्षा की अधिकांश समस्याएॅं समाप्त हो सकती हैं।

शिक्षा के लिए दूसरा महत्वपूर्ण अंग शिक्षक वर्ग है। शिक्षक को भी सदाचारी होना चाहिए, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। शिक्षक एक पढ़ा-लिखा तथा प्रबुद्ध प्राणी होता है। व्यवस्था के बन जाने पर वह तदनुसार आचरण करने को बाध्य भी होता है। विद्यालयों का वातावरण स्वस्थ रहने पर शिक्षक अपने कर्तव्य पर ध्यान देगा ही। शिक्षक पर एक प्रतिबन्ध आवश्यक है कि वह अन्य कोई व्यवसाय या असम्बद्ध कार्य न करे। उसका कार्य नैतिकता

तथा विषय की शिक्षा देना ही है। राजनीति या अन्य विवादस्पद कार्य करने के इच्छुक शिक्षक को वैतनिक पद अवश्य छोड़ देना चाहिए। शिक्षक को आजीवन विद्यार्थी बनना पड़ता है। मूल्यों की स्थापना, समाज को दिशा-निर्देश आदि महत्वपूर्ण कार्य शिक्षक-वर्ग का है। यह तभी संभव है जब शिक्षक के पास एक ही कार्य हो। एक पेशा रहने पर वातावरण अनुकूल रहता है। शिक्षक-वर्ग को अनुकूल वातावरण में सम्मानित कर देना बहुत बड़ी समस्या नही है। योग्यतम व्यक्ति को ही शिक्षक पद दिया जाय। यह सब कार्य बहुत कठिन नहीं लगते हैं। थोडे ़परिवर्तन से शिक्षक वर्ग आवश्यकता के अनुरूप हो सकता है। इस वर्ग के ठीक होने पर शिक्षार्थियों पर भी अच्छा प्रभाव पडेग़ा। शिक्षा का स्वरूप निर्धारित करने के पहले शिक्षक का स्वरूप निर्धारित हो जाना चाहिए। यह संभव भी है।

शिक्षा का तृतीय अंग 'विषय' है। सामान्य विषय सबके लिए एक ही है। पहले पात्रता(मनुष्यत्व) प्राप्त करने के लिए सदाचार का ज्ञान और अभ्यास आवश्यक विषय है। 'अचारहीनं न पुनन्ति वेदाः।' फूटे पात्र में जल नहीं रूकता है। पात्रता होने पर विशेष विषयों की शिक्षा दी जाये। विशेष विषय अनेक हैं। जो विषय जिस मूल्य के लिए है उसे उसके लिए उपयुक्त विद्यार्थी को ही दिया जाय। इस निर्णय में अभिभावक और आचार्य को स्वतन्त्र होना चाहिए। आजकल शिक्षा को रोजगारपरक करने की माँग है। यह अधूरा अनुमान है। शिक्षा मूल्यपरक होनी चाहिए। रोजगार ही एक मात्र मूल्य नहीं है। चार पुरूषार्थों में एक ही को यह सिद्ध करता है। रोजगार की आवश्यकता नहीं रखने वाले, उच्चस्तरीय जिज्ञासु भी, विद्यार्थी होते हैं। सभी पुरूषार्थ एक दूसरे के पूरक होते है, किन्तु स्वभाव, वर्ण एवं आश्रम के अनुसार मुख्य और गौण मूल्य स्पष्ट होते है। मुख्य के द्वारा ही गौण पुरूषार्थ भी सिद्ध हो जाता है। मूल्यपरक शिक्षा होने पर समाज में अनावश्यक प्रतिद्वन्दिता में कमी होगी तथा प्रत्येक दिशा में उच्चतम प्रतिभा के लोग पैदा होंगे। मैकाले की शिक्षा पद्धति का उद्देश्य था सरकारी नौकर पैदा करना। यह पद्धति अब भी प्रभावी है। प्रत्येक व्यक्ति नौकरी के पीछे है। अब आवश्यकता है कि नौकरी को हेय (श्ववृत्ति) समझा जाय। मूल्यों की प्रतिष्ठा होने पर शिक्षा में परिवर्तन स्वतः होगा। अर्थ भी एक पुरूषार्थ है, किन्तु अवर कोटि का है। इसे यथास्थान रखना शिक्षा का उद्देश्य है। शिक्षा के विषयों का मूल्यों के आधार पर स्तरीकरण हो तथा व्यक्ति की पात्रता एवं समाज की नैतिक मान्यता भी तदनुरूप् होनी चाहिए। यह सब बातें मूल्यपरक शिक्षा के लिए आवश्यक उपाय है। मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक है कि शिक्षा को राजनीति के प्रभाव से दूर रक्खा जाय। इसके लिए अलग शिक्षा-संसद होनी चाहिए। जिसमें चिन्तकों, वैज्ञानिकों, शास्त्रज्ञों तथा विशेशज्ञों का ही वर्चस्व हो। यह कार्य कठिन है किन्तु असम्भव नहीं है।

शिक्षा को लोक-जागरण का माध्यम बनाने के लिए उपर्युक्त तीन अवयवों को स्वस्थ करने के साथ ही विधि(प्रणाली) को भी बदलना आवश्यक है। विद्यालयों की कमी तथा उनकी अनुपयोगिता को देखते हुए अनौपचारिक शिक्षा को प्रोत्साहन देना उचित है। अनौपचारिक शिक्षा के लिए वर्तमान साधन टी0 वी0, चलचित्र आदि मनोरंजन मात्र हैं तथा चरित्र-निर्माण में सहायक नहीं है। इन साधनों के कारण सभी अभिभावक परेशान हैं। इन कार्यक्रमों का भी राजकीय के अलावा बौद्धिक नियन्त्रण की आवश्यकता है। प्रत्येक घर में, प्रत्येक गॉंव में शिक्षक पैदा किया जाय। पढ़ने तथा पढ़ाने का व्यसन होना चाहिए। गुरूकुल परम्परा में पढ़ाई देखी जाती है। इस परम्परा में चरित्र-निर्माण तथा वस्तु एवं क्रिया का ज्ञान बडे ़सहज ढंग से होता है। इस तरह की अनौपचारिक शिक्षा से इस विषय की तीन चैथाई मॉंग पूरी हो सकती है। इससे शत-प्रतिशत साक्षरता, सदाचार तथा नागरिक के कर्तव्य एवं अधिकार का ज्ञान हो जायगा। अधिकांश लोगों को इतनी ही शिक्षा पर्याप्त है। स्कूल, कालेज में विशेष शिक्षा के योग्य लोगों को भेजा जाय। डिग्री (प्रमाण-पत्र) देने की प्रथा बन्द की जानी चाहिए। अधिकांश लोग डिग्री के लोभ में विद्यार्थी बने रहते हैं। अपने विषय में योग्य होने तक-पाँच,दश या पन्द्रह वर्ष विद्यार्थी पढ़ता रहे। योग्य होने पर जहॉं नियुक्ति की आवश्यकता हो वहीं परीक्षा ली जाय। परीक्षा की वर्तमान प्रणाली बन्द होनी चाहिए। इस तरह प्रमाण-पत्र नहीं बल्कि योग्यता के उद्देश्य से शिक्षण कार्य की व्यवस्था की जा सकती है। इससे शिक्षा में गुणवत्ता बढेग़ी तथा जनशक्ति का सदुपयोग होगा।

विद्या प्राप्त करना ही शिक्षा का उद्देश्य है; जब से डिग्री प्राप्त करना उद्देश्य हो गया है, तब से शिक्षा बेमानी हो गई है। शास्त्रों में विद्या-प्राप्ति के तीन उपाय लिखे हैं- सेवा के द्वारा, धन के द्वारा, विद्या के द्वारा। धन देकर विद्या प्राप्त करना सबके लिए सम्भव नहीं है। विद्या के बदले विद्या प्राप्त करना कदाचित होता है। ऐसी हालत में सेवा के द्वारा ही विद्या प्राप्त करना सर्व सुलभ मार्ग है। गीता में- 'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।' गुरूजन की सेवा तथा आज्ञापालन से प्राप्त की गई विद्या ही सार्थक होती है। अन्यथा विद्या के बदले अविद्या ही मिलती है, जिससे अनर्थ होता है। आजकल का विद्यार्थी समझे कि वह विद्या या अविद्या का अर्जन कर रहा है। अगर अविद्या ही लेना है तो उसे अन्य कार्य में लग जाना चाहिए। गुरू-शिष्यभाव आवश्यक हैं। कोई भी अध्यापक शिष्य का अहित नहीं चाहता है। विद्यार्थियों को इस विषय में भ्रम नहीं है। अविद्यार्थी ही गुरू पर संदेह करते हैं।

शिक्षा की व्यवस्था एक पवित्र कार्य है। व्यवसाय की दृष्टि आने से इसमें अव्यवस्था है। आचार्य ही प्रबंधक तथा मान्यता-समिति सभी का कार्य कर

सकता है। प्राचार्य से बड़ा अधिकारी शिक्षालय में नहीं होना चाहिए। राजकीय नियमों के कारण बहुत सी समस्याएँ हैं। इन नियमों को संशोधित करना होगा। शिक्षा-संस्थाओं को मन्दिर की तरह पवित्र रखना तथा आचार्य और शिष्य को सरस्वती की उपासना के लिए पुरोहित और यजमान बनाकर ब्रह्मयज्ञ की भावना से शिक्षालय का संचालन एक सुखद कल्पना है। ऐसे सत्रयज्ञ पहले चल चुके हैं और अब भी चलाए जा सकते हैं।

शिक्षा और साक्षरता में बहुत अन्तर है। बिना साक्षर हुए शिक्षा मिल सकती है। साक्षर होकर भी कोई राक्षस हो सकता है। आजकल नारियों की शिक्षा एकदम कम है। उन्हें साक्षर बनाया जाता है, किन्तु गृहिणी की शिक्षा नहीं मिलती है। एक नारी एक परिवार की शिक्षिका होती है। नारी शिक्षा के अभाव में पारिवारिक विघटन अधिक हो रहा है। नारी शिक्षा के लिए पूर्णरूप से अभिभावक और परिवार जिम्मेदार है। उन्हें यह कर्तव्य पूरा करना चाहिए। घर-परिवार ही प्रथम विद्यालय है, जिसमें साक्षरता के साथ आचरण, परम्परा तथा संस्कृति का बोध होना आवश्यक है। इस संस्था को भारतीय संस्कृति के अनुसार सुगठित रखना शिक्षा-व्यवस्था की प्रथम आवश्यकता है। इसका दायित्व सम्पूर्ण समाज पर है।

अन्त में विषय का उपसंहार करते हुए यथाबल यही प्रतिपादित करना है कि शिक्षा ही मनुष्य की संस्कृति को सुरक्षा दे सकती है तथा विकास कर सकती है। इस माध्यम से ही लोक-जागरण करना आवश्यक है। शिक्षार्थी, शिक्षक तथा विषयों का वर्गीकरण योग्यता तथा मूल्यों के आधार पर किया जाय। सदाचार की शिक्षा सभी को अवश्य दी जाय। लोक के अलावा परलोक भी, स्वार्थ के अलावा परार्थ भी देखने की दृष्टि पैदा की जाय।'त्यक्तेन भुन्जीथा' सिखाने वाले साधु-सन्तों की अनौपचारिक शिक्षा का भी आदर हो। अर्थ, काम के साथ धर्म तथा मोक्ष की प्राप्ति के लिए भी शिक्षा का विधान हो। यह सामाजिक जिम्मेदारी का कार्य है। इसमें मनीषी, विचारक, त्यागी तपस्वी, समाज सेवी आचार्यों का ही प्रभुत्व हो। जीवन की साधना करने वाले तथा आजीवन विद्यार्थी इस कार्य को करें। राजनीतिज्ञ लोगों के पास अन्य बहुत से कार्य हैं। वे भी कुछ दिन नैतिक शिक्षा लें। वे इस क्षेत्र को नहीं सम्भाल सकते हैं। इसमें एक दिशा के प्रति समर्पण आवश्यक है। एक दिशा न होने के कारण गान्धी, विनोबा, जैसे लोग भी इसे पूरा नहीं कर सके। राजनेताओं का इतना ही कर्तव्य है कि वे देश-विदेश से बहुमूल्य विद्याओं को एकत्र करने में आचार्यों की आज्ञानुसार सहायता करें तथा अवांछित अवरोध दूर करें। 'आनो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः' तथा 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम' की भावनाओं से समन्वित आचार्य ही यह पावन कार्य पूरा कर सकते हैं।

धर्म निरपेक्षता की व्याख्या

अपने देश का दुर्दैव है कि जाति और सम्प्रदाय के आधार पर, एक दूसरे के विरूद्ध, अनेक संगठन बन गए हैं। यह संरचना समाज में राजनीति के अवांछित हस्तक्षेप के कारण अत्यन्त दुखद हो गई है। बुद्धिजीवियों के विचार और भारतीय संस्कृति की घोर उपेक्षा हो रही है। भारतीय संविधान के माध्यम से धर्मनिरपेक्षता की प्रतिष्ठा इस उपेक्षा का एक ज्वलन्त उदाहरण है। किसी भी शब्द का अभिधार्थ सामान्यतया जनमानस को प्रभावित करता है। इसका निहितार्थ तभी खोजा जाता है जब उसके बदले कोई उपयुक्त शब्द न हो। धर्मनिरपेक्ष शब्द का अभिधार्थ सर्वसम्मति से अवांछित है। इसके बदले में दूसरा स्पष्ट शब्द रक्खा जा सकता है। फिर भी, राजनीतिक हठवादिता के कारण संविधान जैसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ में इसका प्रयोग कुछ विचार करने एवं कहने के लिए बाध्य करता है।

धर्म निरपेक्ष का अर्थ है धर्म की अपेक्षा से रहित। ऐसा कोई भी देश, समाज या शासन संभव नहीं लगता है जिसमें धर्म की आवश्यकता न हो। धर्म शब्द को उसके सही अर्थ में समझना आवश्यक है। 'यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' -यह एक धर्म की परिभाषा है। लौकिक और पारलौकिक दोनों ही कल्याण धर्म से होते हैं। नैतिकता आदि मानवीय गुण भी सामान्य धर्म है। धर्म के कारण ही तो मनुष्य अन्य जीवों से विशिष्ट है-'धर्मो हि तेषामधिको विशेषः धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।' ऐसे धर्म के बिना मनुष्य या समाज कैसे टिक सकता है। अतः धर्म निरपेक्ष होना सम्भव नहीं है। धर्म तो मूल्यों का मूल है। मूल ही के न रहने पर अन्य मूल्य (शाखाएँ) कहाँ रह सकते है ? भारत जैसे धर्म-प्राण देश में धर्मनिरपेक्षता का विधान मूलोच्छेदक लगता है।

निर्विवाद है कि धर्म निरपेक्ष शब्द अंग्रेजी के सेकुलर शब्द का अनुवाद माना गया है पाश्चात्य जगत से प्रेरणा लेना अच्छी बात है किन्तु पेसमेकर की उपलब्धि होने पर अपना स्वस्थ दिल ही बदलवाकर मशीन लगा लेना कहाँ की बुद्धिमानी है! सेकुलरिज्म पाश्चात्य जगत् के संगठन और उत्थान में बहुत उपयोगी रहा है। भारत में भी उपयोगी हो सकता है किन्तु धर्म को अपदस्थ कर उसका स्थान इसे देना उचित नहीं है। धर्म तो समाज को धारण करता है। यह रेलीज़न शब्द का ठीक अनुवाद नहीं है। किसी भी सम्प्रदाय में सामान्य और विशेष दो धर्म होते है। सामान्य धर्म सर्वत्र लगभग एक जैसे हैं। विशेष में अन्तर होता है। विशेष का पोषण सामान्य से ही होता है। किसी भी सम्प्रदाय

का सामान्य धर्म दूसरे में निन्दनीय नहीं है। सामान्य धर्मों में विरोध नहीं है। अलग-अलग सम्प्रदायों में भिन्न-भिन्न बातों पर बल दिया जाता है। यह देश-काल पर निर्भर करता है। भारत के लिए सामान्य-धर्मों का ठीक विधान हिन्दू धर्म में है। मनुष्यत्व की रक्षा के लिए सामान्य-धर्म अनिवार्य है। अतः धर्म निरपेक्ष शासन का होना असम्भव है। ठीक उलटा करना सम्भव है। धर्म निरपेक्ष के स्थान पर अधर्म निरपेक्ष शासन की व्यवस्था उचित है।

जिस देश में कई सम्प्रदाय के लोग सामान अधिकार के साथ रहते हैं वहाँ शासन साम्प्रदायिक धर्म के अनुसार नहीं हो सकता है। सबको समान सुविधा देने के लिए सम्प्रदाय निरपेक्ष शासन आवश्यक होता है। धार्मिक व्यवस्था में अदृष्ट तथा पारलौकिक बातों पर भी बल दिया जाता है।इस दिशा में बल देने पर दृष्ट और लौकिक विषयों में हानि भी होती है। तर्क और प्रयोग से असिद्ध ऐसे विषयों में शासन को शक्ति का व्यय और विवाद नहीं उठाना चाहिए। अतः ऐसे धार्मिक प्रयोग शासन के लिए अनपेक्षित हैं। क्रामवेल के समय इन्हीं बातों पर विचार करके सेकुलर राज्य की कल्पना की गई थी। राज्य के सेकुलर होने पर उसमें बहुमुखी विकास की संभावना होती है। पश्चिम में ऐसा ही हुआ। सेकुलर शब्द एक विशेष उद्देश्य के लिए विशेष अर्थ में रखा गया। शब्दकोष के अनुसार सेकुलर का अर्थ है- वर्तमान संसार से या आध्यात्मिक से भिन्न विषयों से सम्बद्ध, रेलिजन से असम्बद्ध, साम्प्रदायिक नियमों से मुक्त आदि। सेकुलरिज्म के लिए चैम्बर कोष में- ''The belief that state, morals, education etc. should be independent of religion'' लिखा है। रेलिजन शब्द का अनुवाद सम्प्रदाय ही किया जाय तो अर्थ स्पष्ट होगा। पिछले पैरा में हुए विवेचन को भी देखते हुए सेकुलरिज्म शब्द का अर्थ है- 'सम्प्रदायों के विशेष नियमों से राज्य का असम्बद्ध रहना।' डा0 राधाकृष्णन ने धर्म निरपेक्ष की व्याख्या में कहा- ''Equidistance of state from all religions" सेकुलर का यही अर्थ अभिप्रेत है तो भारतवर्ष में धर्म निरपेक्ष के स्थान पर सम्प्रदाय निरपेक्ष या यही सेकुलर शब्द ही रक्खा जा सकता है। यह तो शब्दगत विवाद का समाधान है। सेकुलरिज्म की व्यवस्था में कितनी असमता और विषमता है यह एक अलग प्रश्न है।

अपने संविधान में सम्प्रदाय एवं जाति के आधार पर अनेक व्यवस्थाएँ दी गई हैं। यह सेकुलर संविधान के अनुरूप् नहीं है। इसी कारण से हिन्दू कोड, मुस्लिम पर्सनल लॉ आदि का भी निर्माण हुआ। विषमता पैदा करने में यह प्राविधान सहायक है। वास्तव में धरती का एक कानून होना चाहिए। सम्प्रदायों के अलग-अलग नियम हो सकते हैं जिन्हें संसद में नहीं

बनाया जाय। सम्प्रदाय और जातियों के आधार पर सोचने के कारण ही तुष्टीकरण की नीति तथा अलगाववादी कानून बनते हैं। अपने देश में सर्व-सम्प्रदाय-सापेक्षता है क्रिन्तु मानते है सम्प्रदाय निरपेक्षता का सिद्धान्त। यह विडम्बना है। देश में भाषा, संस्कृति, दण्डविधान तथा व्यावहारिक नियम आदि एक होने चाहिए। दायभाग के लिए देश में एक विधान हो सकता है तथा सम्प्रदायों के नियमों को भी स्थान दिया जा सकता है। सामाजिक विकास के लिए आर्थिक, शारीरिक और बौद्धिक क्षमता के अलावा अन्य बातों के कारण वरीयता नहीं निर्धारित होनी चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं है। सेकुलर संविधान में समता की व्यवस्था आवश्यक है। असमता से ही विषमता पैदा होती है।

किसी भी वस्तु की गुणवत्ता का आकलन उसके द्वारा प्राप्त फल के आधार पर होता है। सेकुलरिज्म अच्छी बात है क्योंकि इससे पाश्चात्य जगत में बड़ा विकास हुआ है। इससे धर्म-व्यवस्था भी सुदृढ़ और हितकर हुई। अपने देश में गलत शब्द के प्रयोग के कारण प्रारम्भिक विवाद उत्पन्न हुआ तथा सम्प्रदाय एवं जाति के तुष्टीकरण के कारण असमता व्याप्त हो गई। फलतः हम सेकुलर के बजाय सर्व-सम्प्रदाय-सापेक्ष हो गए। इन विसंगतियों को दूर किया जा सकता है। भारत में इस देश के धर्म के अनुसार शासन चल सकता है या सेकुलर व्यवस्था हो सकती है। तृतीय विकल्प नहीं है। हम सेकुलर संविधान की व्यवस्था दे चुके हैं, अतः इसी व्यवस्था को निर्दोष विधि से प्रवर्तित करना श्रेयष्कर लगता है।

मूल्यों का तारतम्य

किसी भी पदार्थ में अन्तर्निहित उपयोगिता की मात्रा को उसका मूल्य कहते हैं। अर्थशास्त्र में प्रचलित मूल्य शब्द वस्तुपरक स्थूल अर्थ में होता है। सूक्ष्म अर्थ में सभी पदार्थों में मूल्य होता। मूल्य पदार्थ की शक्ति है। जिसके लिए इच्छा होती है, प्रयत्न किया जाता है तथा जिससे सन्तुष्टि मिलती है या दूसरे उद्योग में सहायता मिलती है, सभी मूल्य हैं। संश्लिष्टता के कारण प्रायः मूल्यवान को ही मूल्य कहा जाता है। मूल्य के विषय में पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी बहुत अध्ययन किया है। श्रेय, प्रेय, औचित्य, सदिच्छा, सत्यं शिवं सुन्दरम्, सुख, विकास, आदर्श आदि सब को एक शब्द में मूल्य कहा जाता है। मूल्य को तत्व, गुण, सम्बन्ध या अपरिभाषेय आध्यात्मिकता कहकर अलग-अलग दृष्टियों से स्वीकार किया गया है। मूल्य शब्द की व्युत्पत्ति मूलण्यत् से होती है, जिसका अर्थ है मूल से आनाय्य (निकट लाने योग्य) या मूल के समान। मूल पदार्थ की या उसके समान उपयोगिता को प्राप्त कराने वाला पदार्थ मूल्य है। अतः मूल्य को समझने (मूल्यांकन) के लिए, मूल को जानना आवश्यक है।

क्रय मूल्य को ही वास्तविक मूल्य नहीं कहा जा सकता है। क्रय-विक्रय में जो मूल्य-निर्धारण होता है वह मात्र उपयोगिता के महत्व पर नहीं आधारित होता है। उसमें उपयोगिता के साथ ही मांग और पूर्ति का सिद्धान्त मान्य होता है। प्रचार के माध्यम से कभी-कभी अनुपयोगी या अल्पोपयोगी वस्तु की मांग बढ़ जाती है जिससे पूर्ति की कमी होने पर, निर्मूल्य का भी मूल्य बढ़ जाता है। उपयोगिता के ज्ञान के अभाव में अमूल्य वस्तु भी निर्मूल्य हो जाती है। शबरी के लिए पारसमणि से अधिक मूल्यवान गुंजाफल है। हीरा के टुकडे. को गडेरि़या, बकरे के गले में बांध सकता है, किन्तु जौहरी उसका अवमूल्यन नहीं कर सकता है। बहुत से पदार्थ अर्थ की क्रय शक्ति, के बाहर होते हैं। ईमानदारी, विद्या, सत्य, न्याय, ज्ञान आदि का मूल्य रूपये में नहीं आँका जा सकता है। यज्ञ स्वरूप गाय का निष्क्रय रूपये में नहीं संभव है। फिर भी गाय का क्रय-विक्रय होता रहता है। अतः व्यावहारिक और वास्तविक मूल्यांकन में बहुत अन्तर है। व्यावहारिक मूल्यांकन प्रचार या अर्थाश्रित माँग और पूर्ति पर निर्भर करता है, जबकि वास्तविक मूल्यांकन उपयोगिता-परक है और पुरूषार्थ-सिद्धि पर निर्भर करता है। जल, वायु, अग्नि आदि बहुत मूल्यवान हैं, किन्तु

इनका व्यावहारिक मूल्य नहीं है। जिस वस्तु की कमी हो और जिसका संचय किया जा सके, उसी का व्यावहारिक मूल्य होता है। व्यावहारिक मूल्य घटता-बढ़ता रहता है। वास्तविक मूल्य सदा एक सा रहता है। उसकी माँग कम हो सकती है किन्तु जब माँग होगी, मूल्यांकन पूर्ववत् होगा।

मूल्यों का वर्गीकरण अनेक तरह से संभव है। एक वर्ग के मूल्य दूसरे वर्ग के मूल्य से भिन्न कोटि के होते हैं अतः समस्त मूल्यों का वरीयता-क्रम निर्धारित करना कठिन है। वर्गों का वरीयता-क्रम निर्धारित होने पर उनके मूल्यों का भी क्रम बन सकता है। मूल्यों का तारतम्य बनाने के लिए निम्नलिखित चार नियम बन सकते हैं-

(1) व्यावहारिक की अपेक्षा वास्तविक मूल्य अधिक विश्वसनीय है।

(2) तात्कालिक की अपेक्षा परिणाम में शुभ प्रद मूल्य उच्चतर है।

(3) स्वतः मूल्य साधनभूत मूल्यों से उच्चतर है।

(4) स्थाई मूल्य परिवर्तनशील मूल्यों से उच्चतर है।

आगे वर्गीकरण इन्हीं को ध्यान में रखकर किया जायगा।

मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों और मूल्यों में गहरा सम्बन्ध है। मूल प्रवृत्तियाँ-क्षुत्पिपासा, काम, खेल, शारीरिक श्रम, संग्रह, आत्म-प्रकाशन, जिज्ञासा, कुतूहल, सहानुभूति, सामाजिकता (समूह में रहना), युयुत्सा, रचना, अनुकरण, श्रद्धा तथा विश्वास मानी जाती है। इतनी ही प्रकार की आवश्यकताएँ मनुष्य को होती हैं। इनकी पूर्ति मूल्यों से होती है। इन 14 प्रवृत्तियों को सामान्यतः तीन कोटि में रख सकते हैं-जैविक (व्यक्तिगत) अति जैविक तथा आध्यामिक (आन्तरिक)। यह प्रवृत्तियाँ न्यूनाधिक मात्रा में सब में होती है। इनकी पूर्ति के लिए परिगणित मूल्यों को प्रोफेसर अरबन ने, आठ शीर्षकों में बाँटा है। वे हैं- (1) आर्थिक मूल्य (2) शारीरिक मूल्य (3) मनोविनोदात्मक मूल्य (4) संगठनात्मक मूल्य (5) चारित्रिक मूल्य (6) कलात्मक मूल्य (7) बौद्धिक मूल्य (8) धार्मिक मूल्य। तारतम्य निर्धारण के चार नियमों के अनुसार देखें तो मूल्यों के उपर्युक्त आठ प्रकारों का तारतम्य बन जाता है। क्रमशः बाद में आने वाले मूल्य उच्चतर हैं। आर्थिक मूल्य न्यूनतम है और धार्मिक (आध्यात्मिक) मूल्य उच्चतम है।

भारतीय मनीषा ने नीति और धर्म के रूप में मूल्यों का अध्ययन किया है। प्रोफेसर अरबन के द्वारा गिनाए गए आठ प्रकार के मूल्य हमारे यहाँ चार पुरूषार्थों के अन्तर्गत समाविष्ट हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-चार पुरूषार्थ है। इन चारों पुरूषार्थों (मूल्यों) में से एक को भी पाने वाले का जीवन व्यर्थ नहीं कहा जाएगा। वरीयता क्रम के अनुसार व्यक्ति के लिए अर्थ की अपेक्षा काम श्रेष्ठतर पुरूषार्थ है। अर्थकाम की अपेक्षा धर्म श्रेष्ठतर है और मोक्ष सर्वोपरि है।

सामाजिक दृष्टि से तीन पुरूषार्थ या मूल्य हैं-धर्म, अर्थ, एवं काम। अर्थ साधन मात्र है काम साध्य है तथा धर्म साधन और साध्य दोनों है। धर्म सर्वोपरि सामाजिक संगठन का आधार है। जहाँ मूल्यों में सांकर्य होता है वहाँ सूक्ष्म प्रज्ञा से तारतम्य का निर्धारण होता है। सभी मूल्य अपने में स्वतन्त्र होते हैं किन्तु उनका विनियोग उच्चतर मूल्य के लिए करना ही अभीष्ट है।

मूल्यों का तारतम्य निर्धारण करने के लिए कई अन्य विधियाँ भी है। वास्तव में उच्च और उच्चतर मूल्यों का निर्धारण संभव है किन्तु उच्चतम की मान्यता भिन्न-भिन्न लोगों के लिए अलग-अलग है। सामान्य परिस्थिति का निर्धारण विशेष परिस्थिति आने पर बदल जाता है, किन्तु सिद्धान्ततः मूल्य बोध सामान्य परिस्थिति का ही मान्य है। प्राचीन काल से ही लोग परम मूल्य की खोज करते रहे हैं। उपनिषद् ऐसे आख्यानों और प्रकरणों से भरे हैं। किसी ने तप को किसी ने सत्य को, किसी ने स्वाध्याय को, किसी ने वैराग्य को, किसी ने ज्ञान को तो किसी ने आत्म लाभ को सर्वोच्च माना है। सुकरात ने ज्ञान को तो प्लेटो ने न्याय को सर्वोच्च मूल्य माना। उसी परम्परा में अरस्तु ने उच्चाशयता (स्वाभिमान) को सर्वोच्च माना है। स्मिनोजा ने ईश्वर-प्रेम को ईसा ने पड़ोसी के प्रति प्रेम को उच्चतम माना है। व्यास भगवान ने पुराणों में परोपकार को सर्वोच्च स्थान दिया है, भक्तों ने ईश्वर-भक्ति को तथा वेदान्तियों ने आत्मज्ञान को परम-पुरूषार्थ माना है। इस तरह भिन्नता प्रत्यक्ष है। किन्तु एकता असम्भव नहीं है। महिम्नस्तोत्र का एक श्लोक इस विषय में उदाहरणीय है-

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति,
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रूचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनाना पथजुषाम्,
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इवं।।

ब्रह्मभाव में सभी मान्यताओं का समावेष होता है। जो मूल्य ब्रह्म के जितना ही समीपतर है वह उतना ही उच्चतर है। ब्रह्म तो अनन्त आदर्श है इसलिए उच्चतम को नेति-नेति ही कहा जायगा।

मूल्यों को तामस, राजस और सात्विक गुणों की कोटि में बाँटकर क्रमशः उच्चतर का निर्धारण संभव है। व्यक्ति और समाज के लिए क्रमशः संतोष, विवेक और सुख-शान्ति के अनुसार मूल्यों का तारतम्य बन सकता है। जो मूल्य जितनी ही आवश्यकता की पूर्ति करता है वह उतना ही उच्चतर मान्य है। सन्तोष या सुख-शान्ति सात्विकता में ही संभव है। वहीं अवकाश है, अन्यत्र संकीर्णता है। इस निर्णय के अनुसार आधुनिक विचारों में अधिकांश अपूर्ण मानने योग्य हैं। नीत्शे ने शक्ति को, फ्रायड ने काम को, मार्क्स ने अर्थ को

सर्वोच्च मूल्य माना है। काण्ट ने कर्तव्य को और गान्धी ने सर्वोदय को सर्वोच्च मूल्य माना है। स्वधर्म से ही सर्वोदय होगा। अन्तिम दोनों विचारक सात्विकता के निकट, उच्चतर मतों का प्रतिपादित किए है। वास्तव में पात्रता के अनुसार यथासंभव उन्नति का अवसर और सहयोग ही व्यक्ति तथा समाज के लिए श्रेयश्कर है। इसी से उच्चतम मूल्य की प्राप्ति सुलभ है। न्याय, स्वतन्त्रता, समानता, व्यक्ति की गरिमा आदि भी मूल्य है, किन्तु यह साधनभूत है। साध्य मूल्य तो सुख-शान्ति, सन्तोष, विवेक और आनन्द ही है। संस्कार शिक्षा और स्वधर्म ही इनके लिए आधार है। मूल्यों को श्रेय और प्रेय की दो कोटियों में बाँटा जा सकता है। प्रेय की अपेक्षा श्रेय उच्चतर मूल्य है।

मूल्यों के उद्गम स्थल और आधार को मूल कहते हैं। कौटिल्य ने माना है कि अर्थ का मूल धर्म, धर्म का मूल आचार और आचार का मूल राजा है। कौटिल्य के शास्त्र में अर्थ में ही त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) निहित हैं। राजा ही चरम मूल्य है। राजा के भय और संरक्षण से आचार का प्रवर्तन होता है जो समस्त मूल्यों का आधार है। राजा के कर्तव्य-च्युत होने पर भी शास्त्र गुरू तथा परलोक में विश्वास करने वाले लोग आचारवान होते हैं तथा मूल्यों को प्राप्त करते हैं। अतः व्यक्ति के लिए आचार को ही मूल्यों का आधार मानना सर्वथा निर्दोष है। इससे त्रिवर्ग के साथ परममूल्य (मोक्ष) भी सुलभ है। समाज के लिए तो राजा ही आधारभूत साधन मूल्य है।

मूल्य वस्तुनिष्ठ, व्यक्तिनिष्ठ और पारमार्थिक तीन प्रकार से जाने जाते हैं। वस्तुनिष्ठता में कार्य-कारण भाव प्रत्यक्ष होता है-जैसे दवा से रोगनाश, यज्ञ से वृष्टि आदि। व्यक्ति निष्ठता में कार्य-कारण भाव व्यक्ति विशेष के लिए ही होता है। जैसे किसी को प्राणायाम से, किसी का जप से तो किसी को विचार से ही मनोनिग्रह होता है। पारमार्थिकता सार्वजनिक और सार्वकालिक होती है। जैसे सदाचार से सात्विकता, ज्ञान से मोक्ष आदि। वस्तुनिष्ठ और पारमार्थिक मूल्यों का तारतम्य बनाया जा सकता है। पारमार्थिकता के सापेक्ष्य व्यक्ति निष्ठ मूल्यों का भी तारतम्य बन सकता है, स्वतन्त्र नहीं। पारमार्थिक में से एक की पूर्ण उपलब्धि होने पर अन्य सभी वहीं आ जाते हैं। अतः इसमें सभी अनन्त मूल्य हैं।

मान्यता और मूल्य में सम्बन्ध है, कभी अनुकूल कभी प्रतिकूल। मान्यताओं के परिवर्तन के कारण ही मूल्यों में परिवर्तनशीलता रहती है। देशकाल और पात्र के अनुसार पदार्थ का मूल्य निर्धारण होता है। इसीलिए कभी-कभी हिंसा, युद्ध, असत्य आदि भी मूल्य के रूप में मान लिए जाते है। मूल्यों का अवमूल्यन बहुधा देखा जाता है। धर्म का अवमूल्यन, वर्तमान में, सभी देख रहे हैं। मान्यता दो कारणों से बदलती है-भावना और वृत्ति में

परिवर्तन से या आपत्तिग्रस्त होने पर। आपद्धर्म अस्थाई मान्यता है। उसमें मूल्यों का अवमूल्यन मान्यता में नहीं व्यवहार में होता है। अर्थ, काम से आसक्ति, रागद्वेष, राजसी या तामसी भावना, हीनवृत्ति या दस्यु और विडाल वृत्तियों का प्राबल्य होने पर जीवन का उद्देश्य ही बदल जाता है। मूल विस्मृत हो जाता है। अतः उद्देश्य के अनुसार मान्यताएँ भी बदलती है। जिससे मूल्यों का अवमूल्यन होता है। जीवन का मूल्य केवल जीना या भोगैस्वर्य की प्राप्ति ही नहीं है। सब के बाद भी एक असंतोष रह जाता है। सर्वथा सन्तुष्ट होने में ही जीवन की सार्थकता है। इसीलिए सुकरात ने अपने शिष्यों के आग्रह को ठुकराकर, जेल से भागने के बजाय मृत्यु को ही मूल्यवान समझा। जीवन में मृत्यु और मृत्यु में जीवन का मूल्य है। वास्तव में साध्य मूल्य स्थाई हैं। इनका परिवर्तन व्यक्ति और समाज के अधोपतन का परिणाम है। साधनभूत मूल्यों की न्यूवता को साध्य का ही अवमूल्यन करके पूरा करना या मूल्याभास की स्थापना करना शक्तिहीनता और पथ-भ्रष्टता का लक्षण है।

निष्कर्षतः साध्य मूल्य स्थाई हैं। साधनभूत मूल्यों में स्थाई और परिवर्तनशील दोनों हैं। परिवर्तन देश-काल के अनुसार स्वाभाविक है। स्थाई मूल्यों का अवमूल्यन मानवीय दुर्बलता है और उसका पुनर्मूल्यांकन मनुष्य की अस्मिता की माँग है। स्थाई मूल्यों का तारतम्य सम्भव है, बना भी है। बौद्धिक, धार्मिक और आध्यामिक मूल्य उच्चतर हैं। अस्थाई मूल्यों का आकलन उपयोगिता के अनुसार होता है। संसार की जितनी वस्तुएँ हैं, बाजार में एकत्र होती हैं। सब का मूल्य रूपये में परिवर्तित किया जा सकता है। इसी तरह मानव के जितने मूल्य हैं, सब धर्म के बाजार में प्रदार्शित होते हैं। उन सबको विवेक-ज्ञान के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। विवेक ख्याति या प्रातिभ ज्ञान व्यक्ति के लिए परममूल्य है। यह परममूल्य तर्क संगत होने पर लोक-प्रचलन के रूप में होता है अन्यथा स्वर्ण की भाँति स्वतः मूल्य धारण करता है। जो समाज स्थाई उच्च मूल्यों के आधार पर संगठित होता है, वह सुखी और समृद्ध होता है जो अस्थाई और निम्न स्तरीय मूल्यों के आधार पर संरचित होता है,उसमें विघटन, दुख और विनाश अवश्यम्भावी है। साधनभूत और अस्थाई मूल्यों द्वारा साध्य और स्थाई मूल्यों का पोषण करना ही श्रेयष्कर है। साध्यमूल्यों को प्रातिभज्ञान सम्पन्न मनीषियों और ऋषियों ने शास्त्रों के आचरण से प्रतिपादित कर रक्खा है। उनमें परिवर्तन करना दुस्साहस है। श्रद्धा और विश्वास के साथ स्थापित उच्चतर मूल्यों की उपासना और रक्षा ही जीवन और समाज की साधना है।

धर्मों की तात्त्विक एकता

इतिहास साक्षी है कि विश्व में सबसे अधिक रक्तपात धर्म के नाम पर ही हुआ है। प्रश्न उठता है कि क्या धर्म का फल हिंसा और अशान्ति भी है। पाश्चात्य जगत ने इस प्रश्न को आतुरता से सोचा। परिणामतः वहाँ सेकुलर स्टेट की व्यवस्था की गई। मार्क्स ने धर्म को जन-समूह के लिए मादक पदार्थ बताया। वहाँ यह मान लिया गया कि रोटी, कपड़ा, मकान या अर्थ और काम की पूर्ति ही सामाजिक संरचना के लिए पर्याप्त है। इस मान्यता का परिणाम भी बहुत आकर्षक रहा। पाश्चात्य जगत ने वैज्ञानिक एवं आर्थिक उन्नति से विश्व को अपने अधीन कर लिया। लेकिन यह आकर्षण जिज्ञासा को पूरी तरह शान्त नहीं करता है। रूस से साम्यवाद को विलुप्त होते देख कर, पाश्चात्य जगत की वैज्ञानिक उन्नति की ओर भी शंका पैदा होती है। ऐसा लगता है कि अभी निर्णय नहीं हुआ है। प्रयोग ही अभी चल रहा है। पाश्चात्य देश ईसाई-धर्म प्रधान हैं। उनकी धार्मिक संस्थाएँ अब भी कार्यरत हैं। अरब देशों के धार्मिक कट्टरवाद को रोकने की व्यवस्था अब भी होती रहती है। विश्व के सभी देशों में धार्मिक पहचान अलग-अलग स्पष्ट है। हिन्दू, पारसी, यहूदी, शिन्टो, कान्फ्यूशियसी, जैन, सिख आदि धर्म अब भी हैं। हिन्दू, ईसाई तथा मुस्लिम धर्म अधिकांश जनसंख्या को प्रभावित किए हैं। बिना धर्म के कोई देश नहीं है। ऐसा लगता है कि कोई समाज चाहने पर भी धर्म को छोड़ नहीं सकता है। अतः धर्म के प्रति शङ्का को छोड़कर उससे रचनात्मक लाभ उठाना ही श्रेयष्कर है।

अशांति और रक्तपात धर्म नहीं बल्कि अधर्म के कारण होता है। अतः धर्म पर नहीं वरन अधर्म पर ही अंकुश लगाने की आवश्यकता है। ईसा का वाक्य कि मनुष्य रोटी मात्र से नहीं जीता है, अब भी सार्थक है। धर्म तो रोटी तथा जीवन के लिए आवश्यक सब कुछ देता है। धर्म के ब्याज से ही समाज में अधर्म प्रवेश करता है। यह अधर्म कैसे रोका जाए. इसके लिए धर्मतत्व को भली-भाँति समझना चाहिए। सभी धर्मों में तात्विक बातें लगभग एक जैसी हैं। व्यवहार में कहीं-कहीं अधर्म के प्रवेश की सम्भवना अधिक है। धर्म तत्व की पहचान तत्वदर्शी ही कर सकता है। पाखण्डी लोगों के अधीन धर्म ही निन्दित होता है। अतः धर्म की प्रतिष्ठा के लिए धर्मों की तात्विक एकता एवं तत्वों को प्रकाशित करना उपादेय है।

आजकल तुलनात्मक धर्मदर्शन का अध्ययन एक विशिष्ट विषय के रूप में हो रहा है। धर्म के नाम पर समस्याएँ बढ़ रही है, अतः समाधान भी खोजे जा रहे हैं। इस विषय पर स्वामी शिवानन्द ने ''विश्वधर्म'', सोफिया वाडिया ने 'धर्मों का भ्रातृत्व', डा0 भगवान दास ने 'धर्मों की तात्विक एकता' गुलाम हुसेन कादियानी ने 'धर्मों का संदेश' तथा इसी तरह अन्य चिन्तकों ने पुस्तकें लिख रक्खा है। प्रमाण और उदाहरण देकर चाहे जितना बड़ा विश्लेषण किया जाय, मुख्य कथ्य थोड़ा सा ही है। धर्म का मार्ग संकीर्ण है, किन्तु सीधा है।

किसी भी प्रकार के विकास के लिए तीन बातें महत्वपूर्ण हैं- स्थिति, गति एवं दिशा। धर्म ही तीनों का नियामक है। प्राकृतिक तत्व (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश)अपने स्वाभाविक गुणों को प्रकाशित करते हैं। गुणों को प्रकाशित करना ही उनका धर्म है। मनुष्य का धर्म इससे भिन्न है। बुद्धितत्व की प्रधानता के कारण स्वाभाविक गुणों को छिपाकर दूसरे तरह से प्रस्तुत करना मनुष्य के लिए संभव है। इसलिए मनुष्य का धर्म गूढ़ है। विज्ञान प्राकृतिक धर्मों का अन्वेशण करता है। मनुष्य के धर्मों को जानने के लिए ऋषियों का ज्ञान ही सक्षम है, विज्ञान नहीं। मनुष्य के सारे व्यवहार प्राकृतिक एवं मनुष्य कृत धर्मों के मिश्रण से चलते हैं। मनुष्य के व्यवहार में आदान-प्रदान, वाणिज्य, राजनीति आदि अनेक शाखाएँ हैं। सभी के लिए धार्मिक विधान हैं जो स्थिति, गति एवं दिशा के आकलन के आधार पर हैं। इन्हीं धर्मों के आधार पर मनुष्य अभ्युदय तथा निःश्रेयस प्राप्त करता है। मनुष्य का बुद्धिबल बड़ा ही खतरनाक है। धर्म के त्याग से उत्पन्न कुबुद्धि सर्वनाश कर सकती है। व्यक्ति और समाज दोनों के लिए धर्म ही सहायक है।

विश्व के सभी धर्म इहलोक और परलोक तथा स्वर्ग-नरक को मानते हैं, सद्‌गुणों को मानते हैं। सद्‌गुणो और सदाचार की प्रशंसा सभी करते हैं। इस लोक में सुखी, यशस्वी होने के साथ परलोक में भी सुख की कामना तो सबकी है, मोक्ष-विधान हिन्दू धर्म की विशिष्टता है। नैतिकता का समादर सभी धर्मों में है। अपने साथ ही अन्य लोगों का उपकार करना, समाज के लिए कार्य करना सभी धर्मों में प्रशंसित है। ईश्वर सभी धर्मों में मान्य है। उपर्युक्त बातों का अपवाद नहीं है। इस तरह के अनेक विधान सभी धर्मों में एकरूप है। धर्म के मूल तत्व यही है, जो व्यक्ति और समाज को धारण करते है। चार्वाक दर्शन परलोक और ईश्वर को नहीं मानता है फिर भी सदाचार और लोकसंग्रह को महत्व देता है तो तात्विक एकता को स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है। सामान्य और विशेष दो अंश प्रत्येक धर्म के होते हैं। सामान्य अंश निर्विवाद है। विशेष अंश (कर्मकाण्ड, उत्सव, उपासना आदि)में भिन्नता अवश्य है। इसमें भी जो एकता मानते हैं, उनका अतिवाद ही कहा जायगा। सामान्य धर्म

आवश्यक है तथा विशेष धर्म पर्याप्तता के लिए होता है। आवश्यक अंग की पूर्ति के बिना पर्याप्तता की खोज अरण्यरोदन है। आवश्यक अंग सभी धर्मों में सामान्यतः एक ही है। वह सबको मनुष्य बनाता है तथा समाज को रहने योग्य रखता है। यही धर्म की देन है। तात्विक एकता को न पहचानने के कारण कलह है तथा लोग धर्मच्युत हो रहे हैं। विश्व भर में एक ही सामान्य धर्म सर्वत्र हो सकता है।

समाज की सुस्थिति के लिए सामान्य धर्म ही पर्याप्त है। वह एक ही है। समाज की उन्नति की एक पराकाष्ठा है। सुख, शान्ति एवं समृद्धि ही समाज में अभीष्ट है। व्यक्ति की उन्नति की पराकाष्ठा नहीं है। वह अनन्त शक्ति और अमृतत्व (मोक्ष) प्राप्त कर सकता है। विशेष धर्म इसकी शिक्षा देते हैं। इस अंश में धर्म उच्चावर कोटि के हो सकते हैं। विशेष धर्म का उपासक सामान्य धर्म को नहीं छोड़ सकता है, अतः वह धर्मगत विवाद या कलह में नहीं पडेग़ा। ऐसी स्थिति में धार्मिक विवाद क्यों होते है, इसका उत्तर पाना कठिन नहीं है। स्पष्ट है कि सामान्य धर्म (राजधर्म) के प्रति शासन और जनता की उपेक्षा तथा विशेष धर्म के नाम पर पाखण्ड और प्रदर्शन के कारण धर्म मृतप्राय है। अधर्म ही धर्म के नाम पर प्रचलित है। खोटा सिक्का तेज चलता है। अधर्म प्रभावी हो रहा है। जब कभी शासन ही विशेष धर्म का पक्षधर होता है, समाज कमजोर होता है। अनेक धर्म सदैव रहे हैं। राजधर्म एक ही होता है। अशोक का राज्य विशेष धर्म के राजधर्म होने के परिणाम का उदाहरण है। ऐसे शासन के प्रभाव में समाज विघटित होता है। राजधर्म ही सामान्य धर्म है। शासन को इसका निर्वाह करना ही होगा। विशेष धर्म का प्रर्वतन समाज करता है। धर्म निरपेक्ष राज्य में शासन, समाज एवं व्यक्ति सब की दुर्गति होती है।

ईश्वर एक ही है। अनेक नामों एवं रूपों में उसी की आराधना होती है। 'सर्वदेव नमस्कारः केशवं प्रति गच्छति।' अनेक उपायों में वैभिन्य होने के बावजूद उद्देश्य एक ही है। 'नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।' इस तरह साध्य के रूप में सभी धर्मो में एकता है साधन के रूप मे अनेकता है। साधन अतात्विक तथा अनेकता भी अतात्विक है। सत्व की प्रतिष्ठा से स्व का विस्तार होता है।वही ब्रह्म हो सकता है। स्व में ही सारा विश्व समाहित हो सकता है। स्व को संकीर्ण करने पर (तामसी वृत्ति होने पर) अनेकता पैदा होती है। स्व की परिभाषा ही महत्वपूर्ण है। ईश्वर तत्व को समझने वाला ही एकत्व स्थापित कर सकता है। विभिन्न सम्प्रदायों ने ईश्वर को व्यापक एवं सर्वसमर्थ रूप में प्रतिपादित किया है। उसके प्राप्ति का उपाय भी सभी ने बताया है। इस प्रयास में अद्वैत वेदान्त सर्वश्रेष्ठ है। अद्वैत की भूमि पर साध्य और साधन दोनों की श्रेष्ठता भारतीय ही नहीं विदेशी मनीषी भी स्वीकार करते हैं। इसमें विवाद और

कलह के लिए स्थान ही नहीं रहता है। सर्वथा अविरोध का यह मार्ग है। सभी धर्मों में कुछ और जोड़कर उन्हें अद्वैत तक पहुँचाया जा सकता है। अद्वैत सिद्ध है तो धर्मों की तात्विक एकता भी सिद्ध है। अद्वैत केवल मोक्षमार्ग नहीं है। यह समाज दर्शन भी है। अहम्मन्यता को त्यागकर अद्वैत की भूमि पर सभी धर्म अपना पूर्ण विकास करना चाहे, तो धर्मों की तात्विक एकता साध्य और साधन दोनों रूप में सिद्ध हो सकती है। सभी धर्मों में व्यक्ति और समाज की उन्नति की संभावनाएँ विद्यमान हैं।

गीता की मान्यता है-'न हि बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम' तथा 'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।' इन वाक्यों से सिद्ध है कि अच्छे-बुरे या छोटे-बड़े के कारण धर्मों में विवाद नहीं होना चाहिए। विवाद तो अधर्म के कारण होता है। अहिंसा, जियो और जीने दो, परोपकार, विश्वबंन्धुत्व, न्याय, व्यक्ति की गरिमा, व्यक्ति के विकास के लिए अवसर , स्वतन्त्रता आदि की व्यवस्था करने वाला धर्म है। यह व्यवस्था सभी को अच्छी लगती है। सत्यं शिवं सुन्दरम् से किसी को विरोध नहीं है। किन्तु तात्कालिक क्षुद्र स्वार्थों के कारण कुछ लोग अपना समूह बनाकर धर्म का ही विरोध करते हैं। वे अधर्म को ही धर्म के रूप में प्रतिपादित करते है। यह बात सदा से होती रही है। अतः धर्म और अधर्म का युद्ध चलता रहा है। धर्मों की तात्त्विक एकता और अधर्मों की अतात्त्विक अनेकता के कारण संगठन और विघटन होते रहते हैं। वर्तमान समय में विघटन बहुत हो चुका है। अतः धर्म के रहस्य को समझते हुए, उसके सहारे, संगठन करना आवश्यक है।

कानून का भय इस लोक के लिए होता है, अतः केवल राजभय से इसका पालन होता है। धर्म का भय लोक-परलोक दोनों के लिए होता है। अतः इसका पालन स्वेच्छया भी किया जाता है। धर्मों की तात्त्विक एकता उपादेय चिन्तन है। इन्हीं तत्वो के आधार पर राजधर्म का प्रवर्तन किया जाय तो स्वेच्छया नियमों का पालन होने लगेगा। तभी समाज और व्यक्ति का अभ्युदय हो सकता है। धर्मों की तात्त्विक एकता समझने का यही अभीष्ट फल है।

सामाजिक प्रतिष्ठा का मानदण्ड

आजकल सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए ऐसी प्रतिस्पर्धा चल रही है जो समाज का ही अस्तित्व संकटापन्न बना रही है। प्रतिष्ठा, यश व कीर्ति की इच्छा तो मनुष्य की अन्तिम कमजोरी है। इसके लिए प्रयत्न करना ही चाहिए। वीतराग स्थितप्रज्ञ भी लोकसंग्रह के लिए ऐसा कार्य करते हैं जिससे उन्हें यश व कीर्ति मिलती है। किन्तु वर्तमान समय में प्रतिष्ठा इतनी सस्ती समझ ली गई है कि प्रत्येक व्यक्ति उसके चरम पर पहुँचने की सम्भावना रखता है। अपने आचरण और योग्यता का आकलन न करते हुए, सभी प्रतिष्ठित होने की दौड़ में व्यग्र हैं। यह स्थिति स्वाभाविक है क्योंकि मात्र धन और पद से ही प्रतिष्ठा जोड़ दी गई है। धन और पद प्राप्त करने के उपाय अधार्मिक या असामाजिक हों, तब भी, सफल होने पर प्रतिष्ठा मिल रही है। यह शोचनीय स्थिति है। अतः विचारणीय है कि सामाजिक प्रतिष्ठा का पात्र कौन है, पात्रता का मानदण्ड क्या है? समाज की रक्षा के लिए यह एक सामयिक प्रश्न है।

समाज शब्द की ही बड़ी प्रतिष्ठा है। मनुष्यों का ही समाज होता है। पशुओं का समुदाय समज कहा जाता है। मनुष्य सामाजिक होने के कारण ही पशुओं से भिंन्न है। सामाजिक होने में हेतु बुद्धिबल है। सम धन अज् (गतिक्षेपणे) में धञ् प्रत्यय करने से समाज शब्द बना है। गत्यर्थक धातु ज्ञानार्थक होती है, अतः समाज में बुद्धितत्व अनुगत है। बुद्धिमान लोगों का वर्चस्व होने पर ही समाज चल सकता है। संघ, समुदाय, संगठन आदि अच्छे-बुरे होते हैं। इनमें उद्देश्य और व्यवस्था हीन कोटि की हो सकती है किन्तु समाज सब को ठीक करता रहता है। समाज एक वृहत्तम इकाई है जिसमें सभी तरह के संगठनों का समावेश है। समाज की मर्यादा और शक्ति से सभी संगठन नियमित होते हैं। मनुष्य जाति की रक्षा के लिए समाज की मर्यादा सुरक्षित रखनी होगी। कोई संगठन यदि समाज से बलवत्तर हो जाए तो यह संकट की स्थिति है। बुद्धिजीवी ही ऐसे संकट को दूर करते हैं। जो किसी भी संगठन में न रहकर शुद्ध समाज का सदस्य है, ऐसा बुद्धिजीवी अधिक उपादेय है। ऋषि लोगों ने इस परम्परा को प्रशस्त किया है। समाज में प्रतिष्ठा पाने के लिए 'सामाजिक' होना प्रथम आवश्यकता है।

किसी भी विषय में उत्कृष्ट कोटि का होने से नाम हो जाता है। गिनीज बुक में नाम पड़ सकता है तथा अखबारों में चर्चा हो सकती है। इस नाम के कारण सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं होती है। स्मरण आती है गोस्वामी तुलसीदास की

उक्ति-

भलो भलाई पै लहहिं लहहिं निचाइहिं नीच।
सुधा सराहिय अमरता गरल सराहिय मीच ।।

भलाई और बुराई, विष और अमृत अपनी-अपनी जगह सबकी सराहना है। विष खाने पर कोई भी असर न हो तो विष ही निन्दनीय हो जाता है। अपने क्षेत्र में उत्कृष्ट होना सराहना का विषय है। नाच, गाना, नौटंकी और सिनेमा में प्रदर्शन आदि से कलाकारों की सराहना होती है। अपने क्षेत्र में प्रतिष्ठा पाना तथा सामाजिक प्रतिष्ठा दोनों में भेद है। समाज के लिए-

'कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सबकर हित होई।।'

ही आदर्श है। अपना हित ही नहीं समाज का हित चाहने वाले की ही प्रतिष्ठा और कीर्ति अच्छी कही जा सकती है। राम-रावण, कृष्ण-कंस सभी के नाम अमर है, किन्तु सामाजिक प्रतिष्ठा राम और कृष्ण ही की है। संकुचित क्षेत्र में नाम करने पर प्रतिष्ठा सामाजिक स्तर की नहीं होगी। सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए कार्य क्षेत्र समाज ही होना चाहिए। जिस विषय से प्रत्येक व्यक्ति सम्बद्ध है और होना अभीष्ट है, वही सामाजिक विषय है। सामाजिक क्षेत्र में केवल नाम करने के लिए जो व्यक्ति कार्य करता है, बहुधा वह पाखण्डी होता है। ऐसे लोगों की प्रतिष्ठा उनके अनुगामियों द्वारा समाज पर लादी जाती है। वास्तव में लोकसंग्रह के लिए स्वभाववश जो कार्य होता है, वही सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार है।

समाज मूल्यों पर आधारित होता है। यह मूल्य संस्कृति से प्राप्त हुए हैं। समाज का संरक्षक मूल्यों की रक्षा करता है तथा सामयिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करता है। मूल्यों के लिए जीना महत्वपूर्ण है और उनके लिए मरना अधिक महत्वपूर्ण है। राणाप्रताप ने मूल्यों के लिए क्लेश उठाया। सुकरात ने मूल्यों के लिए ही प्राणोत्सर्ग किया। ऐसे लोगों की ही प्रतिष्ठा है। सफलता या विफलता से प्रतिष्ठा को जोड़ना अवर कोटि का आकलन है। सही दिशा में प्रयास करने वाला ही प्रतिष्ठित होता है। सामाजिक नियन्त्रण होने पर परम्परागत मूल्यों की रक्षा होती है। जब समाज पर किसी संगठन विशेष का नियन्त्रणात्मक प्रभाव हो जाता है तो मूल्यों का ह्रास होता है। वर्तमान समय ऐसा ही है। अतः सामाजिक प्रतिष्ठा का मानदण्ड स्थापित करना सैद्धान्तिक ही हो सकता है। इसे व्यावहारिक बनाने के लिए प्रबुद्ध और सशक्त समाज की आवश्यकता है।

समाज के लिए शान्ति-व्यवस्था, न्याय, आदान-प्रदान और सहयोग की भावना, स्वतन्त्रता, समानता आदि मूल्य हैं। इनके होने पर व्यक्ति की गरिमा तथा लौकिक और पारलौकिक विकास का अवसर होना उत्कृष्टतर मूल्य के

लक्षण हैं। यह मूल्य क्या है, यह विवादास्पद नहीं होते हुए भी, सशक्त पाखण्डी लोग इनके अर्थ में भी विवाद उत्पन्न करके समाज में विघटन कर देते हैं। फलतः मूल्य ही अप्रतिष्ठित हो जाते हैं। मूल्यों की प्रतिष्ठा के उपरान्त ही सामाजिक प्रतिष्ठा का निर्धारण सम्भव है। मूल्य, समाज, प्रतिष्ठा यह एक अंन्योन्याश्रित चक्र में है। कहीं से भी सही दिशा में कार्य हो, तो पूरी व्यवस्था ठीक हो सकती है। मूल्यों को स्थापित करने वाला व्यक्ति वर्तमान समय में प्रतिष्ठा का पात्र है।

यह सर्वमान्य है कि प्रतिष्ठा का आधार शक्ति है। शक्ति की कई कोटियाँ है। उसके अर्जन के साधन तथा उपयोग के स्थान को दृष्टि में रखकर दैवी तथा आसुरी दो स्थूल विभाजन हो सकते हैं। वर्तमान समय में अर्थ और पद के आधार पर जो प्रतिष्ठा की परम्परा चली है, उसमें भी शक्ति कारण है। आसुरी कोटि की शक्ति होने के कारण इससे प्राप्त प्रतिष्ठा गर्हित है तथा समाज के लिए विनाशकारी है। शक्तिशाली को तो सभी को प्रणाम करना ही होगा। 'इन्द्राय सः नमते, नमते यो बलीयसे'-महाभारत। जो सबसे बलवान है वह इन्द्रतुल्य है। कभी नहुश भी इन्द्रत्व प्राप्त करते हैं। उनकी आज्ञा से ब्राह्मणों को पालकी ढोनी पड़ती है। लेकिन इसकी एक सीमा होती है। इन्द्रत्व से पदच्युत करने वाले वही पालकी ढोने वाले ही होते हैं। अतः यह नहीं समझना चाहिए कि वर्तमान समय में मूल्यों तथा सामाजिक प्रतिष्ठा को स्थापित करना असम्भव है। मानदण्ड रखना श्रेयष्कर है। इसके लिए आशा के साथ प्रयास करने वाला भी सामाजिक प्रतिष्ठा का पात्र है। हॉं उसे विद्या, तप, नैतिकता, आध्यामिकता जैसे उच्च साधनों से शक्ति ग्रहण करनी पडेग़ी। समय के विपरीत रहकर-सदुद्येश्यहेतु कष्टों को उठाना भी तप है। ऐसा तपस्वी भी प्रतिष्ठा का पात्र है।

आचार और व्यवहार दो बातों से व्यक्ति की परीक्षा होती है। आचार सब का मूल है। आचारवान होने पर ही व्यक्ति व्यवहार कुशल होता है। सामाजिक होने के लिए आचार-व्यवहार प्रधान गुण है। 'सर्वागमानामाचारो प्रथमः परिकल्पते' तथा 'अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतोहतः' ऐसे नीति वाक्यों का अभिप्राय स्पष्ट है। आचार आवश्यक गुण है और पर्याप्तता के लिए इसके उपरान्त प्रयास करके प्रतिष्ठा प्राप्त की जाती है। जब सर्वात्मभाव जाग्रत होता है तो सहज रूप में परोपकार की भावना आती है। यह भाव आचार के साथ समाज-सेवा के द्वारा ही प्राप्य है। आचारवान विद्वान् और शक्ति सम्पन्न व्यक्ति यदि परोपकार और लोक संग्रह में लगता है तो वह शंकराचार्य जैसा जगद्गुरू की प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। वैसे शक्ति में न्यूनता होने पर भी परोपकारी सदैव प्रतिष्ठित होता है। आचार-व्यवहार और परोपकार सामाजिक प्रतिष्ठा के निर्विवाद मानदण्ड है।

जब व्यक्ति में एक भी सद्गुण पूर्णरूप से प्रतिष्ठित हो जाता है तो उसमें सभी सद्गुणों का समावेष अपने आप हो जाता है तथा दुर्गुण समाप्त हो जाते हैं। जिस सद्गुण की प्रतिष्ठा से सिद्धि मिलती है उसी को प्रतिष्ठा का आधार मान लिया जाता है। विद्या, बल, धन, सेवाभाव, जाति, आयु, सामाजिक विषयों में योग्यता आदि ऐसे गुण है जिनसे लोगों को सामाजिक प्रतिष्ठा मिली है। लेकिन आवश्यक नहीं है कि इनसे प्रतिष्ठा ही मिलें। अप्रतिष्ठा भी इन्हीं से मिलती है। सत्य, दया, तप, दान, शील-यह ऐसे गुण हैं जिनसे प्रतिष्ठा मिल सकती है। प्रतिष्ठा न मिली तो अप्रतिष्ठा भी नहीं हो सकती है। ज्ञानी की प्रतिष्ठा सदैव होती है। ज्ञान पुरूषार्थो का चरम बिन्दु है। ज्ञानी को जीवन का रहस्य ज्ञात हो जाता है। उसका विरोधी कोई नहीं रह जाता है। अन्य पुरूषार्थो की सिद्धि होने पर ईर्श्या द्वेष का पात्र भी कोई बन सकता है किन्तु ज्ञान की सिद्धि होने पर इसका भय नहीं रहता है। यह धर्म की पराकाष्ठा है। ज्ञान-दृष्टि से जीवन के रहस्य को देखते हुए, समाज में व्यवहार करने वाला व्यक्ति प्रतिष्ठा का उच्चतम मानदण्ड स्थापित करता है।

भगवान ने गीता में कहा है- 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानवः।' ज्ञान-दृष्टि की प्राप्ति का उपाय स्वधर्म पालन है। ज्ञान तो फल है। क्रिया के रूप में उसे स्वधर्म के रूप में जाना जा सकता है। स्वधर्म में तत्पर व्यक्ति सहज रूप में उच्चतम पुरूषार्थ को प्राप्त करता है। उच्चतम पुरूषार्थ सभी का एक है। अतः कोई भी कार्य करने वाला सर्वोच्च पद प्राप्त कर सकता है। गीता में वर्णित स्वधर्म इसी व्यवस्था को दृढ़ता से प्रतिपादित करता है। जो पद एकनाथ को मिला वही नानक, कबीर, तुकाराम , रविदास आदि सभी को; स्वधर्म का फल सब के लिए एक ही है। स्वधर्म पालन से व्यक्ति तथा समाज दोनों का कल्याण है। सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए स्वधर्म-पालन से बड़ा मानदण्ड संभव नहीं है। व्यक्ति की ही भॉंति समाज में देश, कुल, संगठन (संघ) पद आदि की भी प्रतिष्ठा होती है। यह सब भी पूर्व वर्णित मानदण्डों के आधार पर ही सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करते है। कुल मिलाकर स्वधर्म में तत्परता ही सभी के प्रतिष्ठा का मानदण्ड है। पद से प्रतिष्ठा हो या प्रतिष्ठा से पद हो यह विवादास्पद बन गया है किन्तु विवाद का निराकरण सरल है। पद की प्रतिष्ठा से पदस्थ की भी प्रतिष्ठा है किन्तु पद से भारी अप्रतिष्ठा भी सम्भावित है। प्रतिष्ठा का आधार मात्र पद नहीं हो सकता है। अक्षम व्यक्ति पद की प्रतिष्ठा को भी धूल में मिला देता है। पद का स्वधर्म है, उसी के पालन से पदस्थ की प्रतिष्ठा है।

इतिहास में आकलन के समय सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए यही नहीं देखा जाता है कि कौन कितना नाम छोड़ गया, बल्कि देखा जाता है कि कौन कितनी धवल कीर्ति छोड़ गया है। जिसकी परम्परा में सुरसरि की तरह जनकल्याण

और सात्विकता उत्पन्न करने की जितनी क्षमता है उतना ही वह प्रतिष्ठित है। व्यास, शंकराचार्य, सुकरात, ईसामसीह, कन्फ्यूसियस आदि अब भी प्रतिष्ठित है। कृतियों में कालजयत्व तथा अमृत्व ही प्रतिष्ठा का मानदण्ड है। आचार और व्यवहार का पालन करने वाला व्यक्ति प्रतिष्ठित है। इसके साथ ही साधनभूत विद्याओं में प्रवीण व स्वधर्म पालन में तत्पर व्यक्ति अधिक प्रतिष्ठास्पद है। इन दोनों के साथ ही आत्मशक्ति सम्पन्न ज्ञानी होने पर व्यक्ति परम प्रतिष्ठा का पात्र हो जाता है। यही सामाजिक प्रतिष्ठा का मानदण्ड है।

ब्रह्मवर्चस्व की प्रतिष्ठा

आज का समाज निश्चय ही विशृंखलित है। भौतिक साधनों में वृद्धि के साथ ही समाजिक समस्याएँ भी बढ़कर उग्र रूप धारण कर चुकी है। सामाजिक व्यवस्था के लिए अनेक उपायों पर बुद्धिजीवी लोग विचार कर रहे हैं। उसी क्रम में कुछ लोग 'ब्रह्म वर्चस्व की प्रतिष्ठा' को उपयुक्त उपाय मानते हैं। ब्रह्म वर्चस्व की प्राप्ति व्यक्तिगत साधना का विषय है। इसके द्वारा व्यक्ति की शक्ति से संघ तैयार होता है। इसके विपरीत इस युग में संघ में ही शक्ति होने की मान्यता है। संघ की शक्ति की पाशविकता को देखते हुए व्यक्ति की शक्ति का पुनर्जागरण अप्रासंगिक नहीं है। अतः विचारणीय है कि ब्रह्म वर्चस्व क्या है? क्या आज की परिस्थिति में इसकी प्राप्ति संभव है? इसकी प्राप्ति किसको हो सकती है और कैसे? क्या ब्रह्म वर्चस्व की प्रतिष्ठा से सामाजिक व्यवस्था संभव है?

ब्रह्म शब्द का प्रयोग व्यापक, अनन्त, परमेश्वर, ज्ञान, वेद, ब्राह्मण आदि अर्थों में किया जाता है। वर्चस्व का अर्थ तेज, प्रकाश, प्रताप, शक्ति है। ब्रह्म से प्राप्त होने वाला या ब्रह्म का ही वर्चस्व, ब्रह्म वर्चस्व है। इसे हम व्यापक या अनन्त शक्ति के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। ब्रह्म शब्द के सभी अर्थ इस अनन्तता के साथ अनुस्यूत है। ब्रह्मवर्चस्व आध्यात्मिक शक्ति की पराकाष्ठा है। आत्मा और ब्रह्म का तादात्म्य होने पर आध्यात्मिक शाक्ति ब्रह्म वर्चस्व का रूप ग्रहण कर लेती है। निश्चय ही यह सर्वोत्कृश्ट शक्ति है जो व्यक्ति को जगन्नियन्ता बना सकती है। ऐसे ही वर्चसी लोगों को अवतार कहा जाता है। महर्षि पाणिनि ने दो तरह के वर्चस्व की चर्चा की है- हस्ति वर्चस्व, ब्रह्म वर्चस्व, हस्ति वर्चस्व सीमित होता है, शुभाशुभ उभयात्मक इसका प्रयोग है। ब्रह्म वर्चस्व निःसीम होता है तथा सदा ही शुभ होता है।

प्राचीनकाल में व्यक्तिगत साधना के लिए अवसर अधिक था। सनक-सनन्दनादि ऋषिगण, वशिष्ठ, विश्वामित्र, व्यास, शुकदेव, शंकराचार्य आदि ब्रह्म वर्चस्वी लोगों का इतिहास- पुराण में उल्लेख है। ब्रह्म वर्चस्व की पूर्ण प्रतिष्ठा न होने पर भी अल्पांश से ही साधक आश्चर्यजनक व्यक्तित्व का हो जाता है। आज भी एकनाथ, तुकाराम, रामकृष्ण परमहंस, रमण महर्षि, नानक कबीर, तुलसी, रविदास, पवहारी बाबा आदि अनेक विभूतियों का इतिहास चला आ रहा है। अतः यह नहीं कहा जा सकता है कि ब्रह्म वर्चस्व आज के युग में असंभव है। ब्रह्म देश काल से परे हैं और उसके वर्चस्व की प्राप्ति

उपासना और संकल्प पर निर्भर करती है। तो, आज भी दृढ़ संकल्प से युक्त ब्रह्मचारी उसी ब्रह्म वर्चस्व को प्राप्त कर सकता है। हस्ति वर्चसी लोगों की बहुतायत सदैव रही है। ब्रह्मवर्चसी कम ही होते हैं। आज भी ब्रह्म वर्चस्व की उपलब्धि संभव है और अंश में ही , यत्र-तत्र है भी।

देव, यक्ष, भूत-प्रेत की पूजा और प्रसन्नता से भी शक्ति मिलती है, किन्तु वह सीमित शक्ति है। उपासना का विषय अनन्त (वेद, ज्ञान, ब्रह्म) होने पर ही ब्रह्म वर्चस्व की प्राप्ति होती है। चमत्कार तथा सम्मोहनादि मायिक शक्तियों द्वारा तात्कालिक प्रभाव उत्पन्न होता है। ब्रह्म वर्चस्व के सामने यह सब गन्धर्व नगर की भॉंति लुप्त हो जाते है। असुरों में यन्त्र, तन्त्र तथा मायिक शक्तियॉं देवताओं से अधिक होती है, किन्तु ब्रह्म वर्चस्व से ही देवता लोग अन्त में विजयी होते रहे है। आज के परिवेष में दैवी शक्तियॉं निष्प्रभावी हो रही है। सात्विकता का वातावरण खोजना कठिन है। देवों की दुर्दशा है। किन्तु यही स्थिति नहीं रहेगी। ब्रह्म वर्चस्व से ही देवताओं की प्रतिष्ठा होती रही है, पुनः होगी। ऋषि शृंगी ने वन में रहकर युवावस्था तक स्त्री जाति को नहीं जाना था। ब्रह्मचर्य और वेदाध्ययन से वे ब्रह्मवर्चसी हुए। उन्हीं का वर्चस्व राम के रूप में प्रगट हुआ, जिससे राक्षसों का नाश संभव हुआ।

ऐतिहासिक साक्ष्य के अनुसार आज के परिवेश में भी ब्रह्म वर्चस्व की प्राप्ति संभव है और वही वर्तमान समस्या का निदान होगा। ब्रह्मवर्चस्व की प्राप्ति केवल ब्राह्मण को हो सकती है, यह भ्रमात्मक मान्यता है। ब्राह्मण शब्द जातिपरक अर्थ में नहीं, वास्तविक वर्णपरक अर्थ में लिया जाय तो यही मान्यता सही है। जो भी ब्रह्म की उपासना कर सकता है; उसे ब्रह्म वर्चस्व की प्राप्ति संभव है। इसका आधार ब्रह्मचर्य है। इन्द्रिय संयमपूर्वक वेद और ज्ञान की उपासना ब्रह्मचर्य है। सात्विकता द्वितीय उपादान है। सात्विक होने पर ही ऊर्ध्वगति होती है। तितिक्षा, त्याग, तपस्या, सत्य आदि स्वभावतः आनुषंगिक है। ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद यदि साधना की भावना होती है तो कुशलतापूर्वक स्वधर्म पालन ही एकमात्र उपाय है। कर्मों के फल को ब्रह्मार्पित करने पर चित्तशुद्धि और इससे ब्रह्मोपासना होती है। ज्ञान में सभी का अधिकार है अतः ब्रह्मवर्चस्व की प्राप्ति के लिए भी सभी अधिकारी हैं। इस अधिकार को पाने के लिए बहुत से कर्तव्यों को पूरा करना पड़ता है। जो कर्तव्यों को पूरा करने में सक्षम है वही ब्रह्मवर्चस्व प्राप्त कर सकता है। जन्मजन्मान्तर की तपस्या एवं परम्परागत सात्विकता से करोड़ों में एक इस शक्ति का पात्र होता है। ईमानदारी पूर्वक आत्मान्वेषण और गुरू के निर्देशानुसार श्रद्धा तथा धैर्यपूर्वक प्रयास करने वाला ब्रह्मवर्चसी हो सकता है। अवश्य ही यह दुर्लभ उपलब्धि है, किन्तु संभव है।

ब्रह्मवर्चस्व की प्रतिष्ठा से सामाजिक समस्याओं का समाधान हो सकता है। ब्रह्मनिष्ठ और ब्रह्मवर्चसी में अन्तर है। ब्रह्मनिष्ठता अन्तर्मुखी होती है। उस व्यक्ति के व्युत्थान संस्कार समाप्त हो जाते हैं। ब्रह्मवर्चसी व्यक्ति बहिर्मुखी भी हो सकता है। व्युत्थान संस्कारों के जीवित रहने पर लोक-संग्रह की भावनावशात ब्रह्मवर्चसी समाज में भी कार्य करता है। शंकराचार्य ने अपने जीवन में दोनों पक्षों को स्पष्ट किया है। ब्रह्मवर्चस्व की प्राप्ति पर वे लोक संग्रह में अद्भुत कार्य किये और अन्त में ब्रह्मनिष्ठ होकर समाधि संस्कारों में ही मग्न हो गए। जीवन के आरम्भ में ब्रह्मचर्य और स्वाध्याय से ब्रह्मवर्चस्व उत्पन्न होता है, तो संस्कारों के शेष रहने के कारण लोक-संग्रह के कार्य होते हैं। जीवन के अन्तिम दिनों में ब्रह्म प्राप्ति होने पर ब्रह्मनिष्ठता हो सकती है। उस समय लोक-संग्रह के लिए संस्कार ही नहीं अवशिष्ट रहते हैं। अतः स्नातकों को ब्रह्मवर्चसी बनाने का प्रयास करना लोक-संग्रह की दृष्टि से अधिक फलदायक है। ब्रह्मवर्चसी स्नातक के पास सही दिशा में उचित निर्णय लेने की योग्यता होगी तथा अपनी योजना को कार्यान्वित करने के लिए पर्याप्त शक्ति होगी। समाज सेवा के लिए इतना ही तो आवश्यक है। अतः ब्रह्मवर्चस्व की प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्न करना उचित ही है। इसी से सामाजिक समस्याओं का भी समाधान हो जायेगा।

वर्ण-व्यवस्था में जाति-व्यवस्था का स्थान

वर्ण व्यवस्था एक सुगठित विधान है। जो के स्वभाव में निहित है यह सार्वभौम एवं अनादि है। सभी देश और संस्कृतियाँ किसी न किसी रूप मे, वर्ण व्यवस्था का पोषण करती हैं। आज के हजारों वर्ष पूर्व प्लेटो ने तीन वर्ण और दास को मिलाकर चार भागों में सामाजिक संरचना का निरूपण किया है। जहाँ स्पष्ट रूप से वर्ण व्यवस्था का ज्ञान नहीं है, उन अविकसित संस्कृतियों में भी वर्ण व्यवस्था अंशतः कायम है। समाज को विराट पुरूष मानते हुए ब्राह्मण इसका शिर, क्षत्रिय बाहु, वैश्य उदर प्रदेश और शूद्र इसके पैर वैदिक मन्त्र में कहे गए हैं। समाज के लिए बौद्धिक शक्तिः सुरक्षा की व्यवस्था तथा आर्थिक उपक्रम तीन आवश्यकताएँ है। इन तीनों के लिए अनुपयुक्त लोग चतुर्थ श्रेणी में रहकर सभी के उपकारक होते हैं। वर्णाश्रम व्यवस्था के आधार पर भारतीय संस्कृति वैदिक काल से सनातन बनी हुई है। उत्तर वैदिक काल में स्मृतिकारों ने वर्ण व्यवस्था को सुदृढ़ रखने के लिए ही जाति व्यवस्था को स्थापित किया था। मूल उद्देश्य वर्ण व्यवस्था ही है। आज जाति और वर्ण लगभग एक मान लिए गए हैं, जिसमें सामाजिक विवाद उत्पन्न हो गया है। दोनों में बहुत अन्तर हैं। वर्ण व्यवस्था को सुरक्षित रखना नितान्त आवश्यक है। इसकी सुरक्षा कैसे हो तथा जाति व्यवस्था का स्वरूप क्या हो? यह विचारणीय प्रश्न है। मानवीय मूल्यों की पराकाष्ठा का ज्ञान कराने के लिए भारतीय संस्कृति की रक्षा अनिवार्य है। अतः यह प्रश्न अनुपेक्षणीय है।

हमारे शास्त्रों में स्वधर्म का निर्धारण वर्णाश्रम के अनुसार किया गया है। स्वधर्म के पालन से सुख और सिद्धि तथा पर-धर्म से दुख और भय मिलता है, यह मान्यता है। वर्ण व्यवस्था के छिन्न-भिन्न होने पर स्वधर्म का निर्धारण ही नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में समाज में द्वेश, कलह,अन्याय तथा अव्यवस्था व्याप्त हो जायेगी। हम ब्राह्मण वर्ण से विहीन समाज की कल्पना नहीं कर सकते हैं। ऐसा समाज पशुओं के समज से भी निकृष्ट होगा। हमारा उद्देश्य 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम' है। सभी को ब्राह्मण बनाया जाय न कि समानता की स्थापना के लिए, सब को शूद्र बना दिया जाय। वास्तव में अब भी सभी ब्राह्मण होना चाहते हैं। किन्तु वैसा आचरण न करके केवल ब्राह्मण की प्रतिष्ठा पाने में लगे हैं। प्रतिष्ठा तो न जाति से, न ही प्रचार और आतंक से मिलेगी। उसके लिए आचरण और ज्ञान ही प्रधान तत्व हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र इन चारों में से एक भी अपने स्थान पर प्रतिष्ठित हो जाय तो एक धुरी कायम हो सकती

हैं। इसके लिए वेदों में गोता लगाने की आवश्यकता नहीं है। गीता में वर्ण-व्यवस्था का विधान तथा वर्णों का स्वधर्म निरूपित है। इसके अनुसार गुण और स्वभाव जिस किसी व्यक्ति में मिले उसे तदनुसार वर्ण का कार्य दिया जा सकता है। ऐसा करने पर समाज जाति व्यवस्था के झगडे.से मुक्त हो सकता है। यह प्रस्ताव कहॉं तक मान्य है, विचारणीय है।

वर्ण-व्यवस्था का स्वाभाविक आदर्श है योग्यता के अनुसार कार्य एवं योग्यता में उत्तरोत्तर वृद्धि करना। अतः वर्ण-व्यवस्था के होने पर आरक्षण की नीति नहीं चल सकती है। आरक्षण तो संख्या तथा जाति व्यवस्था पर आधारित है। जाति-व्यवस्था का विरोध करने वाले यदि आरक्षण के भी समर्थक हैं तो यह स्पष्टतः आत्मविरूद्ध आचरण है। ऐसा लगता है कि भारतीय समाज दिग्भ्रमित है। बुद्धिजीवियों को सामाजिक चेतना जाग्रत करने के लिए आगे आना होगा। यह निश्चय हो चुका है कि सामाजिक व्यवस्था के लिए वर्ण व्यवस्था अपरिहार्य है। अतः अब निश्चय करना है कि जाति-व्यवस्था की भी आवश्यकता है या नहीं और है तो किस रूप में।

भारतवर्ष में जाति-व्यवस्था का अध्ययन हटन साहब ने किया था। उन्होंने पाया कि भारतवर्ष की धरती का एक विशिष्ट गुण है, जिसमें जातिप्रथा पनपती है। यहॉं पर मुसलमान और ईसाइयों में भी जाति-प्रथा के गुण आने लगे। अस्तु! हम धरती का गुण न माने तो भी चिरकाल से आ रही इस जाति-व्यवस्था को समाप्त करना दुस्साध्य है। ब्राह्मण ही नहीं प्रत्येक जाति अपने से बाहर नही जाना चाहती है। जिसे छोटी जाति कही जाती है उसमें जाति का लगाव और अधिक है। इसके अलावा इसे समाप्त करना आवश्यक भी नहीं है क्योंकि हानि के साथ बहुत से लाभ भी हैं। एक वर्ग के द्वारा एक व्यवसाय, एक दिशा में निपुणता तथा समाज के एक अंग की पूर्ति इस व्यवस्था में होती है। इससे आपसी बन्धुभाव रहता है तथा आदान-प्रदान की प्रथा बनी रहती है, जिससे यज्ञ की भावना और पारस्परिक सहयोग की भावना उत्पन्न होती है। सामाजिक संगठन में इससे सहायता भी मिलती है। आधुनिक विज्ञान ने जीन्स के सिद्धान्तों में प्रतिपादित किया है कि माता-पिता के गुण संतान में ८० प्रतिशत होते है अतः जाति-व्यवस्था से विशिष्टता उत्पन्न होती है। इन कारणों से जाति व्यवस्था को समाप्त करने का उपक्रम सही नहीं लगता है। वर्तमान स्थिति भी सही नहीं है। अतः संशोधन आवश्यक है। आजकल जातियॉं अपने धर्म से च्युत हो गई है। दीर्घकाल से उत्तरोत्तर गिरावट हो रही है। पहले भी दस प्रकार के ब्राह्मण गिनाए गए हैं-

दैवो मुनिर्द्विजोराजा वैश्यः शूद्रः निषादकः ।
पशुम्लेक्षश्च चाण्डालो विप्राः दश विधाः श्रुताः॥

अपने गुण और कर्म से च्युत होने पर ब्राह्मण भी आदरणीय नहीं रह जाता है।''तपः श्रुताभ्यां यो हीनः जाति ब्राह्मण एव सः'' से परिभाषित जाति ब्राह्मणों की सर्वत्र निन्दा की गई है। इसी तरह अन्य वर्ण के लोग भी स्वधर्म से च्युत होने पर निन्दनीय होते हैं। परम्परा के द्वारा वर्ण के गुणों में उत्तरोत्तर वृद्धि तथा उसकी सुरक्षा के लिए जाति-व्यवस्था की गई थी। इस उद्देश्य की पूर्ति न होने पर जातिमात्र से कोई बड़ा नहीं हो सकता है। 'विद्यते ब्राह्मणे तपः' की मान्यता भी सही है। वर्ण से च्युत होने पर भी पतन में या उत्थान में सामान्यतया बहुत समय लगता है। कुसंग या सुसंग से गुणों में परिवर्तन होता है किन्तु दीर्घकाल के अभ्यास के बाद ही दृढ़भूमि होती है। एकाएक वर्ण परिवर्तन संभव नहीं है। किसी-किसी विषय में कई पीढ़ी में परिवर्तन हो जाता है। अतः जाति और वर्ण दोनों परीक्षणीय हैं।

आज के समय में वर्ण के अनुसार ब्राह्मण यत्र तत्र हैं, क्षत्रिय लुप्त प्राय है, वैश्य अपने अनुपात में हैं, शूद्रों का बाहुल्य हैं तथा अन्त्यज और दस्युओं का भी प्राचुर्य है। यह वर्ण-व्यवस्था की दुर्दशा है, जिससे समाज में रहना श्रेयष्कर नहीं रह गया है। धर्म की क्षति को बचाने वाले, न्याय और दण्ड के प्रवर्तक क्षत्रियों की प्रतिष्ठा आवश्यक है। जहाँ कहीं से मिले क्षत्रियों की प्रतिष्ठा अनिवार्य कर्तव्य है। यह कार्य समय-समय पर ब्राह्मणों ने किया है। पृथु से लेकर आज तक अनेक उदाहरण हैं। आज फिर वैसी आवश्यकता है। इस कार्य के लिए जाति की सीमा को तोड़ा भी जा सकता है।

वर्ण-व्यवस्था में अदृष्टशक्ति का भी प्रभाव स्वीकार करना होगा। कर्मों के फल दृष्ट और अदृष्ट दो तरह के होते हैं। दृष्ट फल वाले कर्म से वर्ग और संगठन तथा अदृष्ट फल वाले कर्म से वर्ण और जाति होते हैं-'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते'-गीता कहती है। लेकिन अदृष्ट फल से प्राप्त जाति नहीं वर्ण ही विश्वसनीय है। जाति मात्र से सही निर्णय नहीं किया जा सकता है जैसा कि लोक में देखा जा रहा है। वर्ण-सांकर्य और वृत्ति-सांकर्य से उप-जातियाँ बनी है, जिन्हें भी चार वर्णों में ही रक्खा गया है। इस सांकर्य से स्थाई गुणों का निर्णय करना कठिन हो गया है। अतः उचित है कि वर्ण सांकर्य रोका जाय। जब ब्राह्मण ही शूद्र का कार्य (सेवा आदि) करने लगे तो शूद्र की वृत्ति क्या होगी? शूद्र वृत्तिहीन हो जायगा तो दस्यु बनेगा या सेवा में रहकर स्वयं को ब्राह्मण के समकक्ष कहेगा। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि वृत्ति एक प्रधान नियामक तत्व है। अतः वृत्ति का वितरण योग्यतानुसार ही हो जिससे वर्ण सांकर्य से समाज मुक्त हो सके। किसी आपत्ति में गुणी व्यक्ति भी, राजा नल की तरह, छोटा कार्य करता है। अतः कर्म गौण है और गुण

ही वर्ण निर्धारण में प्रधान है। गुणों का आकलन करके वृत्ति की स्वीकृति और सुविधा देने पर सांकर्य विहीन वर्ण-व्यवस्था स्थापित हो सकती है।

वर्तमान भारतीय समाज में जाति मात्र के आधार पर वर्ण-व्यवस्था उचित नहीं है। जाति विद्रोह के कारण वर्ण-व्यवस्था को उलटी करना एकदम अनुचित है। व्यक्तिगत जीवन में कोई जिस वर्ण के अनुसार जीना चाहे, उसे अवसर मिलना चाहिए। सार्वजनिक सम्बन्धों में वर्ण-व्यवस्था आवश्यक है। अनुभव और योग्यता के अनुसार कार्य करने का अवसर मिलने पर ही व्यवस्था बनी रह सकती है। सारे प्रपंच का नियन्त्रण व्यक्ति के लिए संयम और समाज के लिए दण्ड करता है। अतः न्याय और दण्ड को जाग्रत रखने पर ही व्यवस्था बन सकती है। उच्च वर्ण में दण्ड कठोर और निम्न वर्ण में मृदु होना चाहिए जैसा मनु आदि चिन्तकों ने बताया है। ऐसा करने पर लोग स्वयं अपनी योग्यता के अनुसार अपना स्थान निर्धारित कर लेंगे। दण्ड का भय न होने के कारण ही अव्यवस्था है। अतः क्षत्रिय वर्ण की प्रतिष्ठा समय की आर्‌तयांचा है। इसी में वर्ण-व्यवस्था, तदुपरि समाज-व्यवस्था निहित है। राजनेताओं को ही क्षत्रीय वर्ण में प्रतिष्ठिा करके, उन्हे सुसंस्कृत करना ब्राह्मणों का कर्तव्य है। यह प्रयोग सार्थक हो सकता है।

मनुवादी व्यवस्था का विकल्प

आजकल मनुवादी या ब्राह्मणवादी व्यवस्था की चर्चा बहुत है। समाचार पत्रों में इस व्यवस्था का समर्थन तो नहीं, विरोध ही प्रायः देखने में मिल जाता है। मनुवाद या ब्राह्मणवाद नाम का कोई वाद पहले नहीं था। वर्तमान समय में भी इस तरह के वाद का कोई प्रचार नहीं होता है। किन्तु विरोध का एक विषय होने के कारण इस विषय पर विचार आवश्यक है। अपने देश में वैदिकी व्यवस्था है जिसे सनातन धर्म भी कहते हैं। इसी को मनुवाद या ब्राह्मणवाद के नाम से अभिहित किया जा रहा है। वैदिकी व्यवस्था को एक व्यक्ति, जाति या वर्ग द्वारा प्रवर्तितवाद बना देने पर विवाद होना स्वाभाविक है। मनु ने स्वयं कोई व्यवस्था नहीं बनाई थी। मनु प्रजापति थे। उनके लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी समान थे। स्मृति के आधार पर वेद-विहित आचारों को एकत्र करने का कार्य उन्होंने किया। मनुस्मृति को ब्राह्मणवादी ही नहीं, क्षत्रियवादी, वैश्यवादी या शूद्रवादी भी कहा जा सकता है। लेकिन वादों के विवाद को छोड़कर उसे वैदिकी व्यवस्था मानना ही उचित है। यह वैदिकी व्यवस्था, जो स्मृतियों के माध्यम से प्रसरित हो रही है, अब भी सार्थक है या नहीं, इसका विकल्प ढूढ़ना आवश्यक है या नहीं तथा क्या विकल्प हो सकता है, आदि प्रश्नों का उत्तर वर्तमान समय में अपेक्षित है।

अपने देश में अनेक सम्प्रदाय एवं जातियों के होने पर भी भारतीय संस्कृति का एक अविच्छिन्न प्रवाह चला आ रहा है। टकराव, आदान-प्रदान एवं समन्वय की प्रक्रिया से भारतीय संस्कृति का रूप, अपने मूल से अलग न होते हुए, परिवर्तित हुआ है। यह एक स्वाभाविक विकास है। यह भारतीय संस्कृति वैदिक व्यवस्था पर अब भी टिकी हुई है। स्मृतियाँ, धर्म और समाज के लिए, अब भी मानदण्ड है। तथाकथित मनुवादी व्यवस्था और भारतीय संस्कृति संश्लिष्ट है। इन्हें अलग नहीं किया जा सकता है। जो लोग मनुवादी व्यवस्था का विकल्प खोज रहे हैं वे प्रकारान्तर से भारतीय संस्कृति का ही विकल्प चाहते है। स्पष्टतः भारतीय संस्कृति के विरूद्ध कोई नहीं कहता है। सम्पूर्ण प्रभाव का आकलन करने पर ऐसा लगता है कि विकल्प असंभव है। संस्कृति दीर्घकालीन प्रभावों को समेटते हुए मन्थर गति से परिवर्तित होती रहती है, विकल्प के द्वारा हटाई नहीं जा सकती है। बद्धमूल होने के कारण हटना असम्भव है। किसी कल्प का अनुकल्प होता है। समय के अनुसार संशोधन एवं परिवर्तन समाज

की अन्तर्निहित शक्ति से होता है। अनुकल्प ही संभव है। अब तक किसी विचारक ने किसी भी विकल्प को प्रस्तुत भी नहीं किया है। विकल्प के रूप में पाश्चात्य, इस्लामी, चीनी या जापानी आदि कोई व्यवस्था एवं संस्कृति को प्रस्तुत करने पर शायद कोई सहमत नहीं होगा। अतः विकल्प से निराश होकर अनुकल्प खोजना ही श्रेयष्कर है।

विकल्प की खोज दो कारणों से होती है, उपस्थित वस्तु के अनुपयुक्त होने पर अथवा किसी दबाव के कारण। वर्तमान व्यवस्था अनुपयुक्त नहीं है, सदोष मानी जा सकती है। दोषों का निराकरण सम्भव होता है। निराकरण के स्थान पर विकल्प की बात दबाव के कारण उत्पन्न हो रही है। यह शुभ नहीं है। वर्तमान समय में समाज में व्याप्त दुराचार के स्थान पर सदाचार ही शुद्ध विकल्प है। इसी से व्यवस्था का अनुकल्प हो जायेगा। भारत में मनुवादी व्यवस्था का विकल्प ढूढ़ना एक आश्चर्यजनक बात है। विश्व में समस्याओं की जटिलता देखते हुए बाहर के लोग मनुवादी विकल्प की ओर आकृष्ट हो रहे हैं। ऐसे समय में हमें बुद्धि और संयम से कार्य करना उचित है। अपनी व्यवस्था को परिष्कृत रूप में रखना ही सही कार्य है।

स्मृतियों में कोई ऐसी बात नहीं है जिससे समाज में अव्यवस्था फैल सके। मनुस्मृति के बारहों अध्याय अब भी धर्म और न्याय के अनुरूप है। देश काल के अनुसार संशोधन परवर्ती स्मृतिकारों ने कर रक्खा है। प्रचलन के अनुसार समाज स्वयं संशोधन करता जा रहा है। किन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ और व्यवस्था को समाप्त करने की बात मूलोच्छेद है। मनुस्मुति को न पढ़ने के कारण या गलत अर्थ लगाने के कारण अज्ञानवश विरोध होता है। उसका सम्यक् पठन-पाठन होने पर वह सही रूप में आचार और व्यवहार का मार्गदर्शक ग्रन्थ हो सकता है। मनुस्मृति सम्बन्धी सारा विवाद ब्राह्मण शब्द को लेकर है। बौद्ध, जैन, शाक्त, पाशुपत आदि सभी सम्प्रदायों ने ब्राह्मण शब्द की परिभाषा दी है। समाज में मूर्धन्य श्रेणी के लोगों को ब्राह्मण कहा है। प्लेटो ने भी ऐसी व्यवस्था दी है। आज के युग में ब्राह्मण कौन हो सकता है इसे यदि परिभाषित कर दिया जाय तो शायद सारा झगड़ा समाप्त हो जाय। आज भी ब्राह्मण को ज्ञानी, तपस्वी, अपरिग्रही, विद्वान, निर्लोभ, त्यागी, सत्यवादी, दयावान आदि तरह से ही परिभाषित किया जा सकता है। यह परिभाषा पुरानी परिभाषा से बहुत भिन्न नहीं होगी। हाँ जन्म, कर्म एवं गुण के अनुसार वर्गीकरण करने पर स्पष्टता हो सकती है। यह अलग से विवेचनीय एक महत्वपूर्ण वृहद विषय हैं।बुद्धिजीवियों को इस पर विचार करना चाहिए। ब्राह्मण की परिभाषा और तदनुसार प्रतिष्ठा ही मनुवाद का एक सुदृढ़ अनुकल्प है।

आधुनिक युग में डा0 भगवानदास ने नवीन दृष्टि से मानव धर्मशास्त्र पर लिखा है। अन्य विचारकों ने भी इस दिशा में कार्य किया है। अपना संविधान बनाते समय वरिष्ठ लोगों ने सामाजिक परिशीलन भी किया। किसी भी निष्पक्ष विचारक ने मनुस्मृति का विरोध नहीं व्यक्त किया है। विकल्प की बात नवीन चेतना है। समता के सिद्धान्त का अर्थ स्वाभाविक असमानता को दूर करना ही है। पुराने जमाने से, प्राकृतिक नियंत्रण के कारण असमानता रही है और रहेगी। लोकहित में इसे स्वीकार करना चाहिए मनुवादी व्यवस्था योग्यता और पात्रता तथा मूल्यों को यथास्थान वरीयता देती है। इसका विरोध योग्यता तथा मानवीय मूल्यों का विरोध होगा। अयोग्य लोग ही नीति-निर्धारण करें तो 'डेविल कोटिंग स्क्रिप्चर' की बात चरितार्थ होती है। अतः स्वमूल्यांकन के द्वारा या सामाजिक नियंत्रण से सभी को अपनी सीमा में रहना तथा पाखण्ड छोड़कर शुद्ध आचरण करना आवश्यक है। इससे सनातनता तथा परिवर्तन दोनों अपेक्षाएँ पूरी होती है।

हमारी संस्कृति में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार पुरूषार्थ स्वीकार किए गए है। भारत जैसे देश में धर्म और मोक्ष को छोड़कर केवल अर्थ, काम को मानना जन मानस के लिए असह्य है। मनुस्मृति मूल रूप से धर्मशास्त्र है। विकल्प की खोज राजनैतिक कारणों से है न कि धार्मिक। राजनीति को भी यथास्थान रखने के लिए धर्म और समाज ही सक्षम है। धर्म की प्रतिष्ठा से स्वतन्त्रता, समता, न्याय और व्यक्ति की गरिमा सभी प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इस निमित्त भी मनुस्मृति को प्रतिष्ठित रखना आवश्यक है।

मनुस्मृति तथा वाद में बनाई गई स्मृतियों के द्वारा आपद्धर्म की व्यवस्था की गई है। कलिवर्ज्य प्रकरण भी एक वैकल्पिक व्यवस्था है। अतः विकल्प की आवश्यकता अब नहीं है। मनुस्मृति में जिन मूल्यों को स्थापित किया गया है वे अब भी उपयोगी है। मूल्यों की स्थापना के कारण ही ब्राह्मण सर्वोपरि है। समान अपराध के लिए ही ब्राह्मण को अधिक कठोर दण्ड की व्यवस्था करके ब्राह्मण के प्रति अन्याय नहीं बल्कि मूल्य-रक्षा की व्यवस्था मनु ने दिया है। इस तरह के ब्राह्मण समाज में कैसे पैदा हो, जिससे मूल्य सुरक्षित रहें, यह विचारणीय है। मनुस्मृति तथा मूल्यों के स्थापना के लिए वैकल्पिक मार्ग की खोज उचित है। स्मृति का ही विकल्प खोजना मूल काट कर तने से फल की आशा के समान अविवेकपूर्ण कार्य है। श्रेयमार्ग के लिए तो आवश्यक है ही प्रेय मार्ग के लिए भी स्मृतियों की व्यवस्था ही मार्गदर्शक है। बुद्धिजीवियों का कार्य है तदनुसार आचरण एवं प्रचार करना। अन्य लोगों को निर्भ्रम होकर विश्वास करने की आवश्यकता है। सभी लोगों के मन, वाणी और कर्म में सामंजस्य होगा, तभी शान्ति और व्यवस्था रह सकती है। सुस्थापित सिद्धान्तों एवं

व्यवस्थाओं को हिलाने पर विनाशकारी आन्दोलन हो सकता है। भगवान सबको बुद्धि देगा। अन्यथा अन्तिम सत्य है गीता का वाक्य –

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमाधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम ॥

एवं

''धर्म संस्थापनार्थाय, संम्भनामि युगे युगे॥''

महापुरुष की उत्पत्ति अन्तिम व विश्वनीय आशा है।

ब्राह्मण की परिभाषा एवं उसकी सामाजिक उपयोगिता'

आचार्य शंकर ने अपने गीताभाष्य के उपोद्घात में लिखा है-'ब्राह्मणत्वस्य रक्षणेन रक्षितः स्याद् वैदिकः धर्मः तदधीनत्वाद् वर्णाश्रम भेदानाम।' ब्राह्मणत्व का अर्थ है ब्राह्मण के गुण और धर्म। अकृतिम होने पर गुण ही स्वभाव हो जाता है। ब्राह्मण का स्वभाव ही ब्राह्मणत्व है। वैदिक धर्म की रक्षा के लिए ब्राह्मणत्व रक्षणीय है। भारतीय संस्कृति की मूलधारा वैदिक धर्म से है। अतः भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए भी ब्राह्मणत्व की रक्षा उपादेय है। धर्म और संस्कृति के बिना मनुष्य का समाज असम्भव है, निष्प्राण हो जायेगा। अतः समाज की संजीवनी शक्ति के लिए भी ब्राह्मणत्व रक्षणीय है। कोई यह कहे कि वैदिक धर्म और संस्कृति के समाप्त होने पर उनका स्थान स्वतः भर जायेगा, अतः ब्राह्मणत्व की रक्षा का भार क्यों लिया जाय, तो अदूरदर्षिता ही है, क्योंकि धरती से बद्धमूल धर्म और संस्कृति लुप्त नहीं हो सकती है। इसमें विकृतियाँ आ सकती है, हानिकारक हो सकती है, किन्तु समाप्त नहीं हो सकती है। जो संस्कृतियाँ समाप्त हुई हैं वे यायावर लोगों में या उधार ली गई मान्यताओं पर आधारित थीं। भारतीय संस्कृति स्थानीय और मौलिक है अतः यहीं रहेगी। उसे उपयोगी बनाने के लिए ब्राह्मणत्व की रक्षा का विकल्प नहीं है। शंकराचार्य ने ब्राह्मण जाति की रक्षा की बात नहीं कहा है बल्कि ब्राह्मणत्व की रक्षा हेतु लिखा है। आचार्यपाद के एक वाक्य में ही ब्राह्मण की परिभाषा एवं उपयोगिता की झलक है तथा ब्राह्मण जाति नहीं बल्कि ब्राह्मणत्व का महत्व है, इसका संकेत भी है। विविध आयामों में इसका अध्ययन अपेक्षित है।

वैदिक काल से ही भारतीय समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चार वर्णों की व्यवस्था मिलती है। वैदिक संहिता में 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' से लेकर ब्राह्मण आरण्यक, स्मृति, पुराण, इतिहास तथा समस्त वैदिक वांगमय में ब्राह्मण की श्रेष्ठता प्रतिपादित है। ब्राह्मण सामाजिक संरचना का केन्द्र बिन्दु रहा है। उसकी परिभाषा धर्म और नीति के साथ ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में एक आदर्श के रूप में की गई है। इसी कारण जैन तथा बौद्ध लोगों ने भी अपने को ब्राह्मण कहा तथा तदनुसार ब्राह्मण की परिभाषा दिया है। अर्वाचीन समाज में भी ब्राह्मण शब्द का महत्व है। प्रसिद्ध विचारक इमर्सन ने बौद्धिक और आध्यात्मिक रूचि के लोगों का मुहल्ला अमेरिका में बसाया जिसका नाम ब्राह्मणबस्ती रखा था। वाल्टेयर ने भारतीय चिन्तक को ब्राह्मण कहा है। स्वतन्त्रता संग्राम में महाराष्ट्र के ब्राह्मणों के त्याग और बलिदान को देखकर अंग्रेजों ने ब्राह्मण शब्द को

क्रांतिकारी का पर्यायवाची मान लिया, ऐसा मन्मथनाथ गुप्त ने भी लिखा है। स्वामी विवेकानन्द ने ब्राह्मण को पूर्ण मानवता का आदर्श करके देखा। डा0 भगवानदास, डा0 सम्पूर्णानन्द तथा अनेक विचारकों ने ब्राह्मण और ब्राह्मणत्व पर विचार किया है। अब तक जितने विचारक हुए हैं सभी की दृष्टि में ब्राह्मणत्व की नितान्त आवश्यकता है। ब्राह्मणों के अदर्शन से क्षत्रिय लोग दस्यु हो जाते हैं, समाज में अनीति और अधर्म फैलने लगता है तथा मूल्यों का अवमूल्यन होने लगता है। अतः समाज में ब्राह्मणों की उपस्थिति अनिवार्य है। प्लेटो ने जिसे दार्शनिक कहा है वह ब्राह्मण ही है अन्य संस्कृतियों में भी ब्राह्मण वर्ण की उपलब्धि होती है किन्तु भारतीय चिन्तन प्रणाली में ब्राह्मण का स्थान, उसका गुण-निरूपण इतना विशद् है कि सम्पूर्ण परम्परा को ही ब्राह्मणवादी कहा जाता है। देश-विदेश में प्रसिद्ध ब्राह्मणवादी उपाधि भारतीय समाज के लिए एक अलंकरण है। ब्राह्मण्त्व के आधार पर संगठित समाज सुखी और चिरंजीवी रहेगा। अतः भारतीय समाज में ब्राह्मणों की आवश्यकता सदैव रही है और रहेगी, इसमें विवाद नहीं है।

ब्राह्मण की परिभाषा क्या है? जन्म, कर्म, गुण, स्वभाव आदि में से ब्राह्मणत्व का निर्णायक कौन सा तत्व है? इन विषयों पर बहुत पहले से विवाद चला आ रहा है। इसीलिए सभी सम्प्रदायों ने अपनी-अपनी परिभाषा दिया है। जैसे आजकल समाजवाद और प्रगतिवाद शब्द प्रलोभनीय हैं उसी तरह ब्राह्मण शब्द भी पहले से ही आकर्षक रहा है। जो अन्य ब्राह्मणों की निन्दा करते हैं वे भी प्रकारान्तर से अपने को ब्राह्मण सिद्ध करना चाहते हैं। व्यवहार में ब्राह्मण की वर्तमान स्थिति को देखते हुए तथा 'जन्मना जायते शूद्रः' आदि पुराण के वाक्यों एवं गीता के गुण-कर्म विभाग के सिद्धान्त की व्याख्या के आधार पर दूसरा पक्ष उत्पन्न होता है और आत्यन्तिक विरोध की स्थिति पैदा होती है। इस विषय में लम्बे शास्त्रार्थ हुए हैं, मोटी-मोटी पुस्तकें हैं और विवाद बना ही रह गया। अतः अधिक लिखना यहाँ अपेक्षित नहीं है। यह मान्य है कि शास्त्रीय दृष्टिकोणसे जन्मना ब्राह्मणत्व सिद्ध है किन्तु गुण और कर्म के अभाव में ब्राह्मण कहीं-कहीं शूद्रवत व्यवहार का पात्र होता है। वह निन्दनीय होता है। गुण-कर्म के होने पर भी जन्मना अब्राह्मण जीवित दशा में मुख्य ब्राह्मण का पद नहीं पा सकता है। व्यास जैसे मुनि को भी यह झेलना पड़ा। आजीवन ब्राह्मण की तरह रहने पर बाद में ब्राह्मण की मान्यता उनके कृतियों के आधार पर है। वर्तमान सामाजिक परिप्रेक्ष्य में यह सिद्ध है कि जाति मात्र से ब्राह्मणत्व की अपेक्षा करना अनुचित है। वर्ण संकरत्व एवं वृत्ति संकरण के कारण सामाजीकरण में शूद्रता सम्भव है। वंशानुक्रम से गुणों की अवहेलना तो हठवादिता होगी किन्तु इन गुणों का विकास तभी संभव है जब परिवार एक जीवन्त संस्था के रूप में रहे तथा समाज

के प्रभाव से अतिशायी प्रभाव परिवार का बना रहे। साथ ही परिवार में वृत्ति-सांकर्ष न हो। यह कम संभव लगता है। अतः सांकर्यदोष के कारण जन्मना ब्राह्मण मानना वर्तमान परिस्थिति में असंगत है। दोनों पक्षों में आत्यन्तिक विरोध के होने पर भी समन्वय का स्थल है। निर्णायक तत्व जन्म और कर्म कोई नहीं है केवल गुण ही निर्णय का आधार है। यह दोनों पक्षों में उभयनिष्ठ है। व्यक्तिगत जीवन में जो जिस सिद्धान्त को मानना चाहे उसे माने, इसकी पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। विवाह, भोजन, संस्कार, उपासना तथा वृत्ति के लिए सब स्वयं निर्णय लेने के लिए स्वतंत्र रहे। शास्त्रीय परम्परा एवं नवीन सिद्धान्तों के अनुसार उभयकोटि से लोगों की उत्पत्ति एवं उनकी शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था हो। विकसित होने पर यथासमय दोनों तरह के लोगों के गुणों का आकलन निष्पक्ष रूप से किया जाय। स्वाभाविक गुण ही मान्यता के लिए आधार है। कर्म तो गुणों की प्रसूति है। कर्म से निर्धारण सम्भव नहीं है क्योंकि पाखण्डवश, मनमानी होने के कारण या किसी विशेष परिस्थिति में कोई भी कर्म एक व्यक्ति कर सकता है। उस कर्म में वह कुशल हो सकता है या नहीं यह तो गुणों के परीक्षण से ही ज्ञात होगा। अतः केवल स्वभाव-जन्य गुणों को ही ब्राह्मणत्व या किसी भी पद के लिए आधार मानना निरापद है। गुण के अभाव में जाति या कर्म पर ध्यान न दिया जाय। परम्परागत धार्मिक कार्यों में जाति एवं गुण दोनों से सम्पन्न व्यक्ति की ही नियुक्ति उचित है। इसके साथ एक अदृष्ट की भावना जुड़ी हुई है अतः इस भावना का आदर उदार हृदय से होना चाहिए। ब्राह्मणत्व के लिए इच्छुक कोई भी व्यक्ति इतनी उदारता अवश्य रखेगा। विशेष में परम्परा और सार्वभौम में समानता अभीष्ट है। इस व्यवस्था से शास्त्रीय एवं व्यावहारिक पक्ष दोनों के पोषण के साथ ब्राह्मणत्व की प्रतिष्ठा के लिए अवसर उत्पन्न होगा।

इस लोक में या परलोक तक सफल होने के लिए व्यक्ति को सार्थक उपाय के अन्वेषण हेतु विधिवत प्रस्थान आवश्यक है। प्रस्थान करते ही 'सर्वागमानामाचारः प्रथमः परिकल्पते' की बात ब्राह्मण द्वारा वह सुनता है। ब्राह्मण के अभाव में प्रस्थान ही दुष्ट होगा। सदाचार का पालन और उसी का उपदेश देना ब्राह्मण का प्रथम लक्षण है। आचार्य शब्द की सार्थकता आचरण से ही है। दिनचर्या आहार-विहार, वेश-भूषा परस्पर व्यवहार आदि में पूर्ण शिक्षित होने पर ही आगे की कोई भी शिक्षा का महत्व होता है। इसकी शिक्षा ब्राह्मण देता है। ब्राह्मण के लिए विहित है- 'स्वाध्यायप्रवचनाम्याम् न प्रमदितव्यम्।' पढ़ने पढ़ाने के साथ ही ब्राह्मण के अन्य चार कार्य हैं जिन्हें मिलाकर षटकर्म कहा जाता है। यज्ञ करना, कराना तथा दान देना, लेना यह ब्राह्मण के कार्य हैं। यह शास्त्र प्रतिपादित कर्म है। यथा-संभव शास्त्र प्रतिपादित कर्म के करने पर ब्राह्मणत्व की रक्षा हो सकती है।

अर्थ के विषय में ब्राह्मण की अलग पहचान है। अर्थ संग्रह करना अनुचित नही है किन्तु उसका उपयोग यज्ञ-दान में कर देना ब्राह्मण का लक्षण है। संचय करके रखना ब्राह्मण का धर्म नहीं है। अर्थ संचय की विधि तथा व्यय की विधि दोनों पवित्र होने पर उत्तम ब्राह्मण माना जायेगा। यदि संचय की विधि निम्नकोटि की (भिक्षादि) भी है किन्तु व्यय का मार्ग ठीक है तब भी मध्यम कोटि का ब्राह्मण है। आय का श्रोत है किन्तु व्यय की निकृष्ट दिशा होने पर निकृष्ट ब्राह्मण होगा। किन्तु दोनों के गर्हित होने पर ब्राह्मण का कोई लक्षण नहीं है। मनुस्मृति में आदर्श ब्राह्मण के लिए धन सम्बन्धी व्यवस्था (कुण्डीधान्य, शिलोञ्छ वृत्तित्व आदि) इस समय आदर्श मात्र ही है। किन्तु आदर्श का स्मरण रखना कभी फलदायक होगा।

जीवन के मूल्यों, व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन के आदर्शों तथा परलोक की साधनाओं के आधार पर ब्राह्मण के अनेक लक्षण बताए गये हैं। उनकी गणना करना यहाँ न आवश्यक है न ही संभव । जीवन्मुक्त, सामाधिस्थ, स्थितिप्रज्ञ आदि शब्द ब्राह्मण के उच्चतम स्वरूप (ब्रह्मवित्तम) के परिचायक हैं। इसके पहले लोक कल्याण ही ब्राह्मण का स्वभाव है। ब्राह्मण क्षुद्र कार्य के लिए शरीर धारण नहीं करता है। तपस्या करना तथा अन्त में अनन्त सुख की प्राप्ति ही उसका ध्येय होता है। ब्राह्मण सबका मित्र होता है। वेद के ज्ञान को पात्रतानुसार सभी को देना उसका कार्य है। यज्ञों द्वारा समाज में व्यवस्था तथा सुख शांति का प्रवर्तन उसी से होता है। आन्विक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीति चारो विधाओ का संरक्षक ब्राह्मण ही है। इनकी आनुपूर्वी का बनाए रखने में दूसरा कोई समर्थ नहीं हो सकता है। यम, नियम, मैत्री, करूणा, मुदिता, त्याग परोपकार, ज्ञान-विज्ञान आदि की साधना ही उसका स्वभाव है। 'आदानं हि विसर्गाय' के आदर्श के अनुसार मुख की तरह अपने समस्त विद्या-वैभव को वह समाज को देता है। ब्राह्मण ही समाज का निष्प्रक्ष विचारक होता है। वह संगठन से नहीं बल्कि सत्य और न्याय से सबको आकर्षित करता है। तप ही उसकी शक्ति है। 'तपः श्रुतिश्च योनिश्च त्रयो ब्राह्मण लक्षणाः' इनमें से तप और वेद ज्ञान के बिना ब्राह्मण कागज के फूल की तरह विद्वानों के लिए अनादरणीय है। इन लक्षणों से युक्त ब्राह्मण सात्विकता का उपासक होता है। गीता में ब्राह्मण के लिए जो धर्म बताए गये हैं सभी सात्विकता के आधार पर हैं। ऊर्ध्वगमन ब्राम्हण का धर्म है। लक्षण अनेक हैं किन्तु उपर्युक्त लक्षणों से भी ब्राम्हण की पहचान हो सकती है। यही सब लक्षण परिभाषा के लिए सीमा चिन्ह (सिहद्दा) है।

ब्राह्मण को उसके स्वभाव से ही पहचाना जा सकता है। स्वभाव दुरतिक्रम होता है। सत्यकाम का ब्राह्मणत्व एवं कर्ण का क्षत्रित्व स्वभाव से ही जाना गया

था। दीर्घकाल तक सत्कारपूर्वक सेवन करने पर कोई भी गुण स्वभाव हो जाता है, दृढ़भूमि प्राप्त कर लेता है। फिर उसे समाप्त करना कठिन होता है। पाप, कर्म करने पर ब्राह्मणत्व से च्युति हो जाती है किन्तु प्रायश्चित से पुनः वही स्वभाव मिल जाता है। ब्राह्मण बनने में स्वभाव की साधना होती है। यह काम निरन्तर करते हुए दीर्घकाल में पूरा होता है। लक्षणों के द्वारा ब्राह्मण को दूसरा व्यक्ति पहचान सकता है किन्तु स्वयं के प्रति, मैं ब्राह्मण हूँ या नहीं, जानने के लिए आत्मानुसंधान करना पड़ता है। दूसरा व्यक्ति मुझे उत्कृष्ट ब्राह्मण माने यह चाहना ब्राह्मण के स्वभाव के विरूद्ध है। ब्राह्मण प्रतिष्ठा से डरता है। इस विषय में आत्मविश्वास ही पूर्णता है। विश्वामित्र व वशिष्ठ का उपाख्यान है कि विश्वामित्र चाहते थे कि वशिष्ठ उन्हें ब्राह्मण कहें। वशिष्ठ ने देखा कि विश्वामित्र आत्मविश्वास नहीं है तो वह ब्राह्मण कैसे हो सकता है। जिस दिन विश्वामित्र विनम्र हो गए और आत्मश्विास हो गया। वे ब्राह्मण बन गए। समाज की संरचना का केन्द्र बिन्दु ब्राह्मण है। उसका स्वभाव और कार्य सुरक्षित रहने पर समस्त समाज सुरक्षित रह सकता है। तब कार्य-विभाजन में कहीं त्रुटि आने का प्रश्न नहीं है। गीता की उक्ति 'कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव प्रभैवर्गुणैः' बहुत ही महत्वपूर्ण है। केवल ब्राह्मण नहीं बल्कि समस्त वर्णों के लिए स्वाभावजन्य गुणों को ही कार्य विभाजन का आधार माना गया है। जन्म और कर्म के द्वारा गुणों के आकलन में सहायता ली जा सकती है। किन्तु प्राधान्य स्वभाव और गुणों का ही रहेगा तभी समाज में स्वधर्म की प्रतिष्ठा हो सकती है। यही रामराज्य की नींव है।

आचार, स्वभाव और आदर्शों के आधार पर ब्राह्मणत्व का जो स्वरूप ऊपर प्रस्तुत किया गया है उसके आकलन करने पर स्पष्ट है कि समाज में ब्राह्मणों की अत्यन्त कमी है। ब्राह्मणत्व के अभाव में ब्राह्मणों की उपेक्षा तो संभव है किन्तु सामाजिक दुर्व्यवस्था को रोकना संभव नहीं है। अतः वृहत्तर स्वार्थ के लिए सभी को ब्राह्मणत्व का आदर करना पडेग़ा उपेक्षा ब्रह्म-बन्धुओं की ही हो सकती है। ब्राह्मणत्व तो आदरणीय ही है। इसके साथ ही स्वभाव के रहस्य को जानने के लिए मनुस्मृति का श्लोक विचारणीय हैः-

अनार्यमार्यकर्माणमार्यंचानार्य कर्मिणम्।
सम्प्रधार्याब्रवीद्धाता न समौ ना समाविति॥

अच्छा कार्य सदैव अच्छा है तथा बुरा कार्य बुरा ही रहेगा। किन्तु उनके कर्ता के विषय में परिस्थितियों को देखते हुए ही दण्ड या पुरस्कार का विधान होता है। राजा युधिष्ठिर के समय में ब्राह्मण ने स्वर्ण की चोरी की और स्वयं स्वीकार कर लिया। दण्ड के निर्णय के लिए युधिष्ठिर एवं कृष्ण ने राजा बलि के यहाँ जा कर प्रश्न किया। बलि ने निर्णय दिया कि ऐसी स्थिति में ब्राह्मण

का दोष नहीं है। कारण जानकर राजा ही उसका प्रायश्चित करे। ब्राह्मणत्व की रक्षा का भार राजा के उपर भी है। 'राजा हि युग उच्यते' 'राजा कालस्य कारणम्-इस तरह महाभारत में राजा को उत्तरदायी बताया है। लेकिन राजा के सहारे ब्राह्मण नहीं रहता है। उसमें राजा बनाने की शक्ति होती है। बेन के काल से चाणक्य तक तथा आगे भी ब्राह्मण की भूमिका से राजाओं का इतिहास भरा है। ब्राह्मण के लिए 'स्ववीर्याद्राज वीर्याच्च स्ववीर्यं बलवत्तरम्' ही मान्य है। इसलिए जहाँ कहीं ब्राह्मणत्व की चिनगारी है उसे प्रज्वलित करके लोकहित में लगाना समय की मांग है।

नैतिकता का अभाव, पारिवारिक एवं सामाजिक विघटन तथा आध्यात्मिक मूल्यों के ह्रास को देखते हुए विदेषी भी भारतीय संस्कृति से कुछ लेने को तत्पर है। चीन में 1919 के बाद तथा विशेष रूप से सांस्कृतिक क्रांति के उपरान्त नशाखोरी, अपराध वृत्ति, वेश्यावृत्ति, जुआखोरी जैसी प्रवृत्तियों की अधिकता को देखते हुए अब पुनः लोग कन्फ्यूशियस को याद कर रहे हैं। जो कन्फ्यूशियस ढाई हजार वर्षों तक संस्कृति का मार्ग दर्शक था उसे अल्पकाल में सामाजिक कोढ़ कह कर निन्दा करने वाले पाश्चाताप करने को उद्यत हो रहे हैं। लोक-परलोक के आदर्शों को तोड़कर मानवता जीवित नहीं रह सकती है। भारतवर्ष में अभी बहुत विलम्ब नहीं है। ब्राह्मणत्व क्या है? ब्राह्मण कौन है? समाज में उसकी क्या आवश्यकता है? आदि प्रश्नों पर विचार करना तथा ब्राह्मणत्व एवं भारतीय संस्कृति को संरक्षण देना समाज की सबसे बड़ी सेवा है। रामराज्य, समाजवाद, सामाजिक न्याय, दलितोद्धार आदि सभी कार्य केवल ब्राह्मणत्व की प्रतिष्ठा और तत्फलस्वरूप स्वधर्म के पालन से ही सम्पन्न हो जायेंगे। अधिक से अधिक लोगों में ब्राह्मणत्व का आधान हो, 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम' ही हमारा लक्ष्य है। विश्व समाज को ब्राह्मणत्व का पाठ पढ़ाना चाहिए; यही महत्वपूर्ण कार्य भारत कर सकता है।

पूँजी और विनयोग

मनुष्य जो कुछ कर रहा है, सबका उद्देश्य यही है कि वह सुखी रहे। समस्त कार्य-व्यापार सुखी रहने के लिए है तो इसी कार्य के द्वारा ही वह दुखी क्यों होता रहता है? यही सोचने, समझने और उसके अनुसार आचरण करने में सावधानी हेतु शास्त्र बने हैं। प्रजापति ने जितनी सृष्टि किया उसमें सबसे शक्तिशाली जीव मनुष्य की आकृति में है। इस लोक में मनुष्य की आकृति में ही अनेक प्रकार के लोग हैं किन्तु बुद्धि में भेद के आधार पर तीन प्रकार की सृष्टि स्वीकार किया जाता है। ये तीन कोटियाँ हैं–देवता, मनुष्य और दानव। इन्हीं तीनों को शिक्षा देने के लिए प्रजापति ने 'द' अक्षर का उपदेश दिया। 'द' से देवता के लिए दम, मनुष्य के लिए दान और दानव के लिए दया का अर्थ स्पष्ट हुआ। दान, दया, दम की त्रिवेणी में स्नान करके मनुष्य, देवता, दानव सभी पवित्र होते हैं। यह उपनिषद का आख्यान है।

देवत्व, मनुष्यत्व या दानवत्व ये सबके अन्तर्गत कुछ न कुछ रहते हैं। इसलिए दान, दया, दम की त्रिवेणी सामान्य तीर्थ है। जिसके अन्तर्गत एक गुण का अतिरेक होता है, वह विशेष रूप से उसी कोटि का माना जाता है।

देवता अपने पुण्य के फल का भोग करने में लीन रहते हुए, दूसरों को दुख नहीं देता है। वह जहाँ तक सम्भव होता है, दूसरों का उपकार ही करता है। भोग में संयम रखने पर उसका और उत्कर्ष हो सकता है।

मनुष्य अपने हित का साधन करता है किन्तु दूसरों के लिए अहित की बात व्यर्थ में नहीं सोचता है। दूसरों का हित करने के लिए दानशील होने पर मनुष्य देव कोटि में या और आगे जा सकता है। दानशील होने पर परद्रोह बन्द हो जाता है। दानव कोटि का व्यक्ति शक्ति सम्पन्न होने के कारण अपना हित और दूसरों का अहित करता रहता है। दयाभाव आ जाने पर दानव भी परोपकार कर सकता है। तब वही मनुष्य या देव कोटि में जा सकता है।

अन्तरिक्ष में स्थित देव, दानव ऋषि, गंधर्व, पितर आदि योनियाँ इस भूतल पर आकर भी अपने स्वभाव और कार्य से पहचाने जाते है। यहाँ सभी का रूप मनुष्य जैसा होता है किन्तु बौद्धिक, शारीरिक क्षमता तथा स्वभाव के कारण वे पहचाने जाते हैं।

हर तरह के मनुष्य अपनी शक्ति के अनुसार उद्योग करते हैं तथा उससे उत्पन्न फल का भोग करते हैं। शक्ति का रूप शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि अनेक प्रकार का

होता है। इन शक्तियों का उपयोग करके मनुष्य अच्छा या बुरा कोई कार्य करता है। कार्य और मानसिकता के अनुसार शक्ति का फल प्राप्त होता है।

कायिक, वाचिक और मानसिक तीन तरह की तपस्या होती है जिनसे शक्ति प्राप्त होती है। तपस्या करने, शक्ति प्राप्त करने एवं शक्ति का प्रयोग करने के विषय में सावधान रहना पड़ेगा। ऐसा करने पर मनुष्य अपने कार्यों से दुखी नहीं होगा।

कर्म के आरंभ करने के पहले आचरण की शुद्धि पर ध्यान देना चाहिए। अच्छे संस्कारों को जाग्रत करना तथा बुरे संस्कारों को दबाना आवश्यक है। इसीलिए आचार्य पहले शौचाचार एवं दिनचर्या की शिक्षा दिया करते थे। अब यह कार्य माता-पिता का है। अपनी योग्यता तथा कुल परम्परा के अनुसार विषय का चयन करके उसमें परिश्रम करना बालक की तपस्या है। यह ही इसका विद्यालय है।

ईश्वर, परलोक तथा समाज का भय होने पर ही सदाचार का पालन होता है। अतः इन अदृश्य भय के कारणों को बाल्यावस्था में ही समझा देना चाहिए। माता-पिता ही यह करेंगे। लोक-परलोक और ईश्वर से भय को जानकर सत्य एवं न्याय के पक्ष में ही बोलना तथा तदनुसार कार्य करना चाहिए। यह जीवन की तपस्या है। सत्य और न्याय, तपस्या के उच्चतम आदर्श हैं। इनसे बड़ी शक्ति मिलती है तथा उस शक्ति का सदुपयोग भी होता है।

असत्य और पाखण्ड से दूर रहने पर जीवन में निश्चिंतता तथा निर्भयता रहती है। अतः जीवन के अन्तिम दिनों को निर्विघ्न और शान्त बनाना चाहिए। तपस्या की शक्ति का दुरुपयोग बहुत ही दुखदायी होता है। तपस्या राम और रावण की बहुत महान थी। राम ने सदुपयोग किया अतः मर्यादा पुरुषोत्तम हो गये। रावण ने दुरुपयोग किया अतः लोक निन्दित हो गया।

तपस्या की विधि और उससे प्राप्त शक्तियों के प्रयोग के विषय में बहुत सावधानी परमावश्यक है। सबसे बड़ी सावधानी का विषय यही है। आजकल की सारी समस्या इसी से है। इसके लिए मार्गदर्शन हेतु, ईश्वर से प्रार्थना तथा बुद्धिमान, आचारवान लोगों से सम्मति लेना चाहिए। तपस्या की विधि निर्धारित करने के लिए पात्रता की परीक्षा होनी चाहिए। योग्य पात्र को ही शक्ति का साधक बताया जाय। उसी के समान शक्ति की साधना सुपात्र में सुरक्षित होती है।

आज जो सशक्त है उनमें सत्य का अभाव है। जो अशक्त है वे न्याय की आकांक्षा करते हैं। क्रियात्मक सत्य कहीं नहीं है। आचार-व्यवहार में सत्य का प्रयोग होना आवश्यक है। न्याय पाने के लिए सशक्त होना सत्य की उपासना है। तीर्थ, स्नान-दान, यआदि से जो फल होता है वह सत्य के अभाव

में तामसी शक्ति का रूप लेता है। सात्विक शक्ति के लिए सत्य, सरलता, न्याय, संतोष, दान आदि को धर्म के रूप में जानना आवश्यक है। इन सामान्य धर्मों के पालन करते रहने पर ही विशेष धर्म लाभकर होता है। अन्यथा सारा कर्मकाण्ड तीर्थव्रत आदि पाखण्ड में परिणत होकर कष्ट देता है।

सारांशतः योग्यता एवं कुल परम्परा के अनुसार स्वधर्म का निर्धारण और सत्यनिष्ठा से उसके पालन करना श्रेय का मार्ग है। बुद्धिमान एवं दूरदर्शी लोग इसे समझेंगे। हतभाग्य और तात्कालिक लाभ के लिए आतुर लोगों के लिए उचित समय पर यह ज्ञान दिया जाय तो उनका भी उद्धार सम्भव है।

वेद का पाठ देवता, मनुष्य एवं दानव सभी करते हैं। उसके पाठ से शक्ति प्राप्त होती है। श्रद्धा में भेद होने के कारण वेदपाठी होने पर भी एक देवर्षि होता है, दूसरा ब्राह्मण कहा जाता है। तीसरा ब्रह्मराक्षस हो जाता है। जीवन में तपस्या से अर्जित शक्ति ही पूंजी है। उसका उचित विनियोग ही तपस्या की सार्थकता है।

यथा कर्म यथा श्रुतम् – श्रुत और कर्म के अनुसार जीव को लोक-परलोक में आवागमन होता है। अपने निश्चय के अनुसार ही कार्य करते हुए, उसी का फल भोगना नियति बन जाती है। अतः पहले सात्विक निश्चय करने के बाद थोड़ा भी सत्कार्य करना श्रेयस्कर होगा। स्वल्पमस्य धमस्त्रय मायते महतो भयात् – गीता की भी यह शिक्षा है।

कलम की ईमानदारी

कर्त्ता और क्रिया, कार्य और कारण देश और काल इन सबके वास्तविक स्वरूप को प्रस्तुत करने पर लेखक विश्वसनीय होता है। काल्पनिक स्वरूप के प्रस्तुतीकरण पर विश्वासपूर्वक ज्ञान नहीं होता है बल्कि आश्चर्य और अविश्वास उत्पन्न होते हैं। व्यक्ति अपने स्वभाव और ख्याति के अनुसार ही कार्य करता है। राम किसी की स्त्री नहीं छीन सकते थे तथा रावण सीता को माता नहीं कह सकता था। इन दोनों चरित्रों के कार्य उलटा करके लिखने पर लेखक अविसनीय हो जायेगा। इसी तरह जहाँ कार्य और कारण का सम्बन्ध ठीक से स्थापित नहीं होता है वहाँ आश्चर्य होता है और त्रुटि की संभावना होती है। देश और काल के सापेक्ष्य ही घटना सम्भव होती है।

अपने इष्ट के प्रचार एवं सिद्धान्त की श्रेष्ठता दिखाने के लिए प्राचीन काल से ही कलम की बेईमानी होती रही है। इस बेईमानी से सामान्य पाठक की बहुत हानि होती है क्योंकि वह वर्णन को यथावत् सही मान लेता है तथा उसी की दुहाई देकर आगे की क्रियायें भी करता है। प्रबुद्ध लोग इन वचनों को समझ जाते हैं किन्तु कभी-कभी श्रद्धातिरेक के कारण विद्वान भी धोखा खाते हैं।

रामायण, महाभारत, पुराण, लोक कथाए, साम्प्रदायिक धर्मशास्त्रों में भी प्रक्षेप के द्वारा अनादरणीय कथा, वार्ता, सिद्धान्त या घटना को लिखा गया है। इन प्रक्षिप्त अंशो को ऐसा मिला दिया गया है कि नीर-क्षीर-विवेक करना कठिन है। आठ हजार श्लोकों में वेदव्यास द्वारा लिखित जय काव्य आज सवालाख से अधिक श्लोकों का महाभारत है जो पूर्णरूपेण स्वीकार कर लिया गया है। वाल्मीकि कृत रामायण में उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त मानने में बड़ा विवाद है। स्मृतियों में कुछ अंश तथा नाटकों में भी कहीं-कहीं प्रक्षेप करके भ्रम पैदा किया गया है किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन करने वाले, कार्य-कारण विज्ञान के ज्ञाता के लिए यह विषय स्पष्ट है। उनके सहयोग से सत्य का ज्ञान करना लाभदायक है।

शास्त्रमत और लोकमत दोनों समाज में अनुकरणीय होते हैं। लोकमत शास्त्रों की उपेक्षा नहीं करता है तो वह सत्य है किन्तु शास्त्रों को गलत बताने पर लोकमत पर अंकुश लगाना पड़ता है। सतीप्रथा जैसी लोकमान्यताओं का विरोध करने के लिए शास्त्र और दण्ड दोनों का प्रयोग करना ही पड़ेगा।

वैदिक साहित्य गुरु-शिष्य परम्परा से अलिखित ही चलता रहा। अतः लेखनी द्वारा प्रदूषण नहीं पैदा हुआ।वे अब भी यथावत हैं क्योंकि उनके पाठ करने वालों की परम्परा बनी है। बाद के साहित्य में प्रक्षेप हुए हैं। बौद्धों की जातक

कथाएँ तथा वैष्णवों की वार्ता एवं कृष्ण काव्यों में भावात्मक कल्पना के कारण प्राचीन स्थापित वैदिक परम्परा को बहुत विकृति मिली है। मध्यकाल तक पुराणों की रचना होती रही है। वेदव्यास ने संक्षेप में पुराणों का संग्रह किया होगा। इनकी संख्या अठारह ही बतायी जाती है। इनके आकार छोटे और विषय सारगर्भित थे। अब पुराणों और उप पुराणों की संख्या बहुत अधिक हो गयी है। यह भी नहीं पता चलता कि व्यास के अठारह पुराण शुद्ध रूप में क्या और कौन हैं। इसका कारण लेखनी की बेईमानी है। प्रक्षेप करने वाले विद्वान कोटि के लोग रहे हैं क्योंकि बहुत से प्रक्षिप्त अंशों में भी बड़े अच्छे सिद्धान्तों को लिखा गया है। विख्यात भागवत महापुराण व्यास कृत अठारह पुराणों के अतिरिक्त (बाहर) है। इन प्रक्षेपकों का त्याग भी सराहनीय है कि वे रामायण, महाभारत, पुराण, स्मृति, कथा साहित्य में अथाह सामग्री प्रविष्ट करके भी अपना नाम कहीं-नहीं दिये हैं। वाल्मीकि, व्यास, नारद, याज्ञवल्क्य, शंकराचार्य जैसे महापुरुषों के नाम से ही अपनी बातों को भी लिख कर प्रचारित कर दिया है। महापुरुषों के नाम पर अपने सम्प्रदायों का पोषण करना ही उनका उद्देश्य था। यह सब उसी तरह हुआ है जैसे असली के बहाने नकली सिक्का चलता है।

आधुनिक युग में भी अपने उद्देश्य के अनुसार इतिहास लिखना, शब्द कोश बनाना, वेद एवं शास्त्रों का अर्थ करना खूब हो रहा है। इस समय भाव और तात्पर्य समझने के बजाय शब्द के आधार पर बन्ध्यातन्त्र पैदा करना प्रचलित है। लेकिन इसका कारण सम्प्रदाय और जाति की लड़ाई है अतः सामाजिक संतुलन से ही यह ठीक होगा। इसका प्रभाव सार्वजनीन नहीं है क्योंकि इन रचनाओं को प्रकाशित करने वालों का उद्देश्य समाज में प्रकाशित होता रहता है। हाँ इससे शास्त्रों एवं इतिहास आदि के विषय में परस्पर विरोधी धाराएँ प्रवाहित हो रही हैं जो शुभ नहीं है। इतिहास जानना है तो कठिन है वर्तमान (इतिहास्ति) जानने में भी प्रचार माध्यमों से भय हो रहा है। लेखनी का काम आजकल प्रचार के विभिन्न माध्यम ने ले लिया है। अस्तु उपर्युक्त परिस्थितयों का प्रभाव अल्पज्ञ लोगों पर ही अधिक पड़ता है। प्रबुद्ध लोगों की संगति से तथा उनको सम्मान देने से समाज में भ्रम का निवारण होता रहेगा।

रामायण, महाभारत जैसे आकर ग्रन्थों के आधार पर कुछ सिद्धान्त तथा कुछ पात्रों के चरित्र का हनन या उत्कर्ष दिखाने के कुछ उदाहरण प्रस्तुत करना यथास्थान है। लोकमान्यताओं के दृढ़ होने के कारण इन्हें स्वीकार करनेमें बहुत लोग परहेज करेगें तथापि लेखनी की बेईमानी का उदाहरण प्रस्तुत कर देना यथास्थान सही होगा।

रामायण में शम्बूक तपस्वी की हत्या करना राम के आचरण के अनुरूप नहीं है।रामराज्य में सब सधर्म का पालन स्वतः करते थे। दण्ड की आवश्यकता होने पर पूरा जाग्रत राजतंत्र था। स्वयं जाकर तपस्वी वेश के शूद्र को अकस्मात

मार डालना अमानवीय है। शम्बूक बुरे उद्देश्य से तपस्या कर रहा था, यह प्रमाणित नहीं है। अतः तपस्या करने मात्र से उसकी हत्या कर देना अस्वाभाविक वर्णन है। इससे रामराज्य की महिमा बढ़ाने के बजाय घटाई गई है जो प्रक्षिप्त कल्पित कथा के आधार पर है। उत्तरकाण्ड ही प्रक्षिप्र है।

महाभारत पढ़ने पर यह नहीं सिद्ध होता है कि द्रौपदी का चीर-हरण करने के लिए दुशासन को नियुक्त किया गया तथा सब के सामने यह प्रयास हुआ था। मात्र इतना ही सत्य था कि दुशासन द्रौपदी को पकड़कर सभा में लाया। यह घटना स्वयं में इसके अपमान के लिए बहुत गंभीर थी। सभास्थल पर द्रौपदी के आने पर ही राजा धृतराष्ट्र की यज्ञशाला से शृगाल बोलने की आवाज आने लगी। इस अशुभ को सुनकर धृतराष्ट्र भयभीत हो गये तथा द्रौपदी को सम्मानपूर्वक वरदान माँगने को कहा। द्रौपदी वर मांग कर अपने पतियों को दासता से मुक्त कराके वहाँ से सबके साथ चली गयी थी। इस तरह की घटना को चीरहरण का स्वरूप देकर भक्तों ने अपना काम तो सिद्ध किया। कृष्ण की महिमा और द्रौपदी की भक्ति को उजागर किया। किन्तु भीष्म, द्रोण, विदुर, कर्ण जैसे धर्मज्ञों का घोर अनादर कर डाला। स्वयं धृतराष्ट्र तथा उनकी सभा को असंस्कारित सिद्ध कर दिया। देश-काल एवं घटना के तथ्यों के आधार पर यह असंगत है। यह प्रक्षिप्त घटना जन-मानस में दृढ़ हो गयी है। बड़े-बड़े भजन और काव्य इसके आधार पर बन गये हैं। लोक में कितना गलत प्रचार हो सकता है इसका अन्दाजा इसी बात से लगता है। भक्ति के पोषण के लिए इस तरह की बेईमानी बहुत जगह मिलेगी।

अश्वत्थामा द्वारा पांडव/पांचाल सेना का विनाश एवं द्रौपदी के पाँच पुत्रों का वध करने की घटना पर आत्महत्या करने के लिए उद्यत द्रौपदी को इससे विरत करने के लिए पांडवों एवं कृष्ण ने अश्वत्थामा को मार डालने का संकल्प किया। अश्वत्थामा को मारना उन लोगों के लिए संभव था नहीं। उसके एक ही बाण पर सभी पराजित हो गये। बाद में अश्वत्थामा वेदव्यास के यहाँ चला गया। वहाँ पाण्डवों सहित कृष्ण पहुच कर द्रौपदी की जान बचाने का उपाय सोचा। वेदव्यास के कहने पर अश्वत्थामा ने अपनी तेजस्वी मणि, जिसे वह धारण करता था निकाल कर कृष्ण को दे दिया।मणि को दिखाकर यह झूठी बात बना दिया कि अश्वत्थामा को मार कर मणि ली गयी है। द्रौपदी इस पर सन्तुष्ट हो जाती है। इस घटना के दूसरे ढंग से बना कर भी प्रस्तुत किया जाता है जिसमें अश्वत्थामा को बांधकर द्रौपदी के सामने लाना तथा द्रौपदी द्वारा दयावश उसे छोड़ देना दिखाया गया है। द्रौपदी जैसी थी, पुत्रशोक से विह्वल होने पर क्षमा नहीं कर सकती। अश्वत्थामा की मणि साँप की तरह मस्तक में होना अस्वाभाविक है, अश्वत्थामा को पराजित करके पकड़ना संभव नहीं था। वह मर सकता था किन्तु शत्रु के वश में नहीं आ सकता था। अतः अश्वत्थामा

के चरित्र को घटाने तथा द्रौपदी को महिमामण्डित करने के लिए यह कथा बाद में रची गयी सिद्ध होती है। द्रौपदी के कारण महाभारत हुआ और उसी को महिमामण्डित करना उलटा संदेश देता है।

महाभारत में द्रोण शिष्य के रूप में अर्जुन एवं एकलव्य दोनों थे। दोनों में घोर संग्राम हुआ है और अन्त में एकलव्य मारा जाता है। इस युद्ध के वर्णन में कहीं नहीं लिखा है कि दायां अंगूठा होता तो एकलव्य अजेय रहता। अंगूठा कटने का कोई प्रसंग कहीं नहीं मिलता है। द्रोण को पक्षपाती सिद्ध करके गुरु-परम्परा को दूषित करने वाली यह कथा एक जगह प्रक्षिप्त हुई है तथा अन्य किसी प्रसंग में इसका उल्लेख नहीं मिलता है। द्रोणाचार्य एवं अश्वत्थामा दोनों कृष्ण को बहुत आदर नहीं देते थे। भीष्म पितामह कृष्ण को बहुत श्रद्धा से देखते थे। भीष्म के चरित्र को ऊँचा करने के लिए पूरा शान्तिपर्व जोड़ दिया गया है। इस पर्व में ज्ञान, नीति, साधना आदि की बड़ी उच्च शिक्षाएँ मिलती हैं जिससे भीष्म को योद्धा तथा सत्यप्रतिज्ञ के अतिरिक्त ज्ञानी भी सिद्ध किया गया है। इनको महिमा मण्डित करने से कोई हानि नहीं है किन्तु द्रोण का भी आदर्श पात्र के रूप में बनाए रखना उचित था। व्यास जी ने द्रोणाचार्य को अजेय योद्धा तथा ब्राह्मणोचित गुणों से युक्त कुलधर्मी के रूप में दिखाया गया है। यह मूल महाभारत में स्पष्ट है।

परिस्थितिजन्य संयोग होने के कारण, भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृपाचार्य, विदुर जैसे धर्मऔर सत्य को भलीभाँति जानने वाले महापुरुष भी दुर्योधन के पक्ष में लड़े हैं। विषम समस्या होने पर भी धर्म और सत्य को न छोड़ने वाले ये सभी लोग महान एवं अनुकरणीय है। जो कुछ बातें इन लोगों के विरुद्ध जोड़ दी गयी हैं उनको हटाने पर सन्देश मिलता है कि सत्य एवं प्रत्युपकार जैसे मूल्यों की रक्षा में प्राणत्याग भी करना श्रेयष्कर है। 'प्राण जाय पर वचन न जाई। यह महापुरुष का आदर्श है।

सरस्वती देवी वाणी और कलम दो स्थानों पर प्रत्यक्ष होती हैं। वाणी से सत्य बोलना तथा कलम से सत्य लिखना यह सरस्वती की प्रशंसनीय आराधना है। जैसे असत्य बोलने पर पाप होता है वैसे ही असत्य लिखने पर भी पाप होता है। कवि और लेखक को इस पाप को भी देखना चाहिए। पूर्वापर का ज्ञान, तर्क, व्यवहार तथा मनोविज्ञान के द्वारा पुरानी कथाओं तथा वर्तमान समय में हो रही घटनाओं के विषय में सम्यक् निष्कर्ष निकालना समाज की बहुमूल्य सेवा है। पूर्वाग्रह तथा सम्प्रदाय, दल देश या जातिगत प्रभाव को छोड़कर मानव मात्र को समान दृष्टि से देखते हुए निर्णय लेने तथा वाणी और कलम से उन्हें प्रचारित करने से सरस्वती का वरदान मिलता है।

महापुरुषों की जीवनी

महापुरुष की जीवनी के ज्ञान से उसके प्रति श्रद्धा और विश्वसनीयता में दृढ़ता आती है। जीवनी के द्वारा महापुरुषत्व की परीक्षा होती है। महापुरुष लोकनायक होता है।

यद्य यद्यदाचति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।। –गीता

श्रेष्ठ आदमी से प्रेरणा व मार्गदर्शन अन्य लोग लेते हैं। वह अपने आचरण द्वारा लोक मर्यादा, आदर्श और नीति को प्रमाणित करता है।

किसी व्यक्ति द्वारा जीवन मे सफलता के प्रदर्शन से सामान्य जनता को प्रभावित करना सहज उपलब्धि है। उस व्यक्ति का आचरण सदाचार की मर्यादा के अनुसार हो सकता है या कल्पित मिथ्याचार पर भी अवलम्बित हो सकता है। तात्कालिक सुख व करिश्मा से प्रलोभित करने वाले पाखण्डी शीघ्र ही जनता को आकर्षित करते हैं और अनुयायी बना लेते हैं। ऐसे धूर्त महापुरुषों से सावधानी रखनी पड़ेगी। इसके अलावा कुछ कुन्द बुद्धि के लोगों को भी महापुरुष के रूप में प्रचारित करने का उपक्रम भी देखा जाता है। कुछ लोग बड़े पैदा होते हैं, कुछ अध्यवसाय से बड़े बनते हैं तथा कुछ लोगों पर बड़प्पन लाद दिया जाता है। इस तरह महापुरुष कहे जाने वाले अनेक तरह के लोग मिलते हैं। अतः परम्परा और शास्त्रादेश से प्राप्त आदर्श, धर्म व नीति के अनुसार परीक्षित व्यक्ति को ही महापुरुष की कोटि में मानना चाहिए। ''तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ' जैसे वाक्यों द्वारा गीता में यह व्यवस्था दी गयी है। महापुरुषों की जीवनी प्रत्यक्षशास्त्र है। इस शास्त्र को उपयोगी बनाने के लिए महापुरुष के लक्षण, गुण आदि के विषय में विवेचन करना यथास्थान होगा।

महापुरुष का प्रथम सर्वमान्य लक्षण उसकी लोक संग्रह (समाज का उपकार) की भावना है। उसके जीवन का लक्ष्य स्वार्थ न होकर परार्थ होता है। स्वार्थ-सिद्धि का उपयोग भी वह परार्थ ही करता है।

दूसरा लक्षण उसकी जीवनचर्या से ग्रहण होता है। वह आजीवन शुद्ध आचरण करता है। भटकते और सुधरते रहनेवाला पुरुष विश्वसनीय नहीं होता है। वह अच्छा मनुष्य बन सकता है किन्तु अनुकरणीय होने में सन्देह बना रहता है।

महापुरुष समाज का सर्वांगीण मार्ग-दर्शक होता है। जीवन की वास्तविकता तथा समाज की आकांक्षा को समझना तथा बताना उसके चरित्र से ही पूरा हो जाता है। मानव मूल्यों में से एक-दो नहीं बल्कि समस्त का समन्वय करके, उच्च मूल्यों को स्थापित करने में ही उसकी सफलता होती है। वह परिवार, जाति, कुल, देश, सम्प्रदाय और समस्त समाज को अपना कार्यक्षेत्र बना सकता है। क्षेत्र की महत्ता के अनुसार उसकी भी महत्ता मानी जाती है। पूरी मानवता की सेवा और उसका उद्धार करने वाला दुर्लभ महापुरुष महत्तम कोटि का होता है।

साधक और सिद्ध दो तरह के महापुरुष होते हैं। साधक अपनी पूर्णता के लिए प्रयत्नशील होता है। उससे कुछ पाने की इच्छा करने वाले उसका तथा अपना दोनों का अहित करते हैं। जब मानसिक तथा बौद्धिक शक्तियों में सम्पन्न व्यक्ति अपने लिए कुछ नहीं करता है, सब कुछ आदर्श स्थापित करने मात्र के लिए करने लगता है, उस समय वह सिद्ध कोटि का होता है। वही वास्तविक महापुरुष है।

मानवता की रक्षा के लिए स्थायी सन्देश देना महापुरुष का लक्षण है। प्रदर्शन के लिए धर्मस्थान एवं संगठन बनाकर भोग सामग्री एवं धन-संग्रह करना विपरीत लक्षण है। ऐसे लोगों को महापुरुष मानने का भ्रम नहीं होना चाहिए।

मनुष्य भौतिक साधनों के अभाव में भी सुखी रह सकता है। अतः भौतिक साधन-मात्र दिलाने वाले वैज्ञानिक अन्वेषक आदि सम्माननीय तथा अंशतः अनुकरणीय होते हैं। महापुरुष के प्रमुख लक्षणों के होने पर ही उन्हें तथैव माना जा सकता है। एक बड़ा काम करना ही महापुरुषत्व का अन्तिम लक्षण नहीं है।

मनोरंजन, कला, शारीरिक बल, खेलकूद आदि के क्षेत्र में लोग प्रतिभावान माने जा सकते हैं। उन्हें उनके क्षेत्र का ही महापुरुष कहा जा सकता है। वास्तविक परिभाषा के अन्तर्गत वे महापुरुष नहीं हैं उनके द्वारा समाज को कोई आदर्श नहीं प्रस्तुत होता है।

महापुरुष के गुणों में से सब जगह एक गुण अनिवार्यतः मिलता है। वह है–लक्ष्य के प्रति निष्ठा। इस निष्ठा को क्षमता का संयोग मिलने पर सफलता मिलती है। उस व्यक्ति को विचलित कोई नहीं कर सकता है। इस निष्ठा और क्षमता का आधार बुद्धि तत्व है, कभी-कभी एक गुण में विशिष्ट व्यक्ति को सर्वांग महापुरुष मानने की गलती होती है। किसी व्यक्ति में स्मरणशक्ति अधिक होने पर यह आवश्यक नहीं कि वह बुद्धिमान भी हो। स्मरण तो कम्प्यूटर भी अधिक रखता है। गधा भी चन्दन का भार ढोता है। बुद्धि तत्व के प्रबल होने पर ही रहस्य के ज्ञानद्वाराआदर्श की स्थापना होती है। यही महापुरुषत्व है।

महापुरुष के व्यक्तित्व में आकर्षण होता है। बाह्य प्रबन्ध से भी आकर्षण पैदा किया जाता है किन्तु महापुरुष का आचरण परीक्षा करने पर भी तथैव मिलता है। उसका आचरण स्पष्ट होता है। दुराव व रहस्य का सहारा लेकर प्रतिष्ठा या आकर्षण पैदा करने पर बाद में निन्दा का पात्र होना पड़ता है। मनुष्य को ही भगवान बनाना तथा मन्दिर बना कर उनकी पूजा करने की परम्परा समाज के लिए हानिकर है। अनुकरणीय महापुरुष ही मानवता का उन्नायक होता है।

ईश्वर ने देश काल के अनुसार धर्म का सन्देश देने की व्यवस्था सर्वत्र किया है। एक देश के लिए उपयोगी सम्प्रदाय, दूसरे देश में आदरणीय नहीं हो सकता है। किन्तु धर्म के कुछ ऐसे अंश हैं जो देश-काल की सीमा के बाहर हैं। ऐसे सार्वभौम धर्म को देने वाले ऋषि सर्वोपरि महापुरुष हैं। ज्ञान-विज्ञान जीवन का रहस्य, सत्य, न्याय शान्ति व्यवस्था, मानव धर्म की प्रतिष्ठा जैसे मूल्यों को स्थापित करनेवाले दुर्लभ महापुरुष हैं।

समाज से सम्मान, पदक, धन, पद, सत्ता आदि अस्थायी वैभव को लेकर बदले में कुछ स्थायी वैभव देने में अक्षम व्यक्ति महापुरुष नहीं है, चाहे वह किसी स्तर तक ख्याति भले पा जाय। आजकल ख्याति की प्राप्ति विशिष्टता नहीं जुगाड़ व प्रचार पर निर्भर है। अतः ख्याति की व्यवस्था करने में सफल लोगों के महापुरुष नहीं बल्कि समाज का ऋणी वंचक तथा शोषक समझना चाहिए। ऐसे लोगों की जीवनी जानने और पढ़ने से गलत शिक्षा मिलेगी। उपायों द्वारा परीक्षण करके ही जीवनी को आदर दिया जाय।

जीवन काल में यशस्वी रहना तथा मरणोपरान्त कीर्ति बनी रहना, यह महापुरुष का लक्षण पुराने समय से माना जाता है। आजकल इन लक्षणों को भी उत्पन्न करने की कलाएँ प्रचलित हैं। सन्त, अवतार, राष्ट्रपिता, युगपुरुष आदि सम्मानित पदों पर प्रतिष्ठित करके महापुरुष बनाए जा रहे हैं। इन तथाकथित महापुरुषों का वास्तविक स्वरूप इतिहास से छन कर कईशताब्दी बाद प्रकट होगा। नवीन महापुरुषों से सावधान रहना पड़ेगा। जिस व्यक्ति का व्यक्तिगत एवं सामाजिक आचरण लगातार आदर्शकोटि का रहा है तथा प्रतिष्ठा किसी जुगाड़ या किसी परिस्थित विशेष के कारण नहीं बलिक योग्यता के कारण प्राप्त हुई है, उसे महापुरुष की परिभाषा में स्वीकार करना लाभदायक है।

पुराने समय के महापुरुषों की जीवनी उनकी कलम से लिखी हुई नहीं मिलती है। कवि ने अपना अल्प परिचय दिया हो, ऐसा यदा कदा उपलब्ध है। वर्तमान समय में अपनी जीवनी लिखने का शौक हो गया है। अपने चरित्र को, कुछ काला-सफेद करके, प्रकाशित कर देना आसान है अभिनन्दन ग्रन्थ भी लिखवाया जाता है। पुरानी परम्परा महापुरुषों की जीवनी लिखने की नहीं थी।

उनके जीवन के विशिष्ट अंशों को प्रकाशित किया जाता था। उनके आचरण और उनके उपलब्धि में सामंजस्य करना लेखक का धर्म था। ऐसी जीवनियाँ आवश्यक व पठनीय हैं ।

रामायण और महाभारत में उपलब्ध ऐतिहासिक जीवनियाँ प्रेरणादायक हैं। पुराणों में उपलब्ध कथाएँ विशेष प्रकार की शिक्षा के निमित्त है। इन सबका महत्व है किन्तु यथावत इन्हें सत्य घटना मान लेने पर विवाद हो सकता है।

महापुरुषों के शब्दों एवं सिद्धान्तों का ही अनुकरण किया जाता है। जन्मजात प्रतिभा के कारण आश्चर्यजनक कार्यों का अनुकरण संभव नहीं है। दैवी सम्पदा साधना से भी प्राप्त होती है। वह साधना करना संभव है। इसके लिए सिद्ध महापुरुष की अपेक्षा होगी। सदाचार से यह सब सुलभ है।

पीछे दिये गये विवेचन को स्पष्ट करने के लिए विश्व के कुछ महापुरुषों की चर्चा, उदाहरण स्वरूप, प्रस्तुत किया जा रहा है। भारत का इतिहास बहुत पुराना है। यहाँ उत्पन्न तथा विश्व में अन्य स्थानों पर पैदा हुए महापुरुषों के विषय में तुलनात्मक चिन्तन करते समय ऐसा लगता है कि यहाँ जिस महापुरुष को सामान्य कोटि का समझा जाता है, वह भी बाहर के विशिष्ट महापुरुष की तरह या उससे अधिक बड़ा है। यहाँ ऋषियों, साधकों, स्मृतिकारों, सुशासकों की संख्या, महापुरुष के रूप में मान्य, बहुत अधिक है। इसीलिए यहाँ सम्प्रदाय, दर्शन एवं साधना पद्धतियों की विविधता है। विश्व के सारे सम्प्रदायों का स्वरूप भारत में मिलेगा।

महापुरुषों की गणना करते समय मर्यादापुरुषोत्तम राम का नाम, रामराज्य (सुराज्य) की स्थापना करने वाले राजा के रूप में सर्वप्रथम याद आता है। कृष्ण की नीतिज्ञ एवं योगिराज के रूप में ख्याति है। यह दोनों इतने प्रभावशाली थे कि उपास्य के रूप में लोक ने इन्हें स्वीकार कर लिया है।

वशिष्ठ, विश्वामित्र, अगस्त्य आदि तपस्वी, तेजस्वी, समाज का मार्गदर्शन करने वाले के रूप में विख्यात हैं। यह सब उपास्यों के उपास्य हैं।

शिवि, दधिचि, हरिश्चन्द्र, बलि, कर्ण आदि दानबीर के रूप में जाने जाते हैं। वाल्मीकि, व्यास, तुलसी, कबीर, जैसे कवियों की परम्परा में कालजयी कृतियाँ उपलब्ध हैं। चरक, सुश्रुत, पतंजलि जैसे शास्त्रकारों और अन्वेषकों को आयुर्विज्ञान तथा उसकी साधना के विषय में अमरत्व प्राप्त है। शुक्र, चाणक्य, कामन्दक जैसे विचारक और समाज सेवी राजनीतिज्ञ के रूप में महापुरुष हैं।

वैदिक ऋषिगण, मन्वादि स्मृतिकार, जरथुस्त्र, लावोत्से, कन्फ्यूसियस, मूसा, ईसा, बुद्ध, मुहम्मद साहब आदि धर्म प्रवर्तक और संरक्षक के रूप में महापुरुष हैं। इस परम्परा में आचार्य शंकर के जीवनी अदभुत है। उन्होंनेबत्तीस

वर्ष की उम्र के अन्दर ऐसा दर्शन और प्रतिष्ठित किया जो डेढ़ हजार वर्ष से भारतीय दर्शन का मेरुदण्ड तथा धर्म का स्रोत है।

याज्ञवल्क्य, सुकरात, प्लेटो, अरस्त् जैसे तत्व चिन्तक ज्ञान-प्रसार के महानायक रहे हैं। आधुनिक युग में गुरुनानक, रामकृष्ण परमहंस, महर्षिरमण, स्वामी रामतीर्थ जैसे साधक, मदनमोहन मालवीय, बालगंगाधर तिलक जैसे कर्मयोगी और युगद्रष्टा, महात्मा गाँधी जैसे देशकाल के मर्मज्ञ और संगठन में कुशल जननायक के रूप में समाज को स्थायी संदेश दिया है।

यहाँ कुछ महापुरुषों का नाम लिखकर अपनी लेखनी को पवित्र किया गया है। यह लम्बी परम्परा है। इस विख्यात परम्परा के महापुरुषों की जीवनी पढ़ने से उनका सत्संग मिलता है। बाल्यावस्था से ही इनकी जीवनी पढ़ने की आदत होने पर बालक एक महापुरुष बन सकता है। परिस्थिति में यह जीवनियाँ मार्ग-निर्धारण करने में सबको सहायक होती हैं। इनका संदर्भ देकर अपनी बात को प्रमाणित सिद्ध किया जाता है।

गुरु तत्व

गुरु की महिमा के विषय में उपलब्ध उक्तियों एवं मान्यताओं का संकलन किया जाय तो ग्रन्थ तैयार हो जायेंगे। संक्षेप के लिए यही स्वीकार्य है कि ब्रह्म निरूपण की तरह गुरुतत्व भी वाणी के परे है। वेद व्यास, शंकराचार्य, बुद्ध जरथुस्त्र, सुकरात, लावोत्से, कन्फ्यूशियस, ईसामसीह, मुहम्मद साहब आदि के द्वारा गुरु शिष्य परम्परा से, ज्ञान और धर्म का प्रचार होना प्रसिद्ध है। शिक्षक, मास्टर, प्रोफेट, आचार्य उपाध्याय, गुरु आदि नामों से जाने गए लोग कार्य की दृष्टि से समानधर्मा माने गए हैं किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर अन्तर मिलता है। चौरशास्त्र का प्रणेता कर्णीसुत भी विपुल और अचल का गुरु था। आजकल गुरु शब्द का प्रयोग पाखण्डी और धूर्त के अर्थ में भी होता है। गुरु-परम्परा में ज्ञान, धर्म, नीति ही नहीं, अज्ञान, अधर्म और अनीति का भी प्रचार देखा गया है। जहाँ मान्यता है कि-नास्ति तत्वं गुरोः परम-वहीं गुरु शब्द से ईश्वर से लेकर निशाचर तक का अर्थ निकालना अज्ञान मूलक ही लगता है। वास्तव में गुरू कौन है, उसकी आवश्यकता किसको है, वह कैसे प्राप्तव्य है, असद् गुरु से बचने के लिए क्या सावधानी चाहिए यह सब विषय ज्ञातव्य है।

व्युत्पत्ति के अनुसार गुरु शब्द का अर्थ है-अन्धकार का नाश करने वाला। प्रकृत में यही अर्थ अभीष्ट है। अन्धकार दुख का तथा प्रकाश सुख का प्रतीक है। संसार इसी दुख-सुख का प्रयोग क्षेत्र है। अज्ञानवश सुख को दुख एवं दुख को सुख समझते हुए सभी जीव क्लेशातुर हैं। जो प्रपंच में रहकर अपने को सुखी समझ रहे हैं, वे अधिक दयनीय हैं। इस अयथार्थ ज्ञान का कारण अविद्या है। ''अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषाम् कहते हुए महर्षि पतज्जलि ने स्पष्ट कर दिया है कि समस्त क्लेशों का कारण अविद्या ही है अतः अन्धकार को नष्ट करने का अर्थ है अविद्या की समाप्ति। जिस तत्व के द्वारा अविद्या का नाश होकर आत्यन्तिक सुख मिल सके वही 'गुरु' है। पातज्जल योग सूत्र में तीन सूत्रों-पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्, तस्य वाचकः प्रणवः, तज्जपस्तर्थ भावनम्ः **(1) 26, 27, 28)-**द्वारा गुरु और ईश्वर में तादात्म्य, उसका उद्बोधक शब्द ऊँ एवं उसकी प्राप्ति की विद्या का निरूपण है। ''भगति भगत भगवन्त् गुरु चतुरनामवपु एक'' कहते हुए उसी तथ्य को भाषा में समझाया गया है। इसी को सम्मक् समझ लेने पर गुरूतत्व एवं उसकी प्राप्ति का मार्ग स्पष्ट हो सकता है।

धर्म, अर्थ या काम पुरूषार्थों की प्राप्ति के लिए जो विद्या आवश्यक है उसे आचार्य उपाध्याय या शिक्षक कोटि के गुरु देते हैं किन्तु गुरु शब्द की पूर्ण सार्थकता मोक्ष दायिनी ब्रह्म-विद्या के दान से ही होती है। ऐसा गुरु स्वयं ईश्वर अथवा जीवन्मुक्त व्यक्ति ही हो सकता है। सामान्यतया किसी विषय का ज्ञान काराने वाला व्यक्ति गुरु कहा जाता है। वह विषय बन्धन कारक या मोक्ष दायक कुछ भी हो सकता है। गुरु शब्द का गौण अर्थ में ऐसा प्रयोग होता है। गौण अर्थ में प्रयोग का कारण यह है कि शिष्य के लिए जो ज्ञान प्रच्छन्न रहता है उसे गुरु प्रगट कर देता है। गुरु-सुर्श्रूषा, पुष्कलधन या विद्या के बदले विद्या प्राप्त करना तीन विधियाँ विद्या प्राप्ति के लिए बताई गई हैं। इनमें से गुरु-सुश्रूषा की प्रथम विधि से प्राप्त होने वाली ब्रह्म विद्या को दने वाला ही मुख्यार्थ में गुरू है। शिक्षा गुरु अर्थ एवं काम की साधना के लिए सक्षम बनाता है, दीक्षा-गुरु सम्प्रदायगत धर्म के पालन के द्वारा लोक-प्राप्ति का मार्ग बताता है किन्तु सद्गुरू विवेक ख्याति, धर्ममेघ समाधि, भूमा सुख, कैवल्य आदि नामों से अभिहित असांसारिक स्थिति को प्राप्त कराता है। शिक्षा एवं दीक्षा के लिए गुरु की खोज की जाती है किन्तु वास्तविक गुरु खोजा नहीं जाता है, वह स्वयं मिलता है।

आजकल शिक्षा एवं दीक्षा के गुरु ही गुरु (मुख्यार्थ) होने का दावा करने लगे हैं। कुछ चमत्कार दिखाने वाले प्रवंचक भगवान एवं जगद्‌गुरुओं की संख्या बहुत हो गई है। स्वयं असिद्ध होकर दूसरों को सिद्धि देने एवं स्वयं समस्या ग्रस्त होकर दूसरों को निर्भय करने के दावेदार लोगों से सावधान होना आवश्यक है। इसके लिए लोभ एवं अंधविश्वास का त्याग करना ही उपाय है। लोभी ही अंधविश्वास करके फंसता है। अतः इसी पर नियंत्रण करना पड़ेगा। पूर्ण परिश्रम से फल पाने का प्रयास करना चाहिए। थोड़ी लागत में नहीं। मिथ्याचारी से ही मिथ्याचारी की भेंट होती है। सत्य के सीधे मार्ग पर रहने वाले को वंचक गुरु नहीं मिलता है। अगर मिल भी गया तो भी सन्मार्ग पर स्थित साधक सात्विक श्रद्धा के बल पर सिद्धि पा लेता है। ऐसी स्थिति में गुरु गुड़ और चेला चीनी हो जाता है।

शिक्षा एवं दीक्षा के लिए अपनी रूचि, आवश्यकता एवं परम्परा के अनुसार गुरु ढूँढ़ा जाता है। इस तरह के गुरु की आवश्यकता सब को है और वह सुलभ होता है। आध्यात्मिक गुरु की आवश्यकता सबको नहीं है। वह सुलभ भी नहीं है। श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु दुर्लुभ है। जीवन्मुक्त व्यक्ति या स्वयं ईश्वर के द्वारा इस आवश्यकता की पूर्ति होती है। ऐसे गुरु की आवश्यकता पड़ने पर ढूंढ़ना नहीं पड़ता है। इसकी आवश्यकता के पहले वैराग्य के लक्षण प्रकट होते हैं तथा साधनचतुष्टय प्राप्त होता है। अन्तः करण की पवित्रता से शक्तिपात की पात्रता आ जाती है। अहंकार का विगलित होना, सुतवित लोक

तीनों इच्छाओं का अभाव एवं एकनिष्ठ श्रद्धा होने पर व्यक्ति आध्यात्मिक प्रसाद का अधिकारी होता है। पांचों इन्द्रियों के अधिष्ठान से उपरत होने पर नया अधिष्ठान पाने के लिए मन व्याकुलत होता है। उन्मन अधिकारी व्यक्ति को गुरु की आवश्यकता होती है। गुरु की आवश्यकता का अर्थ उसे खोजने की आतुरता नहीं है बल्कि उसके लिए पात्रता प्राप्त करना ही पर्याप्त है। आतुरता तो स्वयं गुरु को होती है। सत्पात्र में गुरुतत्व का प्रवेश स्वयं होता है। यही गुरु कृपा है।

बाह्य विषयों से उपरति होने पर समय से गुरु कृपा मिलती है। गुरु को स्वयं खोजने के लिए मनस्वी व्यक्ति विद्वद्दीक्षा लेता है। यह भी एक तरह से गुरु कृपा के लिए प्रतीक्षा ही है। इस दीक्षा को व्यक्ति स्वयं के संकल्प से लेता है। श्रद्धा एवं विश्वास के साथ ईश्वर को गुरु, मानकर उसी को सर्वस्व समर्पण करके, उसी के आदेशानुसार आचरण एवं चिन्तन, मनन करना सर्वजन सुलभ विद्वद्दीक्षा है। रमण महर्षि ने ऐसी दीक्षा ली थी। उन्हें साकार गुरु की आवश्यकता नहीं पड़ी और लाखों के गुरु हो गए। गुरु कृपा यथासमय हठात् मिलती है। गहनीनाथ ने निवृत्तिनाथ एवं ज्ञानदेव पर कृपा किया, गोविन्दपाद ने शंकराचार्य को कालटी से नर्वदा तट पर बुलाकर दीक्षा दिया, रामकृष्ण परमहंस ने विवेकानन्द को हठात् शिष्य बनाकर शक्तिपात किया। ऐसे उदाहरण अनेक हैं। गुरु को खोजकर पाने की इच्छा एक नए प्रकार का अहंकार है तथा शीघ्रता में स्वीकार करना अंधविश्वास है। विवेकानंद को इस अहंकार से भी रामकृष्ण ने मुक्ति दिलाई। चाहने पर भी, पवहारी बाबा जैसे सन्तों को विवेकानन्द गुरु नहीं बना सके। पात्रता के अनुसार गुरु स्वयं प्राप्त हो जाता है, मात्र चाहने से नहीं।

शिक्षा-दीक्षा के लिए जिन गुरूओं का वरण किया जाता है, वे भी आदरणीय होते हैं। उनकी सेवा श्रद्धापूर्वक करना धर्म है। अन्तर केवल इतना है कि इन गुरुओं का महत्व सीमित, देश काल से बाधित होता है। गुरु साक्षात् परब्रह्म की श्रेणी में वे नहीं आते हैं। जिस विद्या को पढ़ाने के लिए गुरु होता है, उसी विद्या के स्तर के अनुसार गुरु का महत्व होता है। उसी स्तर की मान्यता गुरु को देना धर्म एवं नीति के अनुरूप है। ब्रह्म विद्या का गुरु साक्षात् परब्रह्म है क्योंकि उससे बड़ी विद्या कोई नहीं है। यहाँ ब्रह्मविद्या के विषय में चर्चा करना यथास्थान नहीं है किन्तु इस प्रसंग में यह जानना आवश्यक है कि ब्रह्मविद्या क्या है? जानना इसलिए आवश्यक है कि इसी नाम से कितनी धूर्त विधाएँ भी प्रचलित हैं। उपनिषदों की कसौटी पर खरी उतरने पर ही ब्रह्मविद्या वास्तविक कही जाती है। संक्षेप में इसी मान्यता को याद रखने पर धूर्तों से बचा जा सकता है।

निष्कर्षतः गुरु तत्व ही ईश्वरत्व में परिणत होता है। इसकी प्राप्ति में जीवन की सार्थकता है। जीवन का लक्ष्य निर्धारित करने के पश्चात् तदनुसार गुरु की कामना होनी चाहिए। राजसी प्रवृत्ति होने पर, धन चाहने वाले को संन्यासी के पास जाना मिथ्याचार है। उच्च मूल्यों की प्राप्ति के लिए उच्चकोटि के गुरु करने पड़ते हैं। उच्चतर होने के क्रम में जीवन्मुक्ति जैसे उच्चतम मूल्य की प्राप्ति के लिए साक्षात् परब्रह्म ही गुरु होता है। ऐसे गुरु की प्राप्ति के लिए कहीं जाना नहीं पड़ता है। दीक्षा के लिए योग्यता, व गुरु कृपा के लिए पात्रता होने पर सशरीर व्यक्ति के रूप में अथवा परम गुरु के माध्यम से गुरु तत्व का प्रवेश हो जाता है। गुरु तत्व का ही महत्व है। इस तत्व की प्राप्ति होने पर, प्रपन्न शिष्य जीवन्मुक्तावस्था, ईश्वरत्व को प्राप्त कर लेता है। योग्यता एवं पात्रता की शिक्षा शास्त्रों से मिलती है। उसी का अभ्यास तथा दृढ़भूमि प्राप्त करने पर, सिद्धि होती है। वैराग्य, ज्ञान और परवैराग्य सभी गुरुतत्व में निहित है। सुष्ठूक्त है- नास्ति तत्वं गुरोः परम्।।

कर्मोपासनाज्ञानकाण्डाः

वेदस्तु एक एव अस्ति। महामतिः वेदव्यासः उपयोगितानुसारेण चतुर्धा विभज्य वेदान् सम्पादितवान्। ऋग्यजुःसामाथर्वणाः इति चत्वारः वेदाः। सर्वेषु वेदेषु विषयाः त्रिधा विभज्यन्ते। कर्मकाण्डः उपासनाकाण्डः ज्ञानकाण्डश्च इत्येवं विषयविभाजनम्। स्वभाव प्रभवैः गुणैः प्रेरितः जनः स्वानुरूपं काण्डम् उपासते। एक एव जनः वर्णाश्रमानुसारेण क्रमशः सर्वान् काण्डान् सेवते। ब्रह्मचर्यावत्थायां सम्पूर्णो वेदः अध्येतव्यः। वेदान् अधीत्य अध्ययनस्य प्रायोगिकं फलम् अवाप्तुं प्रयतेत। गृहस्थाश्रमे कर्मकाण्डस्य, वानप्रस्थे उपासनाकाण्डस्य एवं सन्यासाश्रमे ज्ञानकाण्डस्य सेवनं स्मपष्टम् अस्ति। एकस्मिन्नेव आश्रमे सर्वेषां काण्डानाम् उपादेयता सम्भवति किन्तु आश्रमानुसारेण निर्धारितः काण्डः मुख्यः भवति तद्भिन्नस्तु गौणो भवति। गौणोऽपि काण्डः अनुपेक्षणीयः भवति।

कर्मकाण्डः सर्वैः जनैः अवश्यं सेवनीयः। इज्याध्ययनादीनि अन्यानि च कर्माणि वर्णानुसारेण निर्धारितानि सन्ति। पञ्जमहायज्ञश्राद्धादि कर्माणि सर्वैः निरलसमुपसेवनीयानि। कर्मकाण्डेनैव तृभिः ऋणैः मुक्तिः सम्भवति मोक्षार्थ अधिकारित्वं च सञ्जायते। सुखस्य जीवितस्यापि हेतोः कर्मकाण्डः एव सहाय्यः। गृंहस्थानां कृते कर्मकाण्डस्यैवोपासना सर्वसिद्धिकरी भवति।

उपासनाकाण्डेन देवानां साहाय्यं मनोनिग्रहः ज्ञानमार्गे आरोढुं सामर्थ्यं च सम्भवति। एष एव ज्ञानमार्गे कर्ममार्गे वा साधयितुं साहाय्यं करोति। आशातीतं साफल्यम् उपासनात् भवति। उपासनाकाण्डः कर्मज्ञानमार्गयोः उपकारकः। ब्रह्मणः, देवानां गुरुणां वा मनसा वाचा कर्मणा कृता सेवा उपासना कथ्यते। ध्यानमपि उपासनाकाण्डे अस्ति। योगमार्गे कर्मोपासनाज्ञानकाण्डानां समवेतः उपयोगः भवति। उपासनाप्रधानः योगमार्गः अस्ति। उपासना ज्ञानमार्गे प्रवेशाय साधकतमा अस्ति 'भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते'।

ज्ञानकाण्डेनैव वेदाः स्वनामधन्याः सन्ति। वेदस्य चरमोपरब्धिः ज्ञानावाप्तिः अस्ति। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' मुक्तिः पुरुषार्थाणाम् अवधिः। ज्ञानकाण्डे प्रवेष्टुं कर्मोपासना काण्डयोः प्राक् साधना आवश्यकीया अस्ति। 'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मोक्षे बुद्धिं निवेशयेत्' इति मनोर्वचनम्। मोक्षार्थे ज्ञानकाण्डस्य सेवनं विधेयम्।

त्रयाणामपि कर्मभक्तिज्ञानमार्गाणां दर्शनाय कर्मोपासना ज्ञानकाण्डानां विभागाः वेदेषु सन्ति। सम्पूर्णं वाङ्मयम् एतेषु त्रिकाण्डेषु समाविष्टमस्ति। रुचीनां भेदात, सामर्थ्य भेदात् स्थान-कालभेदाद्वा सर्वे काण्डाः उपादेयाः सन्ति।

आश्रमव्यवस्थायाः योगदानम्

भारतीया संस्कृतिः जीवति गतप्राणा वा वर्तते? न जीवति न मृता इत्युत्तरम्। कथम्। अस्याः संस्कृतेः अनेकानि मूलानि सर्वासु दिक्षु प्रसृतानि सन्ति। सर्वाणि मूलानि निकृन्तने न कोऽपि देशः कालः वा सम्भवति। अतएव बद्धमूला इयं संस्कृतिः। आश्रम व्यवस्था अस्याः संस्कृतेः प्रमुखमूलम् अस्ति। सातु उत्सन्न –प्राया विद्यते। अतः मृतप्राया एषा संस्कृतिः। पुनर्जीवनस्य सम्भावना वर्तते एव। अतः न जीवति न मृता भारतीया संस्कृतिः इति मन्ये।

वयं चत्वारः पुरुषार्था इति मन्यामहे। धर्मार्थकाममोक्षाः ते। चतुर्णाम् पुरुषार्थानां प्राप्त्यर्थं चत्वारः आश्रमाः सन्ति। ब्रह्मचर्यगृहस्थवानप्रस्थसन्यासाः चत्वारः आश्रमाः। ब्रह्मशब्दः वेदवाचकः वीर्यरक्षणे वा योगरूढः। प्रथमाश्रमे वेदाध्ययनम्, ज्ञानार्जनम् वीर्यरक्षणं च भवति। ततः गृहस्थाश्रमे कर्मकाण्डे प्रवेशः, सन्तति – विस्तारः परोपकारः अतिथि-सेवादिधर्माणाम्, आचरणं च संभवति। वानप्रस्थे वैराग्योत्पत्तिः जायते, सन्यासे ज्ञानलामश्च भवति ततः मुक्तिः, अयम् अस्माकम् आदर्शः अस्ति-

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्।।

अधुना सर्वेआश्रमाः उत्सन्नप्रायाः सन्ति। प्रथमौ द्वौ आश्रमौ विकृतरूपौ किञ्चन वर्तेते। उत्तरौ द्वौ तु समाप्तप्रायौ स्तः। ज्ञानलाभे नास्ति पक्षपातः आरक्षणम् वा।। परीक्षितः जाबालः सत्यकामः सत्यवचसा ब्राह्मणः मतः। यमनियमादिकाः सामान्याः धर्माः प्रथमाश्रमे लब्धभूमयः स्युः। अधुना शिक्षाव्यवस्था दूषिता अस्ति। यादृशी शिक्षा तादृशी जीवनचर्या भवति। शिक्षादूषणात् आतिथ्य –वैराग्यज्ञानार्जनादिकानाम् उत्तराश्रमाणां धर्माणां लोपः संजातः। अधुना आवालवृद्धाः अर्थकामोपासकाः जाता। परिर्वतनम् अपेक्षितम् अस्ति। नो चेत् आतंकादिभिः मानवजातिः मात्स्यन्यायेन नष्टा भविष्यति।

शैशवे अधीतविद्यः आचारवान् स्नातकः अधुनाऽपि चतुर्णाम् आश्रमाणां सेवनं करोत्येव। ''कलौ पञ्चविवर्जयेत्'' वचनं न वर्जयति आसक्तिरहितं कर्म, ज्ञानलाभे कर्तव्यः आसक्तिविहीनः प्रयासः। सर्वेआश्रमाः अधुनाऽपि देशकालानुसारि – संशोधन-पूर्वकं सेवानीयाः सन्ति। बुद्धियुक्तः मनुष्यः जानाति-

कः कालः कानि मित्राणि को देशः कौ व्ययागमौ।
कस्याहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यो मुर्हुमुहुः।।

आश्रमव्यवस्थया जीवनस्य महार्हगुणानां प्राप्तिः भवतिं। मूल्यबोधः धर्ममोक्षयोरपि सेवनः, समाजे शान्तिव्यवस्था च सर्वम् आश्रमव्यवस्थायाः प्रभावेण सुलभम्।। आश्रमादाश्रमं गच्छन् इहलोके सुखम् अनुभवन् परलोकेऽपि महीयते जनः। भारतीयासंस्कृतेः रक्षणमभीष्टं चेत् तदा शिक्षाव्यवस्थायाः संशोधनम् आश्रमव्यवस्थायाः पुनः स्थापनम् अवश्यमेव कर्तव्यम्।

यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि

गीतायां दशमे अध्याये भगवता उक्तम्-'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'। यज्ञस्य माहात्म्यं तथापि जपस्य सर्वोपरिवैशिष्ट्यं कथं वर्तते इति विचारणीयमस्ति। यज्ञस्य प्रवर्तकः भगवान् विष्णुः, यज्ञो वै विष्णुः इति आमनन्ति वैदिकाः। यज्ञेन प्रसीदति विश्वात्मा। विष्णोः आराधनात् पितरः, देवा ऋषयश्च प्रसीदन्ति। अतएव पञ्चमहायज्ञाः तथा बहुविधाः वैदिकाः तान्त्रिकाः, पैराणिकाः यज्ञाः प्रवर्तिताः सन्ति। एकस्यामपि विद्यायाम् अनेकाः शाखाप्रशाखाश्च एवं असंख्येयाः यज्ञाः सन्ति। परं समानाः सर्वे यज्ञाः विश्वात्मनः प्रीत्यर्थत्वात्। यज् धातुः देवपूजने संगति करणे चास्ति। देवानां कृते अर्थत्यागः यज्ञः इत्थमपि मन्यते। यत्र कुत्रापि स्वत्वं वर्तते तत् देवान् प्रीणयितुं विष्णवे समर्पणं यज्ञः अस्ति। अतः हवनेन, दानेन, जपेन, तपसा, प्राणायामेन, स्वाध्यायेन, प्रवचेन वा वहुविधाः यज्ञाः सम्भवन्ति। वस्तुविधिभावनाभेदाच्च तामसाः राजसाः सात्विकाश्च यज्ञाः सम्भवन्ति। सात्विकेन यज्ञेन सुतरां प्रसीदति विश्वात्मा। देवाः अपि विश्वात्मानं प्रसीदयितुं यज्ञं कुर्वन्ति- 'यज्ञेन यज्ञमजन्त देवाः' (पुरूषसूक्ते)। प्रजाः यज्ञेन सह सृष्टाः सन्ति-'सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः' (गीता)। यज्ञः एव प्रजानां कृते कामधुगस्ति। अनेन यज्ञेन जनाः देवान् भावयन्ति प्रत्युपकारे ते देवाः जनान् भावयन्ति। यज्ञशिष्टाशिनः सर्वपापैः मुच्यन्ते। ये उदरपूरणाय पचन्ति ते अघं भुञ्जन्ते । एवं यज्ञस्य माहात्म्यम्।

यज्ञाः कर्मजाः सन्ति। 'सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' -इति प्रतिपादनेन भगवता आदिष्टमस्ति यत् ज्ञानप्राप्तिपर्यन्तं यज्ञस्य आवश्यकता। यज्ञेन ज्ञान प्राप्तिः (मोक्षः) सम्पद्यते इत्यपि अर्थः। एवं अभ्युदयनिः-श्रेयस् सिद्ध्यर्थे यज्ञः एव साधनमूतः। अतः परमपि अवर्णनीयं यज्ञस्य माहात्म्यम्। विश्वात्मनः स्वरूपाः एव यज्ञाः।

जपः अपि यज्ञस्य एका विधा अस्ति। स्फुटोपांश्वजपा भेदात् त्रिविधः जपः। एकतानतया मंत्राभ्यासः तदर्थभावनं जपः कथ्यते। अभ्यासेन मंत्रार्थः (मंत्राधीश्वरः परमात्मा) स्वरूपं प्रकटयति जपकर्तृषु। 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति'-इति वेदवचनाज्जपेन अमरत्वं मोक्षः ज्ञानप्राप्तिर्वा सम्भवति। एवं जपस्य माहात्म्यं सुविदितमस्ति।

बहुविधयषु जपयज्ञः विशिष्टः इति मतः भगवताः व्यासेस्य। अस्ति कारणम् अस्याः मान्यताया। प्रयोजनमनुद्दिश्य न किञ्चित् क्रियते। यज्ञस्य प्रयोजनं ज्ञानप्राप्तिः इति प्रतिपादितमस्ति। सा परमार्थसिद्धिः जपेन शीघ्रं

निरूपद्रवं च सम्पद्यते। द्रव्यमयान् यज्ञान् कर्तु न सर्वे क्षमाः। तत्रापि वस्तुविधिदोषात् सङ्कल्पभेदाच्च न्यूनताशङ्का वर्तते। जपयज्ञे न काचित् वाह्यावश्यकता। न स्युः धनानि हस्तपादौ एवं जिह्वापि तथापि मानसं जपं कर्तुं सर्वे समर्थाः सन्ति। भावनाशुद्धिपूर्वकः अभ्यासः एव जपे वाञ्छितोऽस्ति। एकाक्षरः द्व्यक्षरः एवं अनेके लघुदीर्घमंत्राः सन्ति। अतः मन्त्रस्मरणे नास्ति स्मृतिदोषस्याशङ्का अतएव निरूपद्रवं सेवनीयः जपयज्ञः। सर्वजनसुलभः अस्ति ईश्वरः। परमार्थसिद्धौनास्ति लौकिकी वाधा इतिजपयज्ञः स्थापयति। जपयज्ञः परमात्मनः विशिष्टस्वरूपः अस्ति। मृत्युकाले तु केवलं जपयज्ञं कर्तुं शक्यते। 'अन्तकाले तु मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम' इत गीता वचनेन अन्तिमः सर्वजनसेवनीयः जपयज्ञः संस्थापितोऽस्ति।

।।शम्।।

नास्ति तत्वं गुरोः परम

तत् शब्दः परमात्मनः ब्रह्मणो वा वाचकः। तस्य भावः तत्त्वम्। तत्त्वबोधेन ब्रह्मज्ञानं भवति। यस्मिन् ज्ञाते सर्व विज्ञातं भवति तदेव तत्त्वबोधकं तत्त्वम्। सृष्टि स्थितिविनाशस्वरूपा जगत्संसृतिः तत्त्वमूलेन प्रसरति। तत्त्वानि तु अनेकानि दृश्यन्ते। सर्वाणि तत्त्वानि ब्रह्मतत्त्वे समाहितानि। कानिचित् तत्त्वानि भूतानां निबन्धाय अपराणि तेषां विमुक्तये सन्ति। मुक्तिस्तु परमः पुरूषार्थः। तस्याधिगमे यानि तत्त्वानि विहितानि सन्ति तेषां मध्ये गुरूतत्त्वं श्रेष्ठतममस्ति इति अभिप्रेत-विषयः।

तत्त्वस्य आरोपणं गुरौ कृते गुरूतत्त्वं भवति। गुरूः एव तत्त्वम्। तत्त्वम् अदृश्य रूपो भवति। अदृश्यरूपेणापि गुरूणा याज्ञवल्क्यरमणादयः महर्षयः तत्त्वबोधं प्राप्नुवन्। अन्तःप्रेरणा रूपेण तस्य गुरोः उपस्थितिः सवैः अनुभूयते यथाकालम्। तदेवतत्त्वं शरीरिणमधिष्ठाय दृश्यजगति गुरूवत् प्रकटीकरोति आत्मानम्। दुर्लभः ज्ञानशरीरः गुरूः।

सुष्ठु नाभादासेनोक्तम्-भगति भगत भगवन्त-गूरू चतुरनाम बपु एक। गुरूरेव ईश्वरः, गुरोराराधनं ईश्वराराधनं भवति। गुरूभक्तिमात्रेणः असंख्येयाः परमार्थमधिगताः। गुरौ यादृशी भावना भवति तादृशी सिद्धिः भवति। श्रद्धानुरूपः गुरूः जनैः लभ्यते। सर्वस्व स्वरूपेण मते गुरौ सर्वस्वमधिगम्यते।

ज्ञाते गुरूमाहात्म्ये कथं सर्वे गुरूसेवातत्पराः न भवन्ति। कारणमत्र। गुरूमाहात्म्य विषयमर्थवाद-स्वरूपं गृह्यते बहुभिः। यस्य ईश्वरे परब्रह्मणि वा नास्ति विश्वासः सः गुरूमपि न जानाति, न विश्वसति। श्रद्धामयोऽयं पुरूषः यो चच्छ्रद्धः स एव सः, श्रद्धवाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः इत्यादि स्मृति-वचनात् श्रद्धा एव ज्ञानस्य गुरोरपि कारणं भवति। अतः परमश्रद्धया ज्ञानापेक्षया परमार्थं चिन्तनशीलस्य एव गुरूमाहात्म्यं विश्वसनीयं भवति। इत्थं चिन्तनशीलाय गुरूः स्वयमेव आगत्य सर्वविधसाहाय्यं ददाति। गुरोः अन्वेषणे न कर्तव्यः श्रमः। अपात्रेण फलाकांक्षिणा अन्वेषणपरेण तस्यानुरूपः असद्गुरूः लभ्यते। पात्रत्वेन सद्गुरूसमागमः भवति। सदाचारेण सश्रद्धया च पात्रतां गुरो कृपां च अधिगन्तुं यतेत्।

अशरीरी शरीरी वा उद्धारकं तत्वं गुरूरित्युच्यते। दक्षिणामूर्तिरूपिणं तं गुरुं प्राप्तुं कस्य नास्ति स्पृहा। एतदर्थ अनन्यश्रद्धया देवानुग्रहं कृपापात्रतां च अधिगन्तुं यत्नं कार्यम्। पात्रत्वे सति स्वयमेव प्रविश्यति तत्त्वस्वरूपो गुरूः इति श्रध्येयम्।

भारतीया संस्कृतिः

अधुना संस्कृतिशब्दः आङ्ल भाषायाः कल्चरशब्दस्य तदधिकं च अर्थभारं बहति। सम् पूर्वकं कृ धातौ भावे क्तिन् प्रत्यये कृते संस्कृतिशब्दः निष्पन्नः। एवमेव घत्र् प्रत्यये कृते संस्कारशब्दः भवति। संस्कारः (क्रियारूपः न तु वासनारूपः) वर्तमान कालापेक्षी भविष्यार्थे व्यक्तिविषयकः भवति। संस्कृतिः भूतकालापेक्षी वर्तमानार्थे समाजदेश-राष्ट्रविषयिणी इति रूढ़िः। संस्कृतिः संस्कारश्च मानवत्वं देवत्वं च विदधतः। अद्यतनीयः संस्कारः अनुकरणपरम्परया श्वः संस्कृतिरूपेण परिणमते। संस्कृत्यैव मानवानां समाजः अन्यथा प्रकृत्यैव समजः (प्रशूनां समूहः) जायते। अतएव संस्कृतेः मूलम् अवदानन्च द्वावपि ज्ञातव्यौ, रक्षणीयौ प्रापणीयौ च।

संस्कृतिः परम्परया, स्मृत्या, विद्वदाचारेण च प्रसरति। अस्मद्देशे वेदः एव संस्कृतेः मूलम्। बहूनि शास्त्राणि तस्य प्रकाशकानि सन्ति। वेदैः शास्त्रैश्च पूर्वकल्पोपार्जिता संस्कृतिः इह आनीता अस्ति। विद्वद्भिः सेविता सैव संस्कृतिः परिवर्धिता। धर्मस्वरूपेण सस्कृतिः एव दृष्यते। धर्मप्राणा एषा भारतीया संस्कृतिः। वेदाः धर्मार्था (लोकस्य धारणानुकूलज्ञानसम्प्रन्नाः) सन्ति। धर्मेणैव संस्कृतिः प्रादुर्भवति। संस्कृतेः अवदानमपि धर्मं एव भवति। इत्थं, मूलम् अवदानन्च द्वावपि धर्मेणैव मान्यौ।

संस्कृतेः रक्षार्थम् उपायापायौ परिचिन्तनीयौ। वेदशास्त्राण्येव संस्कृतेः परिचायकानि प्रवर्धकानि च। सर्वाणि शास्त्राणि संस्कृतभाषायां मूलरूपेण सुरक्षितानि सन्ति। अतः संस्कृतभाषा, तदुपरि वेदशास्त्राणां विदुषां सन्ततिः धर्मनिष्ठता चैतास्सर्वाः रक्षणीयाः। राजा एव धर्मस्य प्रवर्तकः भवति। स एव संस्कृतेः रक्षायां क्षमः। धर्मरक्षाब्रतेनैव शासकाः स्थायित्वं प्राप्नुवन्ति। धर्माविरूद्धः एव कामः लोके परिकीर्तितोऽस्ति। यदि कामस्याकांक्षा अस्ति तदा धर्मस्यापि आवश्यकता वर्तते यतः धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

संस्कारसम्पन्ना संस्कृतिः मलापनयनं, हीनांग पूरकत्वम् अतिशयाधानत्व च त्रयमपि साधयति। समाजे व्यवहारेण मलापनयनं संगठनेन हीनांगपूरण, ज्ञानेन अतिशयाधानं च संस्कृतिः विदधाति। अस्मिन् समये या सामाजिकी विभीषिका अस्ति न सा संस्कृतेः (भारतीयायाः) न्यूनत्वेन। पाश्चात्त्या संस्कृतिः अस्मद्देशे अननुकूला अस्ति। तस्याः एव प्रलोभने पतिताः वयं सीदामः। पुनरूद्धारिता अस्मत्संस्कृतिः एव त्रातुं क्षमा। संस्कृतेः अवदानात् भारतः

जगद्गुरूः आसीत् कदाचित्। संस्कृतेः विस्मरणेन शिष्यत्वमपि भारतीयं न कोऽपि दातुं इच्छते। अविश्वसनीयाः वयं संजाताः। संस्कृतेः दौर्बल्येन पाश्चात्त्याः सेमेटिक धर्माश्रिताश्च निस्सहायाः मृत्युमुखं पतनोन्मुखाः सन्ति। वयं न निराश्रयाः। अस्मत्संस्कृतिः त्रातुम् अधुनाऽपि समर्थास्ति। अपरान्नपि त्रातुं, जगद्गुरूःप्रतिष्ठां प्रापणे वयं समर्थाः भवेम।

चरित्रमेव सर्वोपलब्धेः मूलम्। शास्त्रैः वृद्धानुकरणेन च चरित्रलाभः भवति। चरित्रलाभे आत्मोन्नतिः अवश्यम्भाविनी अस्ति। तदैव समाजसेवार्थं पात्रता लभ्यते। अधुना समाजस्य देशस्य वा महती सेवा संस्कृतेः रक्षणम् अस्ति। सुरक्षिते मूले शाखापत्रफलानि सम्भविश्यन्त्येव। दीर्घकालपरीक्षिता एषा संस्कृतिः सर्वथैव रक्षणीया अस्ति। अस्याः अवदानं स्पृहणीयम् अस्ति। नो चेत् छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्। परिरक्षिता भारतीया संस्कृतिः स्वदेशं जगद्गुरूत्वं प्रापयितुं सुखसमृद्धिं प्रदातुं, विश्वकल्याणं च परिपोषयितुं सम्भविष्यति इति सर्वेषां विश्वासः।

धर्मोरक्षतिरक्षितः

'धारणाद्धर्म इत्याहुः', 'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः', यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः', 'वेदप्रतिपादितं कर्मजातं धर्मः', इत्यादि अनेकधा परिभाषितोऽस्ति धर्मः। मनुस्मृतौ-

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।।

इत्थं दशविधानि लक्ष्णानि परिगणितानि सन्ति। 'वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः'- एवं धर्मस्य प्राप्त्यास्पदानि निश्चितानि सन्ति। राज्ञां प्रजानां वा, व्यष्टिगतः समष्टिगतः वा सार्वभौमः देशीयः वा, सार्वकालिकापद्धर्मों वेत्येतेसर्वे सम्यक् व्याख्याताः सन्ति। इत्थं सर्वविधप्रतिपादितविषयः धर्मः कथं अधुना न प्रभवति रक्षार्थम् अस्मान् इति विचरणीयः अस्ति।

पञ्चभूतानां शाश्वतिकाः धर्माः भवन्ति। पशुपक्षिणां स्वभावजाः धर्माः भवन्ति। मनुष्याणां धर्माः गूढाः सन्ति। शास्त्रम् एवं धर्मस्य प्रमाणम्। मंत्रद्रष्टारः ऋषयः, शास्त्रकर्तारः विद्वांसः एव सरहस्यं धर्मं जानन्ति। अन्ये तु श्रद्धाविश्वासोपायेन प्राप्नुवन्ति धर्मस्य स्वरूपं फलं च। धर्मः एव जनस्य स्वरूपः। 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः'। इत्थंभूते धर्मे रक्षिते धर्मी अपि रक्षितः नष्टे धर्मे नास्ति धर्मी। अतएव स्वधर्मपालने तत्परः स्यात् कल्याणकामी।

धर्मस्य रक्षार्थे स्वधर्मपालनं नालम्। भूतधर्माः पशुपक्षिधर्माः देशकालधर्माः स्वेतरैः सम्प्रदायैः उपास्याः धर्माः अपि रक्षणीयाः सन्ति। भगवता या सृष्टिः कृतास्ति तस्यां नाना स्वभावोपपन्नाः जनाः सन्ति। सर्वेषां धर्मः एकविधः भवितुं न सम्भवति। अतः स्वधर्मरक्षणार्थं यत्पर्याप्तं तदेव कर्तव्यम्। स्वधर्मरक्षणार्थं परधर्मनाशः न चिन्तयेत्। नास्ति कोऽपि सर्वथा परः। परधर्मोऽपि रक्षणीयः। कोऽपि धर्मः हिंसाऽसत्यादीन् दुर्गुणान् मनुष्याणां कृते न स्थापयति। यदि केनचित् परधर्मेण स्वधर्मनाशं लक्ष्यते तदैव तस्य प्रतिकारः कर्तव्यः यतः धर्मव्याजेनैव अधर्मोऽपि प्रसरति। अधर्मस्यैव प्रतिकारं कुर्यात् न तु परधर्मस्य। परधर्मस्यापि रक्षा तथैव विदधेत् यथा स्वस्य। तदैव विश्वं भ्वत्येकनीडम्। रक्षिताः धर्माः अस्मान् सर्वान् रक्षन्ति। धर्मे विकृतिः विनाशस्य कारणं भवति। स्वधर्मरक्षार्थ तस्मिन् विकाराः न भवेयुः इत्यपि चिन्तनीयम्। इत्थं धर्मस्य रक्षा भवति।

धृतिः एव धर्मस्य प्रथमं लक्षणमस्ति। अन्यानि नवविधलक्षणानि तदाधारितानि सन्ति। सर्वास्ववस्थासु धृतेः स्मरणं धर्मस्य आवाहनमस्ति। धृत्यैव स्वधर्मस्य चिन्तनं, परिवर्धनं तथा परधर्मस्यापि रक्षणं सम्भवति। धर्म एव सुहृद्वत् रक्षणार्थं शत्रुवत् विनाशाय च प्रभवति। अतएव सर्वदा अनुकूलता सिद्ध्यर्थम् आदरभावः प्रतिकूलतानिवारणार्थ भयभावश्च धर्मे कर्तव्यः।

ज़ीवन – पथ

पथ नहीं खतम होने का चाहे जितना मैं चल लूँ,
गति में वह धर्म कहां है व्यापक अपने को कर लूँ।
स्थिति में है मृत्यु भयंकर यह चलने की मजबूरी,
दिन-दिन चलता जाता हूँ बढ़ती ही जाती दूरी।
जीवन को छोटा करना हैनहीं किसी को भाता,
अज्ञान हाथ आता है कुछ काम नहीं बन पाता।
पथ को ही छोटा करना है नहीं अभी हो पाया,
पर होता है मग छोटा यह तत्व वेद ने गाया।
वैराग्य मार्ग को कम करता अभ्यास बढ़ाता जीवन को,
इससे संचय शक्ती का शमदम मिलता अपने को।
निःशक्त नहीं कुछ कर पाता उसका प्रपंच बढ़ता है,
ज्ञानी सशक्त होता है उसका अध्वा घटता है।
यह बात जानकर मन में जीने की इच्छा बढ़ती,
शिव की भी कृपा मिलेगी तब बात सभी है बनती।
शिवशक्ती की सेवा करना अपने को अमर बनाना,
हो आप्तकाम जगती में पथ सभी पार कर जाना।
इसके कारण ही जग में जिसको जीना आता है,
वह सत्व गुणों में रहकर सबको कुछ दे जाता है।

।।ॐ तत्सत्।।